A HISTORICAL STUDY OF DEVI PURANA WITH SPECIAL REFERENCE TO SAKTI CULT

के परिप्रेक्ष्य में देवीपुराण का एक ऐतिहासिक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के डी.फिल्

उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक

प्रोफेसर एस. एन. राय

पूर्वतन आचार्य एवं अध्यक्ष

प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग

प्रस्तुतकर्त्ता

सर्वज्ञ राम मिश्र

प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

1999

A Historical Study of Devi Puran with special reference to Sakti Cult.

शाक्तमत के परिप्रेक्ष्य में देवीपुराण का एक ऐतिहासिक अध्ययन

प्रथम अध्याय : भूमिका : 1. विभिन्न आगमिक तथा तान्त्रिक सम्प्रदायों का सामान्य परिचय

(क) आगम-तंत्र का सामान्य परिचय

(ख) वैष्णव तन्त्रागम -

a. वैखानस तन्त्र

b. पाञ्चरात्र तन्त्र

2. शैव तन्त्र

a. पाशुपत सम्प्रदाय

b. शैव सिद्धान्त

c. वीर शैव सिद्धान्त

d. प्रत्यभिज्ञा दर्शन

3. गणपति सम्प्रदाय

4. शाक्त तन्त्र

द्वितीय अध्याय : इतिहास, पुराण, आख्यान, गाथा तथा नाराशंसी आदि का सामान्य परिचय

तृतीय अध्याय : शक्ति की अवधारणा का इतिहास

चतुर्थ अध्याय : पुराण साहित्य तथा देवीपुराण का रचना काल एवं संक्षिप्त परिचय

क. देवीपुराण का काल तथा स्थल

ख. देवीपुराण का संक्षिप्त परिचय

पंचम अध्याय : 1. देवीपुराणः विषय सामग्री

क. वर्णाश्रम

ख. नारी निरूपण

ग. आयुर्वेद

घ. दान परम्परा

2. व्रत - उपवास

3. (क) तीर्थ निरूपण

(ख) ज्योतिष शास्त्र

(ग) उत्सव एवं कलाएं

4. धर्म - दर्शन

5. राजनैतिक व्यवस्था

षष्ठ अध्याय : उपसंहार

परिशिष्ट : सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

प्राक्कथन

इतिहास सदा ही मेरे लिए रुचिकर विषय रहा है। अतीत का सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण एवं परिशीलन अपनी प्राचीन प्रिय प्रवृत्ति रही है। पुराण साहित्य के इतिहास का अनुशीलन देश की गौरवमयी प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति का परिशीलन है। इस दृष्टि से पुराण साहित्य भारत के गौरवशाली अतीत का दप्रण है। भारत के अतीत का जैसा सांगोपांग चित्रण पुराणों में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। भारत के भव्य भविष्य के लिए प्रमाणिक पुराण साहित्य का अध्ययन नितान्त अपेक्षित है। यथार्थ अतीत के अभाव में भविष्य की सुदृढ़, सुघटित एवं सुन्दर आधारशिला ही नहीं रखी जा सकती। फलतः पुराण-साहित्य के इतिहास के अध्ययन की ओर प्रवृत्ति हुई। आधुनिक युग में पुराण साहित्य के अनुशीलन की ओर पाश्चात्य विद्वानों तथा आधुनिक भारतीय विद्वानों का ध्यान गया, किन्तु 'हिस्ट्री' की पाश्चात्य अवधारणा बलवती होने के कारण 'पुराणों' का सम्यक् मूल्यांकन संभव नहीं हो सका। काल की ऋजु रैखिक अपरावर्त्य मननशीलता का सतत् तथा प्रगतिशील अवधारणा को पुराणों पर लागू करना न्याय संगत नहीं है। पुराण लेखन के मूल में चक्रात्मक एवं शंखवलायात्मक काल की अवधारणा का प्राधान्य है। फिर भी आधुनिक इतिहास की दृष्टि से पुराणों का अध्ययन उपादेय हो सकता है। पुराण प्राचीन इतिहास की पुनर्रचना के लिए अक्षय स्रोत है।

इन्ही कारणों से एम.ए. परीक्षा पास करने के पश्चात् पौराणिक साहित्य के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुआ। मेरी जन्मभूमि भगवती विंध्यवासिनी के निकट रहने और भगवती भक्त होने के नाते मेरी यह प्रबल धारणा था कि मैं शक्ति से सम्बन्धित विषयों की जानकारी प्राप्त करूँ। फलतः मैंने प्रो0 सिद्धेश्वरी नारायण राय, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग से विचार विमर्श किया। उन्होंने बड़े ही मनोयोग से मुझे प्रमुखतम एवं प्राचीन शाक्त उपपुराण 'देवीपुराण' पर शोध करने हेतु प्रोत्साहित किया। मेरे शोध का विषय 'शाक्तमत के परिप्रेक्ष्य में देवीपुराण का एक ऐतिहासिक अध्ययन' निर्धारित किया गया जिस पर मैं अन्वेषण तथा शोध कार्य करने लगा। इसी का प्रतिफल प्रस्तुत शोध प्रबन्ध है।

सर्वप्रथम सम्मान्य गुरुवर्य प्रो० एस० एन० राय के प्रति आभार व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं, जिनके माध्यम से भावाभिव्यक्ति की जा सके। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि इस शोध प्रबन्ध में जो कुछ नवीन तथा निर्दोष है यह उनकी सहज प्रज्ञा का अवदान है। इस क्रम में अहैतुकी कृपा के लिए प्रो० वी० एन० एस० यादव तथा प्रो० यू० एन० राय का मेरे ऊपर अनल्प आभार है जिनके सतत् प्रयास व प्रेरण से अल्प समय में सारस्वत शोध यात्रा पूरी हो सकी है। सम्मान्य विभागाध्यक्ष प्रो0 विद्याधर मिश्र ने समय-समय पर अपना वैदुष्य पूर्ण व स्नेह संवलित सुझाव प्रदान करते रहे। इनका मेरे ऊपर अपार ऋण है। विभागीय समस्त गुरुजनों का भी आभारी हूँ जिनका सदा सहयोग प्राप्त होता रहा।

इस क्रम में काशी प्रवास के दौरान हिन्दी साहित्य मूर्धन्य मनीषी पद्मभूषण आचार्य विद्यानिवास मिश्र जिन्होंने मुझे विद्या विषयक दृष्टि दी, उनकी सदाशयता अभिनन्दनीय है। विद्याव्यसनी डॉ० रामनिवास तिवारी के सौजन्य से मुझे जो कुछ प्राप्त हुआ उसका मूल्य आभार प्रदर्शन के कोरे शब्दों से नहीं चुकाया जा सकता। इन विद्वदजनों ने मेरी अन्तर्निहित ज्ञान-पिपासा को पहचान कर प्रोत्साहित न किया होता तो यह यात्रा अधूरी ही रह जाती। मैं अपने सुहृद् डॉ० शीतला प्रसाद पाण्डेय को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अनेक सुझाव दिया। श्री अजेय सिंह ने पुस्तक उपलब्ध कराकर मेरी सहायता की अतएव मैं उन्हे धन्यवाद देता हूँ। श्री पलाश त्रिपाठी एवं सुश्री सुमन तिवारी निरन्तर उत्साह वर्द्धन किया, भगवती इन दोनों का परम मंगल करें।

शोध प्रबन्ध जीवन की महान उपलब्धि है। इस महान उपलब्धि के प्रणयन में परोक्ष अपरोक्ष जिन महापुरूषों व स्नेहीजनों का सहयोग प्राप्त हुआ उनके पुण्य स्मरण के अभाव में इस उपलब्धि की पूर्णता नहीं मानी जा सकती। इस क्रम में सर्वप्रथम पूज्य पितामह वैकुण्ठवासी पं० राम चन्द्र मिश्र तथा पूज्य पितृव्य गोलोकवासी डॉ० जयराम मिश्र के श्री चरणों में यह शोध-प्रबन्ध श्रद्धा सुमन के रूप में समर्पित है।

इस अवसर पर पूज्य पितृचरण पं० श्री बलराम मिश्र तथा श्रद्धेया माँ श्रीमती गायत्री देवी, पूज्य पितृव्य पं० श्री परमात्मा राम मिश्र, पं० श्री भृगुराम मिश्र व शिव सायुज्ज राघवराम मिश्र एवं पं० जीवन राम मिश्र के आशीर्वचनों को मैं कैसे विस्मृत कर सकता हूँ। आज मैं जो कुछ हूँ

इनके आशीर्वचनों का ही प्रतिफल है। वे अपनी सुख-सुविधा की चिन्ता छोड़कर अनुकूल व्यवस्था के लिए सदैव सजग न होते तो मैं इस गन्तव्य तक नहीं पहुँच पाता। मैं इन सबके चरणारविन्द में नतमस्तक हूँ।

इस शोध प्रबन्ध के प्रणयन में जिन परिजनों से प्रेरणा प्राप्त हुई उनमें डॉ० विभुराम मिश्र, श्री अच्युत राम मिश्र, डॉ० प्रबुद्धराम मिश्र, श्री प्रज्ञानराम मिश्र, श्री अव्यक्तराम मिश्र, श्री विज्ञानराम मिश्र, श्री अखिलेश्वर राम मिश्र, श्री कैवल्य राम मिश्र, श्री सर्वेश्वर राम मिश्र, श्री विशुद्ध राम मिश्र, श्री अनिरूद्ध राम मिश्र एवं श्री कौशलेन्द्र राम मिश्र न केवल प्रेरणा दी बल्कि यथोचित सहयोग भी दिया। एतदर्थ मैं इनका चिर कृतज्ञ रहूँगा। इस क्रम में अनुज कल्प श्री योगेश्वर राम मिश्र, श्री ज्ञानेन्द्र राम मिश्र तथा श्री मावेन्द्र राम मिश्र के स्नेहिल सहयोग को भला कैसे विस्मृत कर सकता। अग्रज होने नाते अपने आशीष राशि से अभिषिक्त करते हुए इन सबके अभ्युदय की कामना करता हूँ।

अन्त में जीवनसंगिनी श्रीमती राजलक्ष्मी को धन्यवाद देना तो अपने आपको धन्यवाद देना है। लेकिन सारस्वत यज्ञ की पूर्णता के लिए उसको धन्यवाद देना आवश्यक है। इसके लिए उसे कोटिशः हार्दिक धन्यवाद। वस्तुतः अध्ययन के प्रति मेरी सक्रियता को देखकर दो आबोध शिशुओं की स्वयं चिन्ता करते हुए श्रीमती राजलक्ष्मी ने मुझे गार्हस्थ्य दायित्वों से मुक्त न कर दिया होता तो किसी मूल्य पर शोध पूर्णता की शिखर पर नहीं पहुँचता।

केन्द्रीय ग्रन्थागार, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, अमेरिकन लाइब्रेरी, रामनगर, वाराणसी तथा विभागीय पुस्तकालय, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय से पुस्तकें प्राप्त करने में अत्यन्त सुविधा हुई, जिससे मैं इस शोध-सामग्री को जुटा सका, अतः इन पुस्तकालयाध्यक्षों के प्रति अपना आदर तथा कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। मैं अरुण और अमिताभ का आभारी हूँ जिन्होंने सिने इलेक्ट्रानिक एण्ड ग्राफिक्स के माध्यम से मेरे शोध-प्रबन्ध को प्रस्तुत रूप देने का सम्पूर्ण कार्य किया।

भूल होना मानव की स्वाभाविक प्रकृति है अन्यथा वह देवता हो जाय। इस शोध-प्रबन्ध में जो कुछ भी है, वह सभी गुरुजनों के आशीर्वाद का फल है। उसमें मेरा कुछ भी नहीं है। मैंने पूरे मनोयोग तथा निष्ठा के साथ यह कार्य सम्पादित किया है। किन्तु टाइप की तकनीक तथा अनवधानतावश इसमें अनेक त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है। आशा है, विद्वद्जन इसे ग्रहण करेंगे। इस शोध-प्रबन्ध की सफलता उन्हीं की संतुष्टि पर निर्भर है -

'आपरितोषाद्विदुषां न साधुमन्ये प्रयोग विज्ञानम्'

विनत

सर्वज्ञ राम मिश्र

(सर्वज्ञ राम मिश्र)

प्रथम अध्याय

विभिन्न आगमिक तथा तान्त्रिक सम्प्रदायों का परिचय

आगम-तन्त्र का सामान्य परिचय

भारतीय संस्कृति निगमागम मूलक है। इस संस्कृति का आधार जिस तरह निगम है। उसी तरह आगम भी।[1] अनादि सम्प्रदाय-सिद्ध गुरु-शिष्य परम्परा-क्रमागत शास्त्र-सन्दर्भ 'आगम' शब्द से अभिन्हित होता है।[2] पदवाक्य-प्रमाणज्ञ भगवान भर्त्तृहरि ने महाभाष्य पस्पशाहिन्क में निद्रिष्ट 'आगमः खल्वपि' इस प्रतीक की व्याख्या करते हुए उस आगम को श्रुतिलक्षण तथा स्मृतिलक्षण होना कहा गया है।[3] वाचस्पतिमिश्र के मतानुसार 'आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्मात् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः सः आगमः' अर्थात् जिससे अभ्युदय (लौकिक कल्याण) तथा निःश्रेयस (मोक्ष) के उपाय बुद्धि में आते है, उसे आगम कहते हैं।[4] निष्कर्ष रुप में अभ्युदय तथा निःश्रेयस के उपायों का प्रतिपादकशास्त्र आगम शास्त्र है।

देवसूरि ने अपने प्रामाणनयतत्वालोकालंकार में आगम की परिभाषा देते हुए बताया है कि आप्त वचनात् आविर्भूतमर्थविशेष

---

[1] भारतीय दर्शन, पं0 बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ 432, 1984 संस्करण।

[2] लक्ष्मीतंत्र, उयोद्घात, पृष्ठ 1।

[3] पारम्पर्येणाविच्छिन्न उपदेशः आगमः श्रुतिलक्षणः स्मृतिलक्षणश्च सः। महाभाष्य-त्रिपदी टीका, 1/1/1, पृष्ठ 10 (बी.एच.यू. वाराणसी संस्करण 1965)
सं. श्री वी स्वामीनाथन्।

[4] योगभाष्य (तत्ववैशारदी व्याख्या), 1.7।

संवेदनमागमः ।[1] अर्थात् किसी आप्त पुरुष का अभिप्राय है स्वदृष्ट ज्ञान का उपदेशक क्योंकि 'सांख्यसप्तति' की जयमंगला व्याख्या में यह कहा गया है कि रागद्वेष से रहित अपने कर्म में लगा हुआ अजातशत्रु तथा सज्जनों द्वारा पूजित व्यक्ति को ही आप्त कहते हैं ।[2] इसमें स्वकर्मणाभियुक्ताः शब्द महायान बौद्ध के 'महायानार्थकोविद' विशेषणधारी कल्याणमित्र की भांति है। देवसूरि ने आप्ति का अर्थ दोषक्षय बताया है। चरकसंहिता में कहा गया है कि जिनका सर्वविषयों में तर्क्ररहितनिश्चयात्मक ज्ञान रहता है, जो त्रिकालदर्शी है, जिनकी स्मरण शक्ति कदापि नष्ट नहीं होती, जो रागद्वेष के वश में नहीं होते और जो पक्षपात शून्य हैं वे आप्त हैं ।[3]

पाद्‌मसंहिता में आगम को सात लक्षणों से युक्त माना गया है ।[4] धर्म एवं आध्यात्मिक ज्ञान का दावा होता है कि वह अनादि अथवा ईश्वर से समुद्‌भूत है। भारतीय परम्परा में भगवान शंकर को समस्त विद्याओं का मूल स्रोत माना जाता है। अस्तु आगम को अपनी

---

[1] प्रमाणनयतत्वालोकालंकार - 4/1 ।

[2] स्वकर्मणाभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः । निर्वैरः पूजितः सभ्दिः आप्तोज्ञेयः स तादृशः ।।
सांख्यसप्तति की जयमंगलाटीका ।।

[3] तत्रप्तोपदेशोनाम आप्तवचनम् । आप्ता ह्यवितर्कस्मृतिविभागविदो निष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च । तेषामेवंगुणयोगाद् यद्ववचन तत् प्रमाणम् । आप्रामाणं पुनप्रतोन्मतमूर्खरक्त - दुष्टादुष्टवचनमिति' । चरकसंहिता, विमानस्थान 4/4 ।

[4] सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम् ।
साधनं चैव सर्वेषां पुराश्चरण मेव च ।।
षट्कर्म-साधनञ्चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः ।।
सप्तभिर्लक्षणैयुक्तमागमं तद् विदुर्बुधाः ।। पाद्‌मसंहिता

त्रैकालिक सत्यता प्रतिपादित करने के लिए भगवान् के मुख से निःसृत माना जाता है।[1]

आगम का अर्थ 'परम' ज्ञान भी होता है।[2] अपने स्वरुप का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है उस ज्ञान को भी आगम कहते हैं। स्वरुप का अभिप्राय है, पारमेशस्वरुप से अभेद विमर्शन।[3] स्वरुप ज्ञान का अभिप्राय है, 'शिवोऽहं' की भावना। स्वच्छन्दतंत्र में लिखा है कि प्रत्यक्ष, अनुमान अनुभव तथा अर्थि-प्रत्यर्थि भाव से प्रवर्तित ज्ञान ही आगम है।[4] अर्थि-प्रत्यर्थि का अभिप्राय है- प्रष्टा तथा वक्ता। दोनों में अनुग्राह्य अनुग्राहक भाव है। सभी शास्त्र शब्दात्मक है क्योंकि विश्व में कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है जो शब्दात्मक न हो। हाँ, यह निश्चित है कि सभी अनुभवात्मक ज्ञान शब्द-रुप में अभिव्यक्त नहीं होते। शब्द को 'हंस' कहा जाता है।[5] हंस का अभिप्राय है उच्चार।[6] इसमें 'ह' का अर्थ प्राण है जो स्वयं प्रवृत होता है।[7] अभिप्राय यह है कि इस अनुभूत ज्ञान का न कोई उच्चारक है और न कोई प्रतिहन्ता।[8]

---

[1] आगतं शिववक्त्रेभ्यो, गिरिजानने।
मतं च वासुदेवस्य, तस्मादागम उच्यते।। रुद्यामल तन्त्र।

[2] 'आगमोज्ञान मित्युक्तम्' आगमरहस्य उद्धत त्रिपुरार्णण तंत्र भूमिका, पृ. 4। तत्रैव

[3] आसमन्तात् गमयति अभेदेन विमृशति पारमेंश स्वरूपोमेति आगमः पृ. 4। तत्रैव

[4] गृह्यते ह्यनुमानेन प्रत्यक्षानुभवेन च।
अर्थि-प्रयर्थिभावेन आगमेन तु लभ्यते।। स्वच्छन्द तंत्र

[5] शास्त्रंशब्दात्मकं सर्वं शब्दो हंसः प्रकीर्तित। तत्रैव

[6] हंसोच्चारस्तथोच्यते। तत्रैव

[7] "हकारस्तु स्मृतः प्राणः स्वप्रवृत्तौ हलाकृतिः"। तत्रैव

[8] नास्योच्चारयिता कश्चित् प्रतिहन्ता न विघते।
स्वयमुच्चरते हंसः प्राणिनामुरसंस्थितः।। स्वच्छन्दतंत्र-7/59

इस प्रकार आगम वह ज्ञान है जो आत्मदर्शन की ओर प्रेरित करता है। और अन्ततः आत्मविमर्शनरुप है। एच. वी. ग्लासेम्पा का यह मानना है कि संसार के सभी दृश्य पदार्थ तथा उनका स्वरुप एक पूर्णता है। इसका छोटा से छोटा अंश भी बड़े से बड़े भाग को प्रभावित करता है क्योंकि एक रहस्यमय सूत्र से संग्रथित है, विश्व की नित्यसत्ता इससे कभी अलग नहीं होती। तान्त्रिक दर्शन का यही मूलाधार है।[1] इससे भी यही अभिप्राय निकलता है कि विश्वात्मक सत्ता के साथ जीवात्मकता अभेद ज्ञान ही आगमिक या तांत्रिक ज्ञान है।

आगम का एक दूसरा पक्ष प्रचलित भाषा में 'तंत्र' कहा जाता है। आगम की भाँति तंत्रशास्त्र का मूल ऐतिह्यात्मक है। निरुक्तकार तो उसे इतिहास ही मानते हैं।[2] सामान्य व्यक्ति तन्त्र शब्द से जादू, टोना, अभिचार आदि समझता है। इसका प्रधान कारण यह है कि तंत्र की पारिभाषिक शब्दावली के ज्ञान का अभाव एवं उसमें प्रवेश करने की क्षमता के अभाव ने इस प्रकार की भ्रान्तियां पैदा कर दी हैं। अगेहानन्द भारती आदि विद्वानों के अनुसार पारिभाषिक शब्दावली का अभाव या यों कहिये कि इस प्रकार के शब्दों का परिज्ञान न होना, जो तंत्र के

---

[1] "The notion that the whole universe with the totality of tis pehnomena forms one sigle whole, in which even the smallest element has an effect upon the largest, because secret thread connect the smallest item with the internal ground of the world. This is the proper foundation of all tantric philosophy."
H.V. Glasemppa. Tantrismus and Schaktimus ostasiatische Zeitschrist. Vl 22, P.120, 1936 Bertin.

[2] "तंत्रैतिहासमाचक्षते"- निरुक्त 2/5/24/2 ।

वास्तविक अर्थ को अभिव्यक्त कर सके,[1] यह भी भ्रान्ति का एक कारण हैं। तंत्र शब्द 'तन्' विस्तारे धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ होता है कि किसी मूल वस्तु का अत्यधिक विस्तार करना। वाचस्पति मिश्र, आनन्दगिरि, गोविन्दानन्द ने इस शब्द की निष्पत्ति 'तंत्र' या 'तन्त्रि' धातु से माना है जिसका अर्थ व्युत्पादन अर्थात् ज्ञान का मूल स्रोत।[2] यहां तक कि 'ईशान शिव गुरुदेवपद्धति' में भी तंत्र की निष्पत्ति 'तंत्रृ' धातु से ही माना है।[3] अजितागम में तत्व तथा मंत्र के विस्तार बताने वाले ज्ञान को तन्त्र माना गया है।[4] विष्णुसंहिता में तंत्र का अर्थ भय से रक्षा करना है।[5] तंत्र का उद्देश्य साधक की सर्वदा रक्षा करना है इस बात का उल्लेख नेपाल के दरबार पुस्तकालय में प्राप्त 'पिंगलमूत' में किया गया है।[6] सामान्य रुप से तंत्र शब्द का प्रयोग उन प्रत्येक दार्शनिक तथा वैज्ञानिक निबन्धों के लिए तथा जिनमें किसी विषय का वर्णनक्रमबद्ध पूर्वक तथा विस्तार पूर्वक किया गया है। महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री इस शब्द का अर्थ संक्षिप्त करना मानते हैं जिसका अभिप्राय है मंत्र या किसी सिद्धान्त को बीजगणितीय सूत्र की तरह से उपनिबद्ध करना जिससे अत्यन्त विस्तृत अर्थ भी संक्षिप्त रुप में अधिगत

---

[1] दी तान्त्रिक ट्रेडीशनः अगेहानन्द भारती, पृ. 13

[2] श्री आशुतोष मुखर्जी सिल्वर जुबली, वा.2, भाग1, पृ. 253, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता।

[3] ईशानगुरुदेवपद्धति, भाग-3 पृ. 28।

[4] अजितागम, क्रियापाद, पटल1, श्लोक 115।

[5] विष्णुसंहिता-11/10, टी. गणपतिशास्त्री, त्रिवेन्द्रम, 1926।

[6] तन्युते त्रायते नित्यं तंत्रमित्थं विदुर्बुधाः। पिंगलामत

हो जाय।[1] डा. एस. एन. दास गुप्ता ने यह माना है कि तंत्र साहित्य की यह विशेषता है कि उसने भारतीय संस्कृति के उन सभी परिणामों का समावेश किया है जो वैदिक काल से चले आ रहे थे और उनमें ढंग से विरोध परिहार किया।[2] सुश्रुत के अनुसार तंत्र आयुर्वेद का अपर पर्याय है।[3] सर जान उड्रफ ने तंत्र शब्द का अर्थ एक विशेष प्रकार का धार्मिक ग्रन्थ माना है।[4] मतंगपरमेश्वरी तंत्र में चार पादों का उल्लेख है जिनका नाम क्रमशः विद्या, क्रिया, योग और चर्या है। यही चारों पदों का वर्णन सभी तांत्रिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।[5]

तंत्र शास्त्र के अन्तर्गत एक विस्तृत क्षेत्र आता है जिनके ग्रन्थों की अपरिमित सम्पत्ति भारत के विभिन्न भागों में सुरक्षित, प्रचलित तथा परम्परा के कार्य रुप में सम्पन्न होकर अव्यवस्थित है। तंत्र शास्त्र के अनुशीलन से विभिन्न तंत्रों का परिज्ञान होता। प्रकृति अध्याय में प्रमुख रुप से वैष्णव तथा शैव तथा गणपति सम्प्रदाय का एक सामान्य परिचय कराने का प्रयास होगा।

[1] Notice of Sanskrit Manuscript, vol I, P. 24, T.S.R.L., H.P. Sastri.

[2] श्री आशुतोष मुखर्जी सिल्वर जुबली, vol III, भाग 1, पृ. 254, कलकत्ता।

[3] इत्यष्टांगमिदं तंत्रमादितः प्रकाशितम्।

[4] शक्ति एण्ड शाक्त, सर जान उड्रफ, गणेश एण्ड कम्पनी, तृ. सं. 1926, मद्रास, पृ. 50।

[5] 'आगम तन्त्र एक सैद्धान्तिक विवेचन' डॉ० शीतला प्रसाद पाण्डेय, समाज धर्म एवं दर्शन, टैगोर टाउन, इलाहाबाद, सन् 1996।

वैष्णव-तन्त्रागम

वैष्णव तंत्रों का वर्गीकरण दो भागों में हो सकता है- 1. वैखानस तथा 2. पाञ्चरात्र। यहाँ हम वैष्णव तंत्र के दोनों भागों पर एक सामान्य परिचय देने का प्रयास करेंगे।

वैखानस तन्त्र

वैखानस तंत्र ग्रन्थों के आलोडन से यह स्पष्ट होता है कि यह भगवच्छास्त्र है प्रकाशित एवं अप्रकाशित ग्रन्थों की अध्ययान्त पुष्पिकाओं में भगवच्छास्त्र का ही प्रयोग है।[1] इस प्रकार यह भगवच्छास्त्र है।

ऐसा प्रतीत होता है कि तंत्र की जटिल विधाओं के आरम्भ होने से पूर्व ही विष्णु की उपासना का प्राधान्य हो गया था। वैदिक देवादि के विकास में योगक्षमेकारी विष्णु की पूजा का आरम्भ वैदिक काल से ही हो गया था। वैदिक साहित्य में 'मुनि' तथा 'वातरशना' नामक ऋषियों का उल्लेख मिलता है। ये ऋषि प्रायः जंगलों में रहते थे। कन्दमूल फलादि खाकर जीवन का निर्वाह करते थे। उत्तर वैदिक काल में इन्हीं को वैखानस कहा गया।[2] वैखानस लोग वैदिक काल में इन्द्र के

---

[1] इत्यार्षे श्री वैखनसे भगवच्छास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां क्रियाधिकारे........ । क्रियाधिकारे प्रथमाध्याये ।

[2] (A) अव्भक्षैर्वायुभक्षैश्च शीर्णपर्णाशनैस्तथा ।
फलमूलाशनैर्दान्तैर्जितदोषैर्जितेन्द्रियैः ।।

प्रिय लोग कहे जाने लगे थे।[1] समूर्तार्चनाधिकरण जो वैखानस आगम का एक प्रौढ़ ग्रन्थ है उसके अनुसार वैखानस शास्त्र की रचना वेद की "वैखानसी" शाखा के अनुसार हुई है।[2] बाल्मीकि रामायण में वैखानस लोगों को सम्बन्ध बालखित्यादि ऋषियों के साथ देखा जा सकता है। ये ऋषि प्रकाशमान, सिद्ध तथा राग-द्वेष से परे है।[3] महाभारत[4] तथा देवी भागवत[5] में वैखानसों का उल्लेख प्राप्त होता है।

वैखानसों की विशेषता का दिग्दर्शन उनके गृह्यसूत्रों के अध्ययन से प्राप्त होता है। वैखानस गृह्यसूत्र के चार प्रश्न के दशम, एकादश तथा द्वादश भाग में क्रमशः विष्णु की स्थापना, प्रतिष्ठा तथा पूजापद्धति का वर्णन है। प्रतिदिन प्रातःकाल एवं सांयकाल हवनोपरान्त विष्णु की पूजा करना गृहस्थ का आवश्यक कार्य है।

गृहार्चा के लिए विष्णु की प्रतिमा छः अंगुल के परिमाण से कम की नहीं होती थी। गृह्य में विशिष्ट विधि से उसकी प्रतिष्ठा करके

ऋषिभिर्बलखिल्यैश्च जपहोमपरायणैः।
अन्येर्वैखानसैश्चैव समन्तादुपशोभितम्।। बाल्मीकिरामयण बालकाण्ड, सर्ग 51।
(B) पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वयेत्सदा।
कालपक्वैः स्वयं शीर्णै वैखानसमते स्थिताः।। मनुस्मृति अध्याय 6, श्लोक 12

[1] वैखानसा वा ऋषयः इन्द्रस्य प्रिया आसन्। ताण्ड्यमहाब्राह्मण, 14/4/7।

[2] वेदानां व्यासनादर्वाक् प्रारुपं मिलितं तु यत्।
तां तु वैखानसी शाखामिति ब्रह्मविदां विदुः।। समूर्तार्चनाधिकरण, भूमिका, पृ. 19

[3] बाल्मीकिरामायण, किष्किन्धाकाण्ड 40/60।

[4] महाभारत शान्तिपर्व 250/19।

[5] वैखानसा ये मुनयों मितहारा जितव्रताः। तडपि मुयन्ति संसारे जानन्तोऽपि ह्यसत्यताम्।।
देवीभागवत 1/19/18

विष्णुसूक्त तथा पुरुषसूक्त से उसकी पूजा की जाती थी। जप में अष्टाक्षर एवं द्वादशाक्षर मंत्रों के प्रयोग होते थे। नारायणबलि का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता अपितु नारायण की प्रधानता समस्त देवताओं में स्वीकार की गयी है। इस प्रकार वैखानसों वैदिकता निर्विवाद है।[1]

वैखानस तंत्र विखनस के द्वार से प्रवर्तित था, यह बतला आये हैं। यह तंत्र वैखानस धर्मसूत्र का अनुसरण करता है, यह निर्विवाद सत्य है।[2] वैखानस तंत्र के साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि विखनस के शिष्यों ने ऋषि से इस तंत्रशास्त्र का सांगोपांग अध्ययन किया था और अलग-अलग वैखानस तंत्र ग्रन्थों की रचना भी की थी। ऋषि के नौ शिष्य थे। 1. काश्यप, 2. अत्रि, 3. मरीचि, 4. वशिष्ठ, 5. अंगिरा, 6. भृग, 7. पुलस्त्य, 8. पुलह तथा 9. ऋतु।[3] महर्षि के नव शिष्यों में चार ने ही वेखानस शास्त्रों की रचना की थी जिनके नाम हैं- 1. अत्रि, 2. भृगु, 3. काश्यप तथा 4. मरीचि।[4] वैखानस तंत्र साहित्य गद्य एवं पद्य दोनों रुपों में प्राप्त है। डा. राघव प्रसाद चौधरी ने अपने विद्वतापूर्ण निबन्ध "वैखानस तंत्र के प्रकाशित एवं अप्रकाशित साहित्य" में वैखानस शास्त्रों का आलोडन कर यह निष्कर्ष निकाला है

[1] वैखानस धर्म प्रश्न-3/9/1।

[2] (A)विमानार्चन्कल्प, पटल-101।
(B) आनन्दसंहिता-27/49।

[3] "काश्यपोंत्रिर्मरीचिश्च वसिष्ठोडडि0गरसोह्यम्।
पुलस्त्यः पुलहश्चैव क्रतुश्च नवसंख्यकाः।
एते विखनसः शिष्याः लोकानुग्रहकारिणः"।। विमानार्चनकल्प, भूमिका पृ. 5

[4] विमानार्चनकल्प, पटल-101।

कि वैखानस तंत्र के कुल 60 ग्रन्थों या संहिताओं का विवरण उपलब्ध है। इनमें 17 ग्रन्थ प्राप्त हैं। इन उपलब्ध ग्रन्थों के कुछ अंश प्राप्त है। शेष सभी ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं।[1]

महर्षि मरीचि द्वारा प्रणीत वैखानस तंत्र ग्रन्थ गद्यमय है। ग्रन्थारम्भ में ऋषियों के द्वारा प्रश्न करने पर मुनि मरीचि स्पष्ट कहते हैं कि श्रुत्यनुकूल मार्ग से चतुर्वेदोद्भव मंत्रों के द्वारा भगवान विष्णु की पूजा करनी चाहिए। इससे विष्णु के परम पद की प्राप्ति होती है।[2] नारायण परम् ब्रह्म है, अक्षर है। सर्वात्मक सनातन और परमपुरुष है। उस परब्रह्म, नारायण का (स्व) भाव ही तत्व है।[3] निष्कल एवं सकल परमात्मा का स्वभाव दो प्रकार का है।[4] निष्कल का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि जैसे क्षीर में सप्रि (घी), तिलों में तेल, पुष्पों में सुगन्ध, फलों में रस, काष्ठों में अग्नि, सूक्ष्म रुप से परिव्याप्त होते हैं, वैसे ही विश्व में व्याप्त परमात्मा है।[5] सकल को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि जैसे काष्ठों में अन्तर्निहित अग्नि मंथन से प्रकट होकर प्रज्जवलित होती है उसी भांति निष्कलात्मा विष्णु ध्यान मंथन से,

---

[1] 'प्रणव तत्व', सम्पादक, प्रो० कल्याणमल लोढ़ा, "वैखानस आगम में प्रणव तत्व" निबन्ध, डॉ० शीतला प्रसाद पाण्डेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1998।

[2] "श्रुत्यनुकूलेन मार्गेण चतुर्वेदोद्भवैः मंत्रै तमर्चयन्तः श्रुतिभिरभिहितं शाश्वतमतीन्द्रियं परात्परं देवैरनाभलक्ष्यं तद्विष्णेः परमं पदं गच्छेयुः इति"।। विमानार्चनकल्प, पृ. 2।

[3] "तस्य भावस्तत्वमिति तस्य परब्रह्मणः परमात्मनः, नारायणस्वभावः" तत्रैव पटल 90।

[4] "तद्ब्रह्मणो निष्कलस्सकलश्च स्वभावः" तत्रैव।

[5] "निष्कलः- । 'परमात्मोऽन्यन्नकिंचिदस्तीति। क्षीरे सप्रिस्तिले तैलं गन्धेः फले रसः काष्ठेऽग्निविान्तवाहिश्च तत्सर्व' व्याप्या ऽऽ काशोपमः अन्तर्वहिश्च तत्सर्व व्याप्य नारायणस्थितः इति। आकाशः शरीर ब्रह्मैत्यशरीर शरीरेषु व्याप्य तिष्ठति"। तत्रैव।

भक्ति से, संकल्प करने से सकल होते है। यथा-अग्नि से विस्फुलिंग प्रकट होते है, उसी भांति विष्णु ध्यान के अनुसार प्रकट होते हैं।[1] उन्हीं से विविध देवता भी प्रकट होते हैं। वहाँ परमात्मा पाँच प्रकार से होते हैं। पर, व्यूह, विभव अन्तर्यामी तथा अर्चावतार।[2] 'पर' स्वरुप का प्रयोजन केवल समस्त ब्रह्मान्डों का सृष्टि करना मात्र है। वे अनुपम, अनिर्देश्य, दस हजार पूर्णचन्द्रों के समान कान्ति वाले विश्व का अध्ययन करने वाले, शंख, चक्र, गदा, पद्मादि दिव्यायुधों से युक्त श्री आदि अनपायी (अनन्त, गरुण, विष्वक्सेन आदि) से सेवित स्वरुप है।[3] भगवान के 'व्यूह' का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए कहा गया हे कि 'देह-चलन' तथा 'मन' का अधिष्ठान रहना है। अर्थात सभी जीवों के शरीरों का चैतन्य तथा मन का आधार या अधिष्ठान बना रहता है।[4]

वैखानस तंत्र तत्व की व्याख्या दूसरे तरह से करता है। "तत्" शब्द उसके अनुसार विष्णु का वाचक है। उसका स्वभाव नारायण है। परम प्राप्तव्य परमात्मा है। वेद उसका ज्ञान है और व्यक्ति उसका ज्ञाता

[1] तत्रैव-पटल-90।
[2] (A)तत्रैव-पटल-91।
(B)आनन्दसंहिता 4/5-6।
[3] आनन्दसंहिता- अध्याय-4।
[4] व्यूहस्तु देहचलनं हेतूनां मुनि पुंगवाः।
चतुर्णा मानसादीनां। आदिदैवतमेव हि।। आनन्दसंहिता-4।

है। इस प्रकार ब्रह्म, परमात्मा तथा नारायण विष्णु ये एक ही तत्व के वाचक शब्द हैं। सर्वव्यापक नारायण की शक्ति ही श्री है।[1]

यह तंत्र वेद पर अवलम्बित है। अस्तु उसके मतावलम्बी साधना में रत, साधक वेदविद् हो जाता है। वैखानस मतावलम्बी गृहस्थ धर्म में रत रहते हुए भी जितेन्द्रिय एवं अविचल, योगी और ध्यान परायण हो सकता है।[2] वैखानसों के यहां वेद के महिमा के साथ ही प्रतिमा का अर्चन, मूर्तियों की प्रतिष्ठा, मन्दिर के विभिन्न अंगो का निर्माण, मूर्तियों की विशेषता, ध्यान और भक्तिभाव का इतना पूर्ण विवेचन मिलना दुर्लभ है।

भगवान की उपासना करके जीव इस भवसागर से पार होता है। आराधना के चार विभाग है- जप, हुत, ध्यान और अर्चना। जप का तात्पर्य यह है कि नारायण का ध्यान करते हुए अष्टाक्षर या द्वादशाक्षर मंत्र को जपना। हुत का अभिप्राय अग्निहोत्रादि है। निष्कल और सकल विभाग को जानकर अष्टांगयोग मार्ग का आलम्बन लेकर ध्यान द्वारा परमात्मा का निरन्तर चिन्तन करें। अर्चना का अभिप्राय प्रतिमा पूजन से है। गृह या देवालय में वैदिक विधि से अर्चना सम्पन्न होनी चाहिए।[3] मन्दिर निर्माण के समय सर्वप्रथम भूमिशोधन करके देवालय का निर्माण

---

[1] इन्साइक्लोपीडिया आफ आगमकोश, वैखानस आगम भाग-3, प्रो. एस. के. रामचन्द्रराव, कल्पतरु रिसर्च अकादमी, बंगलौर।

[2] वैखानस आगम में प्रणव तत्व 'प्रणव तत्व' नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली-1998।

[3] विमानार्चनकल्प पटल-96।

कराया जाता है। विष्णु की मूर्ति देवालय के मध्य में रहती है। उनके साथ श्री देवी और भूमि देवी की मूर्तियां स्थापित की जाती हैं। विष्णु के वाम भाग में 'अच्युत' एवं 'अनिरुद्ध' की मूर्तियां तथा दक्षिण में 'पुरुष' और 'सत्य' की मूर्तियां स्थापित की जाती हैं।

वैखानसों के यहाँ मुक्ति की चार श्रेणियाँ निर्धारित की गयी है। सालोक्य मुक्ति में जीव सम्यक आराधना से आमोद नामक विष्णु लोक में अवस्थित रहता है। महाविष्णु लोक (प्रभासे) में सामीप्य मुक्ति को प्राप्त करता है। सम्मोद (सदाविष्णु) में सारुप्य हो जाता है। अन्त में सायुज्य मुक्ति प्राप्त करके वैकुण्ठ (सर्वव्यापी विष्णुलोक) को प्राप्त हो जाता है।[1] आनन्दगिरि के शंकर-विजय में भी वैखानसों के सिद्धान्तों का विवरण वर्णित है।[2]

पूर्व पृष्ठों में वैष्णव तंत्र की प्रथम शाखा वैखानस तंत्र पर हमने एक विहंगम विचार प्रस्तुत किया है। अब प्रमुख शाखा पाञ्चरात्र का भी एक सामान्य परिचय किया जा रहा है।

---

[1] "संसार बन्धन वासनान्मुक्ति मोक्षः। तदपिसमाराधन विशेषाच्चतुर्विधपदावाप्तिः सालोक्यं संमोदप्रापितः सालोक्यं प्रमोदप्राप्तिः समीप्यं संमोदप्राप्तिः सारुप्यं, वैकुण्ठ प्राप्तिः सायुज्जमिति"। विमानार्चनकल्प, पटल 64, पृ. 508।

[2] शंकर-विजय प्रकरण 9, पृष्ठ 55-64।

पाञ्चरात्रागम

पाञ्चरात्र तथा वैखानस में मूल रुप से अन्तर यह है कि जहां वैखानस में विशुद्ध रुप से वैदिक मंत्रों का विनियोग होता है वहीं पाञ्चरात्र आगम में वैदिक मंत्रो के प्रयोग के साथ-साथ बहुत सारे हैं, फट्, आदि युक्त तांत्रिक मंत्रों का प्रयोग भी होता है। यहाँ पर मुद्रा कल्पन-प्रकार, मंडल-प्रक्रिया दीक्षा का विस्तृत वर्णन आदि तांत्रिक प्रयोग भी पाञ्चरात्र में मिलता है जबकि यह सब वर्णन वैखानस में नहीं मिलता। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि पाञ्चरात्र अवैदिक है। मार्कण्डेय-संहिता तथा विष्वक्सेन-संहिता के अनुसार पाञ्चरात्र श्रुतिमूलक है तथा यह शास्त्र कल्पसूत्र की तरह प्रमाणभूत है।[1] विष्णुतन्त्र संहिता के अनुसार सभी पाञ्चरात्र श्रुतिमूलक है।[2] विष्णु-संहिता ने पाञ्चरात्र को तंत्र कहते हुए श्रुतिमूलक तथा आप्तमूलतया स्वीकार किया है। यह तन्त्र पुराण तथा मन्वादि वाक्यों की तरह प्रमाणभूत कहा गया है।[3] इसके अतिरिक्त यामुनाचार्य ने पाञ्चरात्र की वैदिकता प्रमाणित करने के लिए स्तुत्य प्रयास किया है।[4]

---

[1] "श्रुतिमूलमिदं शास्त्रं प्रमाणं कल्पसूत्रवत्"। विष्वक्सेन संहिता 8/6-7।

[2] "श्रुतिमूलानि तान्येव पाञ्चरात्राणि पंकज"। विष्णुतंत्र संहिता 1/36।

[3] वेदमूलतय तन्त्रमाप्तमूलतयापिच। पुराणवत् प्रमाणं स्यात् तथा मन्वादिवाक्यवत्।। विष्णुसंहिता, पटल 2/11।

[4] आगमप्रामाण्यम् यामुनाचार्य, प्रकाशित, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, बड़ौदा।

पाञ्चरात्र निर्विवाद रुप से एक प्राचीन आगमिक परम्परा है। कुछ विद्वानों ने इसकी प्राचीनता के विषय में विचार किया है। संक्षिप्त रुप में हम इसे देखने का प्रयत्न करेंगे। महाभारत के भीष्मपर्वस्थ मोक्षधर्म में सात्वत विधि (पाञ्चरात्र) की प्रशस्ति दृष्टिगोचर होती है।[1] इसके आधार पर सामान्य रुप से पाञ्चरात्र प्रक्रिया के काल को भीष्मपर्व के रचना-काल से प्राचीन माना जा सकता है। परन्तु महाभारत का रचनाकाल ही सर्वथा निश्चित तथा निर्विवाद रुप से एक नहीं माना गया है। आधुनिक विमर्शकों की दृष्टि में महाभारत कालक्रम से विकसित (विरचित), अतः बहुत लम्बी अवधि में विरचित ग्रन्थ माना जाता है।[2] अतः भीष्मपर्व का उपर्युक्त अंश, जिसमें पाञ्चरात्र की चर्चा है, का काल-निर्धारण सुकर नहीं है। फिर भी पाञ्चरात्र-प्रक्रिया आलोचकों द्वारा निर्धारित महाभारत रचना काल से निश्चित ही प्राक्कालिक है। कुछ विचारक श्रीभद्गवद्गीता में चतुर्व्यूह वर्णन का अभाव तथा नारायणीय अध्याय में[3] उसका वर्णन देखकर यह विचार करते हैं कि नारायणीय अध्याय की रचना के पश्चात हुई है। यदि नारायणीय अध्याय की रचना पहले होती तो गीता में चतुर्व्यूह का निर्देश अवश्य होता।[4] अतः नारायणीय अध्याय के अन्तर्गत चर्चित वासुदेवादि चतुर्व्यूह की स्थिति गीताकाल की अपेक्षा अर्वाचीन है।

[1] महाभारत, भीष्मपर्व, 66/40।

[2] संस्कृत साहित्य का समालोचनात्मक इतिहास, डा. रामजी उपाध्याय, पृ. 419 (रामनारायण लाल बेनीमाधव, कटरा रोड, इलाहाबाद, विक्रमाब्द 2018।

[3] महाभारत, शान्तिपर्व (मोक्षधर्म पर्व), अध्याय 39/21-46।

[4] हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ. 38-41।

फलतः चतुर्व्यूह के आराधनादि विधानपरक पाञ्चरात्रशास्त्र का काल उससे (प्राचीन नहीं हो सकता। परन्तु गीता में चतुर्व्यूह का वर्णन न होने के कारण नारायणीय अध्याय को उससे) परवर्ती बताना कोई प्रामाणिक, युक्तियुक्त तथा तर्कसंगत बात नहीं कही जा सकती। वस्तुतः गीता के प्रतिपाद्य कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग विषयों के प्रतिपादन क्रम में गीताकार ने चतुर्व्यूह-वर्णन की आवश्यकता नहीं समझी हो। अतः, गीता में उसका निर्देश नहीं किया जा सकता।[1]

जहाँ तक महाभारत के रचना काल का सम्बन्ध है, उस विषय में श्री सी. बी. वैद्य महाशय का मत है कि क्रमशः लम्बी अवधि में विकसित होने के बाद भी महाभारत का वर्तमान स्वरुप ई० सन् की तृतीय शताब्दी में पूर्ण हो गया था।[2]

सर जार्ज अब्राहम गियर्सन के अनुसार ई० सन् की द्वितीय तथा चतुर्थ शताब्दी के मध्यवर्तमान महाभारत की रचना पूर्ण हो गयी थी।[3] विण्टरनित्ज ने महाभारत के रचनाकाल के विषय में ई० पू० चतुर्थ शतक तक लम्बी अवधि स्वीकार की है।[4] इन सभी मतों के पर्यालोचन से भी पाञ्चरात्र का अस्तित्वकाल ई० सन् की चर्तुथ शताब्दी से पूर्व निश्चित रुप से सिद्ध होता है।

---

[1] जयाख्यसंहिता, भूमिका, पृ. 42-43, प्रकाशित, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, बड़ौदा, द्वि.स. 1967।

[2] तत्रैव।

[3] हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिरेचर, भाग-1, पृ. 465 तथा 475 (कलकत्ता विश्वविद्यालय)।

[4] जयाख्यसंहिता, भूमिका, पृ. 43।

ब्रह्मसूत्र के अविरोधाध्याय नामक द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद (तर्कपाद) में[1] सांख्य, वैशेषिक,. जैन, सर्वास्तिवाद आदि मतों के मुक्तियुक्त खण्डन के क्रम में 'पाञ्चरात्र मत' के खण्डन का निर्देश देखते हैं। ब्रह्मसूत्र का निर्माणकाल विक्रम-पूर्व षष्ठ शतक से पूर्व कहा गया है। फलतः ब्रह्मसूत्र में उल्लेख होने के कारण पाञ्चरात्र-प्रक्रिया को ई0 पू0 षष्ठ शतक प्राचीन मानने में कोई क्षति नहीं।[2]

कुछ शिलालेखों के आलोचन से भी पाञ्चरात्र के काल पर प्रकाश पड़ता है। राजपूताना के घोसुण्डि नामक नगर में उपलब्ध शिलालेख में संकर्षण तथा वासुदेव के मन्दिर के चतुद्रिक् प्राकार-निर्माण का उल्लेख देखते हैं। इस शिलालेख का काल 200 ई0 पू0 है। नानाघाट गाँव की गुहा में उपलब्ध एक शिलालेख में 'वासुदेव' तथा 'संकर्षण' का उल्लेख देखते हैं। यह उल्लेख यहाँ मंगलश्लोक में किया गया है। शिलालेख का काल ई0 सन् के अव्यवस्थित पूर्व शताब्दी है। वेश नगर गाँव में समुपलब्ध शिलालेख में वासुदेव तृप्ति के निमित्त भागवत हेलियो दोरा के द्वारा गरुड़ध्वज स्तम्भ प्रतिष्ठापित करने का निर्देश देखते हैं। इस शिलालेख का समय ई0 पू0 द्वितीय शतक का पूर्व भाग है। इस शिलालेख से वासुदेव पूजा का प्रचलन तथा उनके आराधकों को भागवत कहा जाना अत्यन्त स्पष्ट

---

[1] ब्रह्मसूत्र- 2/2/42-45।

[2] भारतीय दर्शन, पृ. 336।

है ।[1] इन तीनो शिलालेखों के आधार पर ई० पू० तृतीय शतक से पूर्व ही पाञ्चरात्र के अस्तित्व का होना प्रमाणभूत सिद्ध होता है, क्योंकि वासुदेव, संकर्षण, व्यूहभेद, वासुदेव की तृप्ति के लिए गरुड़ध्वज-प्रतिष्ठापन, उसके प्रतिष्ठापरक का भागवत नाम-में सारे विषय पाञ्चरात्र प्रक्रिया में ही स्पष्टतः उल्लिखित वर्णित हैं ।

ई० पू० चतुर्थ शतक में चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में भारत आये हुए यवन मेस्थनीज ने सौर सेनीय किसी क्षत्रिय को वासुदेव का आराधक बताया है ।[2] यह वासुदेवाराधन सात्वत-विधिमूलक है । अनुमानतः कहा जा सकता है कि प्राचीन समय में वासुदेवाराधन की संज्ञा सात्वत-विधि रही होगी अर्थात सात्वत तथा भागवत-ये दोनों पर्यायवाचक शब्द होंगे । सात्वत-विधि का सामान्य निर्देश महाभारत के भीष्म-पर्व में भी किया गया है ।[3]

पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी वासुदेव की उपासना के संकेत प्राप्त होते है ।[4] इस प्रकार पाञ्चारात्र की प्राचीनता निर्विवाद है ।

पाञ्चरात्र दो शब्दों से बना है- पञ्च तथा रात्र । पञ्च का अर्थ पाँच संख्या[5] तथा रात्र को लेकर ही उलझन है । नारद पाञ्चरात्र एवं

---

[1] वैष्णविज्म, शैविज्म ऐण्ड अदर माइनर रेलिजन्स इन इन्डिय, आर. जी. भण्डारकर ।

[2] तत्रैव ।

[3] महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय 62/37-39, भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, 1947 ।

[4] अष्टाध्यायी 4/3/98 ।

[5] "संख्यापूर्वं रात्रे बहुलम" लिंगानुशासनम्, 131 ।

ज्ञानामृतसार संहिता के अनुसार रात्र पद ज्ञान का वाचक है। ये पञ्चविध ज्ञान हैं - परमतत्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (संसार) जिनके ज्ञान का आपदक यह शास्त्र है ।[1]

उत्सव संग्रह में पुराण, न्याय मीमांसा, सांख्ययोग का एक समूह तथा आगम, भरतशास्त्र, शिल्प, वैद्यक तथा ज्योतिष दूसरे समूह हैं। इन दोनों समूहों को पृथक-पृथक पाञ्चरात्र माना गया है ।[2]

श्री वेदान्तदेशिक ने विभिन्न आगमादि ग्रन्थों के आधार पर निष्कर्ष रुप में पाञ्चरात्र पद का स्वरुप बताते हुए कहा है कि श्री विष्णु का अनन्य भाव से भक्ति उपदेश शास्त्र पाञ्चरात्र है ।[3]

डा. एफ. ओ. श्रेडर ने पाञ्चरात्र का मूल शतपथ ब्राह्मण में पांच रात्रियों में होने वाला यज्ञ सत्र माना है। वहाँ पुरुष नारायण ने पाञ्चरात्र की परिकल्पना द्वारा सभी प्राणियों पर अपना आधिपत्य माना है तथा प्राणिमात्र के रुप में परिणत होने की व्यवस्था की है। श्रेडर ने यह भी प्रतिपादित किया है कि पाञ्चरात्र के मंत्रों की व्याख्या भी इन्हीं नारायण से प्रसूत है। इसके दार्शनिक विवेचन के साथ परमात्मा के पाँच अभिव्यक्तियों का उल्लेख है पर विभव, व्यूह अन्तर्यामी और

---

[1] (A) रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम् ।
तेनेदं पञ्चरात्रं च प्रविदन्ति मनीषिजः ।। नारदयाञ्चरात्र, 1/44 ।
(B) ज्ञानामृतसारसंहिता - 1/1/44 ।

[2] उत्सवसंग्रह - 3, पृ. 15 ।

[3] प्रतिबुद्धविषयभगवद्दन्यभजनो पदेश प्रवृतं तु । शास्त्रं पाञ्चरात्रम् । न्यायपरिशुद्धि, श० अ० 2, आ ।

अर्चा ।[1] पं० श्री राजबली पाण्डेय का कहना है कि सम्भवतः व्यूह सिद्धान्त के अनुसार वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और ब्रह्मा इन पाँचों तत्वों के आधार पर 'पाञ्चरात्र' नाम है ।[2] डॉ. वी. राघवन के मत में कुछ विशिष्ट ऋषियों को रात्रि चर्चा के आधार पर जो धर्मोपदेश किये गये, जिनका संकलन महासनत्कुमारसंहिता में रात्र शब्द किया गया है, वही पाञ्चरात्र शब्द का समुचित अर्थ है । इनमें पाँच ऋषियों का उल्लेख है, जिनके नाम क्रमशः शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, ऋषि तथा बृहस्पति है । अत्यन्त आदर के साथ यही नाम एक सम्प्रदाय के रुप में प्राप्त हो गया ।[3]

पाञ्चरात्र शब्द के अर्थ के अनुसन्धान एवं पाञ्चरात्र परम्परा के मूल सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों ने बहुत अटकल लगायी है, तथापि 'छान्दोग्य' उपनिषद में उल्लिखित 'एकायन' श्रुति को उसका मूल मानने में विवाद नहीं है । 'छान्दोग्य' उपनिषद में भूमाविद्या के प्रसंग में 'एकायन' पद आता है ।[4] इसे आचार्य शंकर ने 'नीतिशास्त्र' कहा है, किन्तु 'श्रुतिप्रकाशिका' के अनुसार यह मान्यता प्रसिद्धि के विरुद्ध है । यह 'एकायनश्रुति' रहस्यसम्प्रदाय के रुप में बहुत सी संहिताओ में

---

[1] इण्ट्रोडक्शन ऑफ पाञ्चरात्र, पृ. 19 ।

[2] पाञ्चरात्र और वेदान्त, कल्याण 1936, वेदान्त विशेषांक, पृ. 334 ।

[3] "जयाख्यसंहिता का तत्वमीमांसीय एवम् औपासनिक विवेचन," अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, डॉ. शीतला प्रसाद पाण्डेय । संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्याल, वाराणसी, 1993 ।

[4] छान्दोग्य उपनिषद 7/1/2 ।

तथा तदनुसारी प्रबन्धों में व्यवहृत एवम् उदाहृत हुई है। कहीं कहीं रहस्याम्नाय ब्राह्मण का भी उल्लेख है। इससे अनुमान किया जाता है 'एकायनशाखा' में मन्त्रभाग और ब्राह्मण भाग दोनों ही थे। विष्णु सहस्रनाम के कूरेश विरचित भाष्य में इस श्रुति के बहुत से वाक्य उद्धृत है। वहाँ इनके लिए सर्वत्र 'मूल' शब्द का प्रयोग है। अतः अनुमान किया जा सकता है कि 'एकायन' श्रुति ही 'मूल श्रुति' के रुप में परम्परा में कही गयी है।[1] 'पांचरात्र' की इस वेदमूलकता को महाभारत में सुस्पष्ट रुप से स्वीकार किया गया है और 'एकायन' धर्म को समाचरित करने वालों को वासुदेवेकयाजी शुद्ध 'भागवत' कहा गया है।[2]

इस विस्तृत परम्परा और विशाल साहित्य में पांचरात्र आगम के विस्तृत साहित्य का विषय बड़ौडा से दो खण्डों में प्रकाशित पांचरात्रगम की ग्रन्थ सूची में दिया गया है। एच. डेनियल स्मिथ ने परिश्रम पूर्वक इसका विवरण दिया है।[3] दक्षिण भारत में हो रहें हैं। कार्य के फलस्वरुप अब तक लगभग 300 पांचरात्र आगम ग्रन्थों का पता लग चुका है।

परम ब्रह्म भगवान वासुदेव ही इस प्रस्थान में परतत्व हैं। अहिर्बुध्न्यसंहिता में अनादि एवं अनन्त पर ब्रह्म को अक्षर तथा अव्यय

---

[1] दर्शनोदयः लक्ष्मीपुरं श्रीनिवासचार, मैसूर, 1993, पृ. 515।

[2] तत्रैव - पृ. 514।

[3] ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा - 1980।

कहा गया है। वह अनामयरुप स्वसंवेद्य तथा मन से अगोचर है। ब्रह्म सर्वशक्ति है। वह षाड्गुणयुक्त है।[1] षाड्गुण का अर्थ निरवच्छिन्न ज्ञान, निरवच्छिन्न शक्ति, निवच्छिन्न ऐश्वर्य, निवच्छिन्न बल, निरवच्छिन्न वीर्य एवं निरवच्छिन्न तेज कहा गया है जो अजड स्वात्म संबोधि नित्य तथा सर्वावग्राही हो उसे ज्ञान कहते हैं। गुण-चिन्तकों के अनुसार इसी तरह का ज्ञान ब्रह्म का प्रथम गुण है। यही ज्ञान, ब्रह्म का स्वरुप साथ-साथ उसका गुण भी। शक्तिगुण जगत निर्मातृ प्रकृति शक्ति है। ब्रह्म स्वातन्त्र्य परिबृंहित कर्तृत्व ही उसका ऐश्वर्य गुण है, अर्थात् ब्रह्म सर्वथा स्वतन्त्र कर्तृत्वयुक्त है। सतत प्रपञ्च की सृष्टि करते हुए भी ब्रह्म को श्रम नहीं होता और उसकी यह श्रम हानि उसका बल गुण है। उपादान के अभाव में भी विकार-विरह-रुप जो ब्रह्म का अच्युतत्व है, वही वीर्य गुण है। ब्रह्म को सहकारी की अपेक्षा ही उसका तेजोगुण है। अहिर्वुध्न्य के अनुसार शक्त्यादि पांच गुण प्रथम ज्ञान गुण के ही प्रकार है। षाडगुण्य स्वशक्ति परिवृंहीत ही है। ज्ञान स्वरूप परमब्रह्म जैसा कि ऊपर निद्रिष्ट ज्ञान ही परमब्रह्म का स्वरुप भी है। इस तरह परमब्रह्म 'बहुस्याम' इस संकल्प अर्थात इच्छा से सुदर्शन को ग्रहण करता है।[2] ब्रह्म निर्गुण है तथापि उसको षाडगुण्य कहा गया है, क्योंकि निर्गुण का अर्थ प्राकृत गुणों के स्पर्श से रहित।[3] उपनिषद् में

[1] अहिर्बुध्न्यसंहिता - 2/6-7।

[2] अहिर्बुध्न्यसंहिता - 2/56-62।

[3] "अप्राकृतं गुणस्पर्शं निर्गुणं परिगीयते" तत्रैव 2/55।

भी ब्रह्म स्वरुप को 'एकोऽहं बहुस्याम प्रजाजेय' और उसी से तेज आप अन्न आदि की सृष्टि परिलक्षित है ।[1]

पाञ्चरात्रागम शक्ति तत्व के सन्दर्भ में यह प्रतिपादित है कि नारायण 'ब्रह्म' है उसका भाव लक्ष्मी है। दोनों रुप तथा ज्ञानात्मक है। दोनो में अभेद सम्बन्ध है।[2] दोनों में तादत्म्य सम्बन्ध है।[3] दोनो के अनेक नाम है।[4] अहिर्बुध्न्यसंहिता में कहा गया है कि शक्ति भगवान की आत्मभूता है। वह किसी अविनय के कारण उन्मेष प्राप्त करती है और विश्व की व्यापार में प्रवृत होती है।[5]

वह वासुदेवाभिधान परमब्रह्म 'षाडगुण्यवपु' है। ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज यह छः गुण हैं।[6] पर वासुदेव में ये सभी गुण स्तिमितावस्था में विद्यमान रहते हैं। यह वासुदेव की नित्योदितावस्था है। शान्तोदितावस्था में ये गुण क्रियाशील हो उठते हैं, तब परवासुदेव व्यूहावस्था ग्रहण करते हैं। व्यूहावस्था ही शुद्धसृष्टि हैं। व्यूह वासुदेव में सभी गुण उन्मेषावस्था में रहते हैं। संकर्षण में ज्ञान और बल, प्रद्युम्न में ऐश्वर्य और वीर्य तथा अनिरुद्ध में शक्ति

---

[1] छान्दोग्योपनिषद 5/2, 3-5 ।

[2] "भगवन्नारायणो देवो भावो लक्ष्मीरहं परा" । लक्ष्मीतंत्र 2/15A ।

[3] "ज्ञानात्मकं परं रुपं ब्रहमणों मम चोभयो" । लक्ष्मीतंत्र 2/25B ।

[4] "तादात्य विद्धि सम्बन्धं ममनाथस्य चोभयोः । लक्ष्मीतंत्र 2/18A ।

[5] अहिर्बुध्न्यसंहिता - 5/4 ।

[6] अहिर्बुध्न्यसंहिता - 153/2 ।

और तेज का उन्मेष होता है ।[1] यह सब पर वासुदेव की ही अवस्थाएं है । पर व्यूह, विभव अंतर्यामी और अर्चावतार भेद से ईश्वर के पांच रुपों का वर्णन है ।[2]

पाञ्चरात्रानुमोदितसाधनामार्गो में प्रधानता बहुधा "क्रिया" "चर्या" और कभी-कभी योग को भी दी जाती है । पाञ्चरात्र शास्त्र के अनुसार देवालय का निर्माण कर उसमें अभीष्ट देवता की साङ.गोपाङ्.ग स्थापना करनी चाहिए। उसके अनन्तर सात्वत विधि से विग्रह की निरन्तर अर्चना करने से अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति होती है । भक्ति ही केवल इस दुःखमय संसारार्णव से जीव को मुक्त करने का एक मात्र साधन है ।

भक्त वत्सल करुणा निकेतन भगवान की अनुग्रह शक्ति ही भवपंक से जीवों का उद्धार कर सकती है। शरणागति (पारिभाषिक संज्ञा 'न्यास') ही अनुग्रह-शक्ति को प्रोद्बुद्ध करने के लिए प्रधान उपाय है । भगवान से निष्कपट रुप से यह प्राथना करना है कि 'मैं अपराधों का आलय हूँ, अकिञ्चन तथा निराश्रय हँ, ऐसी स्थिति में आप ही केवल मात्र उपाय बनिये' 'शरणागति' कहा जाता है ।[3]

---

[1] अहिर्बुध्न्यसंहिता - 5-17/24 ।
[2] "जयाख्यसंहिता का तत्वमीमांसीय एवम् आवासनिक विवेचन" अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, डॉ. शीतला प्रसाद पाण्डेय ।
[3] अहिर्बुध्न्यसंहिता - 37/31 ।

यह शरणागति छह प्रकार की होती है। 1. आनुकूल्यस्य संकल्पः, 2. प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् (भगवान के अनुकूल रहने का संकल्प ओर प्रतिकूलता को छोड़ना), 3. रक्षिष्यतीति विश्वासः ('भगवान रक्षा करेंगे' इसमें विश्वास), 4. गोप्तृत्वरणम् (भगवान को रक्षक मानना), 5. आत्मनिक्षेपः (आत्मसमप्रण) और 6. कार्पण्यम् (नितान्त दीनता)।[1] वैष्णव भक्त पञ्चकालज्ञ कहा जाता है क्योंकि वह अपने समय को पाँच भागों - अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय तथा योग में बाँटकर भगवत्पूजा में रत रहता है।[2]

इस उपासना के बल पर साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है। मुक्ति का नाम 'ब्रह्मभावापति' है,[3] क्योंकि इस दशा में जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है।[4] वह पुनः लौटकर इस संसार में नही आता। उस मोक्ष दशा में वह निरतिशय आनन्द का उपभोग करता है।

जयाख्य-संहिता का कहना है कि यह भगवत सम्पति नदियों की समुद्र प्राप्ति के समान है। जिस प्रकार भिन्न - भिन्न नदियों का जल समुद्र में प्रवेश कर तद्रुप बन जाता है तथा जल में भेद दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा की प्राप्ति होने पर योगियों की दशा

---

[1] लक्ष्मीतंत्र - 17/60-61A।

[2] A जयाख्यसंहिता - 22/68-74।
B नारदीयसंहिता - 30/2-4।

[3] जयाख्यसंहिता - 4/52।

[4] जयाख्यसंहिता - 4/50।

हो जाती हैं।[1] पाञ्चरात्रागम में मोक्ष के स्वरुप के लिए डॉ. शीतला प्रसाद पाण्डेय का विद्वतापूर्ण निबन्ध उल्लेखनीय है।[2]

[1] जयाख्यसंहिता - 4/13 ।

[2] पण्डित सुधाकर पाण्डेय अभिनन्दनग्रन्थ, मुद्रक अर्चना प्रिण्टर्स, पश्चिमी सीलमपुर, दिल्ली-1996, पृ. 324-326 ।

शैव तंत्र

शिव या रुद्र की उपासना वैदिक काल से ही इस भारत भूमि में प्रचलित है। यजुर्वेद में शतरुद्रीय अध्याय की पर्याप्त प्रसिद्धि है। तैत्तिरीय आरण्यक में समस्त जगत् रुद्ररुप बतालाया गया है।[1] श्वेताश्वतर में भगवान शिव सर्वाननशिरोग्रीव, सर्वभूत-गुहाशय, सर्वव्यापी तथा सर्वगत माने गये हैं, परन्तु इन उपनिषदों में तन्त्रशास्त्र-निद्रिष्ट पशुपति का स्वरुप उपलब्ध नहीं होता।[2] सर्वप्रथम अर्थवशिरस उपनिषद में पशुपतव्रत, पशु, पाश आदि तन्त्र के पारिभाषिक शब्दों की उपलब्धि होती है। इससे पाशुपत - मत की प्राचीनता सिद्ध होती है। महाभारत में शैवमतों का वर्णन है। वामन पुराण में शैवों के चार विभिन्न सम्प्रदाय बतलाये गये हैं- शैव, पाशुपत, कालदमन तथा कापालिक।[3] शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में महेश्वेरों का तथा उनके प्रसिद्ध पञ्च पदार्थों उल्लेख किया है।[4] इस सूत्र की भामती और रत्नप्रभा ने पुराणोक्त तृतीय नाम के स्थान पर 'कारुणिक सिद्धान्ती' भास्कर ने 'काठक-सिद्धान्ती' यामुनाचार्य ने 'कालामुख' नाम दिया है।[5] इस प्रकार माहेश्वर सम्प्रदाय चार हैं - पाशुपत, शैव, कालामुख और कापालिक। इन्ही धार्मिक मतों के मूल

---

[1] तैत्तिरीय आरण्यक -10/16।

[2] श्वेताश्वतर उपनिषद - 3/11।

[3] वामनपुराण - 6/86-91।

[4] ब्रह्मसूत्र - 2/2/37।

[5] आगमप्रामाण्यम् - पृ. 48-49।

ग्रन्थों में 'शैवागम' के नाम से पुकारते हैं। 'शैवतन्त्र' की वैदिकता के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में बड़ा विवेचन है। महिम्नस्तोत्र तथा ब्रह्म-सूत्र के तर्कपाद में पाशुपत मत वेदवाह्य माना गया है, परन्तु श्रीकण्ठाचार्य ने वेद तथा शिवागम को समभावेन माननीय तथा प्रामाणिक बतलाया है। अप्पयदीक्षित 'शिवाक्रमणिदीपिका' में शिवागम को वैदिक तथा अवैदिक दो प्रकार का मानते है।[1] वैदिक तन्त्र वेदाधिकारियों के लिए तथा अवैदिक तन्त्र वेदाधिकारहीन व्यक्तियों के लिए है। अतः दोनों की प्रामाणिकता न्यायसंगत है। पाशुपत का केन्द्र गुजरात तथा राजपूताना, शैवसिद्धान्त का तमिल देश, वीर शैव का कर्णाटक प्रान्त तथा स्पन्द या प्रत्याभिज्ञा केन्द्रस्थल काश्मीर है।

पाशुपत मत

इस मत के ऐतिहासिक संस्थापकों का नाम नकुलीश हैं। शिवपुराणान्तर्गत 'कारवण माहात्म्य' से इनका जन्म भड़ोच के पास 'कारवन' नामक स्थान में होना प्रतीत होता है। राजपूताना, गुजरात आदि नाना देशों में नकुलीश की मूर्तियाँ मिलती हैं, जिनका मस्तक केशों से ढका रहता है, दाहिने हाथ में बीजपूर के फल और बायें हाथ में लगुड या दण्ड रहता है। लगुड धारण करने के कारण ही इनका नाम 'लगुडेश' या 'लकुलीश' होना प्रतीत होता है। विक्रम द्वितीय के राज्यकाल 380 ई० का एक महत्वपूर्ण शिलालेख मथुरा से मिला है,

[1] शिवार्कमणिदीपिका - 2/1/28।

जिसमें उदिताचार्य नामक पाशुपत द्वारा गुरु मन्दिर में उपमितेश्वर और कपिलेश्वर नामक शिवलिंगों की स्थापना वर्णित है।[1]

पाशुपतों का साहित्य बहुत ही कम उपलब्ध है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शन संग्रह में 'नकुलीश पाशुपत' नाम से इसी मत के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का वर्णन किया है। जैन ग्रन्थकारों में राजशेखरसूरि ने अपने षड्दर्शनसमुच्चय में 'यौगमत' से इसी का उल्लेख किया है। न्यायसार के रचयिता काश्मीर-भासर्वज्ञ की 'गणिकारिका' में पाशुपतों के सिद्धान्त का संक्षिप्त विवरण है। इसकी विस्तृत 'रत्नटीका' व्याख्या वास्तव में रत्नरुपा है जिसके अज्ञातनामा लेखक ने 'सत्कार्य-विचार' नामक ग्रन्थ की रचना कर इस मत की पर्याप्त पुष्टि की है सौभाग्यवश पाशुपतों का मूल सूत्रग्रन्थ महेश्वर रचित 'पाशुपतसूत्र' है। कौण्डिन्यकृत 'पञ्चार्थीभाष्य' के साथ प्रकाशित है। इस पञ्चाध्यायी में कुल (168) सूत्र में पाशुपतों के पाँचों पदार्थों की विशद अत्यन्त प्रामाणिक निरुपण है।

पाशुपतों के अनुसार पाँच पदार्थ - कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त है।[2] कार्य उसे कहते हैं जिसमें स्वातन्त्र्य - शक्ति न हो। यह तीन प्रकार का होता है- विद्या, कला और पशु। जीव और जड़ दोनों का अन्तर्भाव कार्य में होता है, क्योंकि दोनों परतन्त्र होने से

[1] भारतीय दर्शन, पृ. 466, बलदेव उपाध्याय।

[2] ज्ञानमात्रे यथाशास्त्र साक्षाद दृष्टि दुर्लभा।
पञ्चार्थाद् यतो नास्ति यथावत् तत्वनिश्चयः।। सर्वदर्शनसंग्रह

परमेश्वर के अधीन है। जीवों की गुणरुपा विद्या दो प्रकार की होती है- बोध और अबोध।

1. बोधस्वभावा विद्या का ही नाम चित्त है, पशुत्व की प्राप्ति करने वाले धर्माधर्म से युक्त विद्या अबोध रुप है। चेतन के अधीन, स्वयं अचेतन पदार्थ, 'कला' कहलाता है। कार्यकारणरुपी कला से बद्ध होकर शब्दादि विषयों में सदा परवश होने से जीव 'पशु' संज्ञा से अभिहित किया जाता है।[1]

2. कारण - महेश्वर की जगत् की सृष्टि, संहार तथा अनुग्रह करने के हेतु 'कारण' पद वाच्य हैं। इनकी शास्त्रीय संज्ञा 'पति' है।[2] महेश्वर अपरिमित ज्ञानशक्ति से जीवों का प्रत्यक्ष करते हैं और अपरिमित प्रभुशक्ति से जीवों का पालन करते हैं। अतः ज्ञानशक्ति तथा पशुशक्ति के आश्रय होने से सर्वशक्तिमान् महेश्वर 'पति' पदवाच्य है। यह स्वतन्त्र, ऐश्वर्ययुक्त, आद्य एक तथा कर्ता है। वह अनुग्रहशक्ति का भी आश्रय है। इसकी इच्छा से जीवों का इष्ट अनिष्ट स्थान-शरीर विषयेन्द्रियों की प्राप्ति होती है। 'स्वतन्त्रः कर्ता[3] शिव में ज्ञानशक्ति के निवास होने से

---

[1] "पश्यनात् पाशनाच्च पशवः। पाशानाम कार्यकरणाख्याः कलाः। ताभिः पाशिताः बद्धाः सनिरुदद्धा शब्दादिविषयपरवशा भूत्वावतिष्ठन्ते" कौण्डिन्यभाष्य, पृ.5।

[2] आप्ति पाति च तान् पशूनित्यतः पतिर्भवति। तत्रैव

[3] कौण्डिन्य भाष्य -2/6।

वह परमेश्वर कहलाता है। समस्त जगत् का उत्पादक होने के कारण वह 'कारण' पदवाच्य है।

3. योग-चित्त के द्वारा आत्मा तथा ईश्वर के सम्बन्ध को योग कहते हैं।[1] यह दो प्रकार का होता है- क्रियात्मक, जिनमें जप, ध्यानादि की गणना है तथा क्रियोपरान्त-क्रिया की निवृत्ति अर्थात् भगवान में ऐकान्तिकी भक्ति, ज्ञान तथ शरणागति।

4. विधि-महेश्वर की प्राप्ति कराने वाला साधक-व्यापार विधि कहलाता है। मुख्य विधि की 'संज्ञा चर्या' है, जो व्रत और द्वार भेद से दो प्रकार की होती है। हसित, गीत, नृत्य, हुडडुक्कार, नमस्कार तथा जप्य भेद से उपहार छः प्रकार का है। साधक को महेश्वर की पूजा के समय हसने, गाने, नाचने, जीभ और तालु के संयोग से बैल की आवाज के समान हुड़हुड़ शब्द करने तथा नमस्कार आदि का अभ्यास करना चाहिए। इसी उपहार के साथ भस्मस्थान, भस्मशयन, जप तथा प्रदक्षिणा को पंचविध व्रत कहते है।[2]

5. दुःखान्त-अन्तिम पदार्थ का नाम दुःखान्त - दुःखो की अत्यन्तिक निवृति या मोक्ष है। पशु पाँच प्रका के दोषों से बन्धन में पड़ा

---
[1] पाशुपतसूत्र 5/2।
[2] पाशुपतसूत्र 1/8।

हुआ है। ये दोष 'मल' कहे जाते हैं, जिसके नाम- मिथ्या, अज्ञान, अधर्म शक्ति हेतु, च्युति तथा पशुत्व धर्म है।[1]

दुखान्त दो प्रकार का होता है- अनात्मक तथा सात्मक। अनात्मक दुःखान्त दुःखो की केवल आत्यन्तिकी निवृति है, परन्तु सात्मक में पारमेश्वर्य का लाभ होता हे, और दृक शक्ति तथा क्रिया-शक्ति का उदय होता है।

क्रिया शक्ति तीन प्रकार की है- 1. मनोजवित्व - किसी कार्य को अत्यन्त शीघ्र करने का सामर्थ्य, 2. कामरुपित्व-कर्मादि के बिना ईप्सित रुप का धारण करना, 3. विकरण धर्मित्व-इन्द्रिय की सहायता के बिना सब पदार्थों का जानना और करना, अर्थात निरतिशय ऐश्वर्य का लाभ। पातञ्जल योग का फल कैवल्य का लाभ है, पाशुपत योग का फल पारमेश्वर्य तथा दुःखान्त का लाभ है। अन्यत्र विधि का फल पुनरावृत्ति-सहित-स्वर्ग है, परन्तु पाशुपतविधि का फल पुनरावृत्ति रहित समीप्यादि है। इसी प्रकार अन्यत्र मोक्ष दुःखात्यन्तिक-निवृत्ति रुप है, परन्तु पाशुपत मोक्ष परमेश्वर्य प्राप्ति रूप है।

कापालिक और कालमुख सम्प्रदाय का उच्छेद प्रतीत होता है। किन्तु कभी भारत भूमि पर इनकी पर्याप्य ख्याति थी। यामुनाचार्य ने

---

[1] मिथ्याज्ञानमधर्मश्च शक्तिर्हेतुश्च्युतिस्तथा। पशुत्वं मूलं पञ्चैते तंत्रे हेयाधिकारतः।। गणकारिका-8।

इनका संक्षिप्त परिचय दिया है।[1] कापालिकों के अनुसार कर्णिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म तथा यज्ञोपवीत इन छह मुद्राओं के धारण करने से अपवर्ग की प्राप्ति होती है। अनेक गुप्त क्रियाओं का भी विधान है। कालामुख सम्प्रदाय में कपाल-पात्र-भोजन, शवभस्मस्नान, तत्प्राशन, लुगधारण आदि अनेक विधियों का अनुष्ठान दृष्ट और अदृष्ट सिद्धियों का कारण माना जाता है। गुप्त रखने के कारण इनकी लोकप्रियता कम होती जा रही है साथ ही अनुष्ठानों को समझना भी कठिन प्रतीत होता है।

शैव सिद्धान्त

शैव सिद्धान्त का प्रचार दक्षिण देश के तमिल प्रदेश शैवधर्म का प्रधान घर है। यहाँ के शैव भक्तों ने भगवान् भूतभावन शंकर की आराधना कर भक्ति रसपूरित भव्य स्तोत्रों तथा सिद्धान्त प्रतिपादक ग्रन्थों की अपनी मातृभाषा तमिल में की है, जो श्रुति के समान आदरणीय माने जाते हैं। सिद्धान्तियों के अनुसार अपर - ज्ञानरूप वेद केवल मुक्ति का साधन है, परन्तु परज्ञानरूप यही शिवशास्त्र मुक्ति का एकमात्र उपाय है। कामिक के उपागमों में 'मृगेन्द्र' तन्त्र नारायण - कण्ठ की वृत्ति और अधोर शिवाचार्य की दीपिका के साथ प्रकाशित हुआ है।

---

[1] आमप्रामाण्यम्, पृ. 48।

अवान्तर काल में अनेक विद्वान् शैवाचार्यों ने इन तन्त्रों के सिद्धान्त को प्रतिपादन करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया। इनमें आठवीं शताब्दी में आविर्भूत आचार्य 'सद्योज्योति' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके गुरु का नाम 'उग्रज्योति' था। सद्योज्योति के महत्वपूर्ण ग्रन्थ है- नारेश्वरपरीक्षा, रौरवागम की वृत्ति, स्वायम्भुव आगम पर उद्योत तथा तत्वसंग्रह, तत्वत्रय, भोगकारिका, मोक्षकारिका, परमोक्ष निरासकारिका।

नारायणकण्ठ के पुत्र रामकण्ठ ने सद्योज्योति के ग्रन्थों पर पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यायें तथा मौलिक ग्रन्थ लिखा है, जिनमें 1. प्रकाश 2. मातंगवृत्ति 3. नादकारिका 4. मोक्षकारिका वृत्ति 5. परमोक्षनिरासकारिका वृत्ति प्रकाशित हो गयी है। रामकण्ठ के अन्तेवासी श्रकण्ठसूरि ने 'स्तवत्रय' लिखा है। उत्तुंगशिवाचार्य के शिष्य भोजराज रचित 'तत्वप्रकाशिका' माननीय ग्रन्थ है जिसका निर्देश 'सूतसंहिता' की टीका में अमात्य माधव ने किया है।

शैवसिद्धान्त की दार्शनिक दृष्टि भेद प्रधान है। इसके अनुसार शिव शक्ति और बिन्दु ये त्रिरत्न के नाम से प्रख्यात है। ये समस्त तत्वों के अधिष्ठाता तथा उपादानरुप से प्रकाशमान होते है। शुद्धतत्वमय शुद्ध जगत के कर्ता शिव, करण शक्ति तथा बिन्दु है। बिन्दु का नाम महामाया है। यही बिन्दु शब्द ब्रह्म कुण्डलिनी, विद्याशक्ति तथा व्योम, इन विचित्र भुवन भोग्य रूप में परिणत होकर

शुद्ध जगत की सृष्टि करता है। क्षुब्ध होने पर इस बिन्दु से एक ओर शुद्ध देह, इन्द्रिय भोग और भुवन की उत्पत्ति है (शुद्ध अध्वा) दूसरी ओर शब्द का भी उदय होता है।[1] सूक्ष्मनाद, अक्षर बिन्दु और वर्णभेद से शब्द तीन प्रकार का होता है।

शिव की दो शक्तियां है- समवायिनी तथा परिग्रहरूपा। समवायिनी शक्ति चिद्रूपा, निर्विकारा और परिणामिनी है। परिग्रहशक्ति अचेतन तथा परिणाम शलिनी है।

शैव सिद्धान्त के अनुसार पति (शिव), पशु (जीव) पाश (मूल कर्म आदि अर्थपञ्चक) तीन पदार्थ है। पति से अभिप्राय परमेश्वर परम शिव से है। परमैश्वर्य, स्वातन्त्र्य तथा सर्वज्ञत्व पति के असाधारण गुण हैं।

सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुग्रह - इन कृत्यपञ्चक के कर्ता साक्षात् शिव है।[2]

पशु को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि अणु, परिच्छिन्नरुप तथा सीमित शक्ति से समन्वित क्षेत्रज्ञ जीव है। मल तीन प्रकार का आणव मल, कार्मण मल तथा मायीय मल है। जिन पशुओं में विज्ञान, योग तथा सन्यास से या भोग मात्र से कर्मक्षीण हो जाते हैं

---

[1] जायतेऽध्वा यतः शुद्धो वर्तते यत्र लीयते। स बिन्दुः परनादाख्यः नादविन्द्वकारणम्।। रत्नयत्र, कारिका 22।

[2] तत्व - प्रकाशिका, कारिका 7, भोजराज।

तथा जिनमें कर्मक्षय के कारण शरीर बन्ध का उदय नहीं होता, उन्हे विज्ञानाकल कहते हैं। इनमें केवल आणव मल अवशिष्ट रहता है। दूसरे प्रकार के जीव में प्रलयदशा में शरीरपात होने से मायीय मल तो नहीं रहता, परन्तु आणव तथा कार्मण मल की सत्ता बनी रहती है, परन्तु सकल पशुओं में पूर्वोक्त तीनों मल मौजूद रहते हैं।

पाश का अर्थ है बन्धन जिसके द्वारा स्वयं शिवरूप होने पर भी जीवों को पशुत्व प्राप्ति होती है। ये चार प्रकार के हैं- मल, कर्म, माया तथा रोधशक्ति। जिस बन्धन के कारण जीव की नैसर्गिक ज्ञान-ज्ञान-क्रिया-शक्ति का तिरोभाव हो जाने से वह परिच्छिन्न बन जाता है उसका नाम है - मल। मल की उपमा तण्डुल के छिलके और ताम्र स्थित कालिमा से दी जाती है[1] जो शिव शक्ति से निवृत होता है।

फलार्थी जीवों से किये गये, धर्माधर्मरुप, बीजांकुर न्याय से अनादि कार्य कलाप को कार्य कहते हैं। प्रलयकाल में जीव जिसमें लीन हो जाते है तथा सृष्टिकाल में जिससे उत्पन्न होते हैं उसे 'माया' नाम से सम्बोधित करते हैं। यहाँ माया वस्तुरुपा है, अनिर्वचनीयरुपा नहीं है।[2] रोधशक्ति पाशों से अधिष्ठत रहती है। इसलिए इसमें पाशत्व औपचारिक है।

---

[1] एको हयनेक शक्तिर्दृकक्रियोश्छादको मलः पुंसः। तुषतण्डुलवज्ज्ञेयस्ताम्रस्थित कालिकावद् वा।। तत्व प्रकाशिका, कारिका-18।

[2] माया च वस्तुरुपा मूलं विश्वस्य नित्या सा। तत्वप्रकाशिका, कारिका 9।

मलापनयन का साधन परमशिव की अनुग्रह शक्ति है, जिसे 'शक्तिपात' कहते है। भगवान के अनुग्रह से ही जीव भवबन्धन से मुक्त होकर शिवत्व लाभ करता है। इसी को 'दीक्षा' नाम दिया गया है।[1]

वीरशैव सिद्धान्त

वीरशैव मत के अनुयायियों का नाम लिंगायत या जंगम है। इनके विलक्षण आचार है। ये वर्णव्यवस्था को नहीं मानते, यद्यपि इसके आद्य प्रवर्तक ब्राह्मण थे। ये लोग शंकर लिंगात्मक मूर्ति को गले में हर समय लटकाये हुये रहते हैं। कर्णाटक देश में वीरशैव धर्म का बहुत प्रचार है। इस मत के आद्य प्रचारक का नाम 'वसव', (12वीं शताब्दी था) जो कलचुरि - नरेश बिज्जल के मन्त्री बतलाये जाते हैं। वीर शैवों का कथन है कि यह मत नितान्त प्राचीन है। पाँच महापुरुषों ने इस मत का भिन्न-भिन्न समयों में उपदेश किया है। इनके नाम रेणुकाचार्य, वारुकाचार्य, एकोरामाचार्य, पण्डिताराध्य तथा विश्वाराध्य हैं, जिन्होने क्रमशः सोमेश्वर, सिद्धेश्वर, रामनाथ, मल्लिकार्जुन तथा विश्वनाथ नामक प्रसिद्ध शिवलिंगों से आविभूत होकर शैव धर्म का प्रचार किया। इन्होंने क्रमशः 'वीर' सिंहासन को रम्भापुरी में, 'सन्द्धर्म' सिंहासन को उज्जयिनी में, 'वैराग्य' सिंहासन को केदानाथ के पास

---

[1] दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुबन्धना। दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता।। तन्त्रालोक, पृ. 83।

ऊखी मठ में, 'सूर्य' सिंहासन को 'श्रीशैल' में तथा ज्ञान सिंहासन को काशी में स्थापित किया। सिद्धान्त के 28 आगम इन्हें भी मान्य हैं। श्रीपति ब्रह्मसूत्र पर 'श्रीकर' भाष्य लिखकर इस मत की उपनिषत्मूलकता प्रदर्शित की है। श्री शिव योगी शिवाचार्य का 'सिद्धान्त-शिखामणि' वीर शैव का माननीय ग्रन्थ है।

वीरशैवसिद्धान्त शक्तिविशिष्टाद्वैत तथा कर्म-प्रधान है। यह निष्काम कर्म का मार्ग प्रदर्शित करता है इसलिए इसे वीर धर्म या वीरमार्ग भी कहते है।

शक्तिविशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ है शक्तिविशिष्ट जीव और शक्ति विशिष्ट शिव, इन दोनों का सामरस्य अर्थात परस्पर एकाकार होना।[1] स्थूल चिदचिदात्मक शक्तिविशिष्ट जीव और सूक्ष्म चिदचिदात्मक शिव इन दोनों का अद्वैत ही शक्तिविशिष्टाद्वैत कहा जाता है।

शक्ति का अर्थ होता है - परम शिव, ब्रह्म में अपृथक् सिद्ध होकर रहने वाला विशेषण। 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' मत में जो 'शक्ति' है, उसके 'सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट शक्ति' और 'स्थूलचिदचिद्विशिष्ट शक्ति' नामक ये दो भेद हैं। इनमें पहली शक्ति से 'पर शिव' का ग्रहण होता है तथा दूसरी से 'जीव' का।

---

[1] शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती, ताभ्यां विशिष्टौ जीवेशौ शक्तिविशिष्टौ। तयोरद्वैतं शक्ति विशिष्टाद्वैतम।।

धर्मरूप शक्ति धर्मीरूप शिव से भिन्न नहीं है। शक्तितत्व से लेकर पृथीवी तत्व पर्यन्त यह सारा संसार शिवतत्त्व से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार शिव ओर शक्ति में अभिन्न सम्बन्ध है। शक्ति पर शिव ब्रह्म में अत्यन्त गुप्त रीति से रहती है। इस विषय का बोध करते हुए शक्ति के नित्यत्व को उद्घोषित किया गया है।[1]

वीरशैव सिद्धान्त में शिव और शक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध कहा गया है। जो सम्बन्ध पृथक् नहीं किया जा सकता, उसे समवाय सम्बन्ध कहते है। जैसे सूर्य से प्रभा का और चन्द्र से चन्द्रिका का। इसलिए इस मत में ब्रह्म का शक्ति से नित्य सम्बन्ध माना गया है। पर ब्रह्मास्थित विमर्श शक्ति ही सूक्ष्म चिदचिदात्मिका शक्ति कही जाती है। जो परमब्रह्निष्ठ चिच्छक्ति है, वह सर्वज्ञतारू है और जो सूक्ष्म अचिच्छक्ति है, यह सर्वकर्तृव्य रूप है। इन दोनों शक्तियों की आश्रयरूपा इच्छाशक्ति ही विमर्शशक्तिरूप कही जाती है।

वीर शैव मत के अनुसार यह जगत् सत्य है। इन लोगों का कहना है कि शक्तिविशिष्ट पर शिव से समुत्पन्न हुआ यह चराचरात्मक सकल जगत् मिथ्या नहीं, किन्तु सत्य है। तैत्तिरीय श्रुति भी इसी विषय का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करती है। श्री रेणुकाचार्य ने भी अगस्त्य

---

[1] यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृटता पुराणी।।
तदीया परमा शक्तिः सच्चिदानन्द लक्षणा।
समस्त लोक निर्माण समवायत्वरूपिणी।।
तदिच्छयाऽभवसाक्षात् तत्स्वरूपानुकारिणी।। सिद्धान्त शिखामणि, परिच्छेद - 2।

महर्षि को उपदेश देते हुए जगत् की नित्यता का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है।[1]

उनका मत है कि जैसे कछुआ एक समय में पैरों को बाहर निकालता है पानी में चलता रहता है तथा दूसरे समय में उन पैरों कों छिपा कर अपने में चुपचाप बैठा रहता है, वैसे ही परशिव अपने में नित्य सम्बन्ध से रहने वाले जगत् का एक समय में विकास करता है और दूसरे समय में संकोच करता है। कछुआ जब अपने पैरों को बाहर निकालता है, तब उन पैरों की उत्पत्ति कहना, फिर जब भीतर छिपाता है, तब उन पैरों का नाश कहना जैसे अत्यन्त हास्यस्पद है, वैसे ही सत्य और नित्य इस प्रपञ्च की उत्पत्ति और नाश कहना अत्यन्त हास्यस्पद है। अतएव उत्पत्ति ओर नाश शब्दों की जगह 'शक्ति-विकास' ओर 'शक्ति-संकोच' कहना अधिक उपयुक्त होगा।[2]

वीरशैव मत जीव को शिवांश रूप ही मानता है।[3] इस मत में शिव और जीवों का पारमार्थिक भेदाभेद बतलाया गया है।

---

[1] यस्मादेतत् समुत्पन्नं महादेवाच्चराचरम्। तस्मादेतन्न भिद्यते यथा कुम्भादिकं मृदः।।
शिवतत्वात् समुतपन्नं जगदस्मान्न भिद्यते। फेनोर्मिबुद्बुदाकारो यथा सिन्धोर्न भिद्यते।।
यथा पुष्प पलाशादिर्वृक्षरूपान्न भिद्यते। तथा शिवात् पराकाशाद् जगतो नास्ति भिन्नता।।
सिद्धान्तशिखामणि

[2] आत्मशक्ति विकासेन शिवो विश्वात्मना स्थितः। कुटीभावाद्यथवा भाति पटः स्वस्थ प्रसारणात्।
तत्रैव।

[3] अनाद्यविद्यासम्बन्धात् तदंशो जीवनामकः।। तत्रैव।

सच्चिदानन्द-स्वरूप, सत्य, नित्य आद्यन्तरहित और सर्वशक्ति-समन्वित उस पर शिव ब्रहम् में अविनाभाव सम्बन्ध से विद्यमान विर्मश-शक्ति का स्फुरण ही तत्वरुप से परिणत होता है। ये तत्व छत्तीस प्रकार के होते है, जिनमें से मुख्य तत्त्वों के नाम शिव शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, माया, विद्या, पुरुष, प्रकृति, मन और अहंकार आदि है। वीर शैव मत के ये छत्तीस तत्व सांख्यों के छब्बीस तत्वों के प्रायः समान ही हैं। जब परशिव ज्ञानशक्ति से एकाकार होकर 'मै सर्वेश हूँ' इस प्रकार के अभिनान को प्राप्त कर लेता है, तब उसे 'शिवतत्व' कहते हैं। परिशव जब क्रिया शक्ति में लीन होकर मैं सर्वकर्ता हूँ ऐसे अभिमान से युक्त हो जाता हैं, तब वह शक्ति कहलाता है। इसी प्रकार परशिव में भिन्न-भिन्न शक्तियों के योग से भिन्न-भिन्न तत्वों की उत्पत्ति समझनी चाहिए।

वीरशैव सिद्धान्त में परशिव ब्रह्म 'स्थल' नाम से निर्देश किया गया है।[1] यह चराचर जगत् जिसमें उत्पत्ति और लय को प्राप्त होता है, यही ब्रह्म 'स्थल' नाम से पुकारा जाता है। 'स्थल' रूपी यह परशिव अपनी लीला से 'अंगस्थल' और 'लिंगस्थल' दो नामों से पुकारा जाता है इसी तरह लिंग और अंग के भी तीन-तीन भेद होते है यद्यपि इन विभिन्न अंग और लिंगों की सत्ता भिन्न दिखायी देती है, परन्तु अन्त में शुद्धात्मा अंग नामक जीव का लिंग नाम शिव में

[1] स्थीयते लीयते यत्र जगदेतत्च्वराचरम्। तद् ब्रह्मस्थल मियुक्तं स्थल तत्वविशारदः।। सिद्धान्त शिखामणि।

सामरस्य प्राप्त कर लेना ही 'लिंगांग-सामरस्य' कहलाता है। यही है 'शिव तथा जीव का ऐक्य' और यही शक्तिविशिष्टाद्वैत मत का सार है।[1]

जीव को अपनी स्वाभाविकभक्ति शक्ति से परमशिव के साथ जो एकभावापत्ति है वही मुक्ति कहलाती है।[2] यह संसार तथा जीव शिवरूप ही है, अतः नितान्त सत्य है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन

प्रागैतिहासिक शैवधर्म, जिसके प्रमाण हमको आगे चलकर सिन्धुघाटी की सभ्यता से मिलते हैं, काश्मीर की केसर भूमि में कब और कैसे आया, यह कहना कठिन है। राजतरंगिणी के विभिन्न सन्दर्भो के अनुसार यह स्पष्ट है कि अशोक के पूर्व से ही शिव की आराधना एवं अर्चना काश्मीर में प्रचलित थी, जो विभिन्न राजाओं का आश्रय पाकर विभिन्न युगों में पल्लवित और पुष्पित होती है।[3] अद्वैतप्रधान त्रिकदर्शन का प्रर्वतन आठवीं शताब्दी से पूर्व नही माना जा सकता। जिसे आज काश्मीर शैव दर्शन कहा जाता है उसका शास्त्रीय नाम त्रिकशासन अथवा त्रिक है। इसी को रहस्यसम्प्रदाय तथा त्र्यम्बकसम्प्रदाय भी कहा गया है। सिद्धा, नामक तथा मालिनी इन तीन

---

[1] शक्तिविशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त, काशीनाथशास्त्री, काशी।

[2] तस्माद् लिंगागसंयोगात् परामुक्तिर्न विद्यते, सिद्धान्तशिखामणि।

[3] अर्ली हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ काश्मीर पृ. 169-72।

आगम - समूह, पति पाश और पशु देवी के परा, अपरा तथा परापरा इन तीन रूपों को मानने के कारण, भेद, अभेद तथा भेदाभेद की व्याख्या के कारण इसे त्रिक कहा जाता है ।[1]

यद्यपि त्रिकदर्शन का व्यवस्थित प्रवर्तन काश्मीर नवीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ है किन्तु आगमों तथा गुरु परम्परा के आधार पर इस दर्शन का निर्माण हुआ वे इनसे काफी प्राचीन हैं, गो कि उनका समय निश्चित कर पाना अवश्य कठिन है । त्रिक दर्शन के आधारभूत शास्त्रों का तीन शाखाओं में विभाजन किया जाता है ।[2] 1.आगम शास्त्र 2. स्पन्दशास्त्र तथा 3. प्रत्यभिज्ञा शास्त्र । इनमें प्रथम महत्व स्वभावतः शैवागमों का है ।

'आगमशास्त्र' से तात्पर्य उन ग्रन्थों से है जिनके आदि प्रवर्तक भगवान् शिव बतलाये जाते हैं ऐसे ग्रन्थों में मालिनी - विजयोत्तर तन्त्र, विज्ञान भैरव, स्वच्छन्द तन्त्र, नेत्रतन्त्र, स्वायम्भुव तन्त्र तथा रुद्रयामल की गणना की जाती है जिनमें 'मालिनी - विजय' ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है । इन तंत्र - ग्रन्थों में से अनेक की व्याख्या प्रख्यात शिवाचार्यों ने की है ।

स्पन्दशास्त्र इस दर्शन के साधनापक्ष से सम्बन्ध रखता है । 'स्पन्द इस दर्शन का महनीय तत्व है । परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति ही

---

[1] अभि., पृ.295.96 ।
[2] काश्मीर शैवदर्शन - बलजिन्नाथ पण्डित, पृ. 17 ।

किञ्चित चलनात्मक होने के कारण 'स्पन्द' नाम से अभिहित की जाती है। स्पन्द परशिव का नित्य स्वभाव है। स्पन्दकारिका इस शास्त्र का मूल ग्रन्थ हैं। वसुगुप्त इस स्पन्दकारिका के प्रणेता हैं। स्पन्दकारिका के गूढ़ अर्थ के प्रकटन के लिए स्पन्दप्रदीपिका, स्पन्दसन्दोह मुख्य मानी जाती है।

इस शास्त्र का मूल ग्रन्थ सोमानन्द की शिवदृष्टि है। इनका कला ८00 ई0 के लगभग है। सोमानन्द अपने व्याख्यात सिद्धान्तों को भगवान् शिव की प्रेरणा का फल मानते हैं। शिवदृष्टि पर उत्पलकृत वृत्ति तक ही उपलब्ध है। शिवदृष्टि दार्शनिक शैली में निबद्ध तक्र बहुल ग्रन्थ है तथा सात आन्हिकों में है।

इस शास्त्र की प्रौढि प्रदान करने का श्रेय सामानन्द के शिष्य उत्पलदेव को है। इनकी प्रतिभा का प्रकाशन ग्रन्थरत्न है - ईश्वरप्रत्यभिाकारिका चार अध्यायों में विभक्त छन्दोमयी रचना, जिसके पद्य 'सूत्र' कहे गये हैं। इनका समय 825 से 850 ई0 के आसपास है।

उत्पल के प्रशिष्य तथा लक्ष्मण गुप्त के शिष्य अभिनव का नाम दर्शन तथा साहित्य संसार में सबसे अधिक प्रसिद्ध है जिस प्रकार 'अभिनवभारती' तथा 'लोचन' ने इनका नाम साहित्य - जगत में अमर कर दिया है, उसी प्रकार ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, मालिनीविजयवार्तिका, परमार्थसार, परात्रिंशिकाविवृति ने त्रिकदर्शन के

इतिहास में इन्हें अमर बना दिया है। इनके विपुलकाय, 'तन्त्रालोक' को तन्त्रशास्त्र का विश्वकोष कहना चाहिए। साहित्य तथा दर्शन का सुन्दर सामञ्जस्य करने का श्रेय महामहेश्वराचार्य अभिनवगुप्ताचार्य को है। सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होने के अतिरिक्त ये अलौकिक सिद्ध पुरुष थे। ये अर्धत्र्यम्बकमत के प्रधान आचार्य शम्भुनाथ के शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ सम्प्रदाय सिद्ध कौल थे। इनका काल 950 से 1000 ई0 के लगभग है।

क्षेमराज (975 से 1025 ई0) अभिनव जैसे गुरु के सुयोग्य शिष्य थे। व्यापकता की दृष्टि से इनके ग्रन्थ अभिनव से कुछ ही न्यून हैं। इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं- 1. शिवसूत्र-विमर्शिनी, (2-4) स्वच्छन्द-तन्त्र, विज्ञानभैरव तथा नेत्रतन्त्र पर उद्योत टीका, 5. प्रत्यभिज्ञाहृदय, 6. स्पन्दसन्दोह, 7. शिवस्तोत्रावली टीका आदि।

इनके अतिरिक्त इस मत के मान्य ग्रन्थ हैं- योगराज कृत परमार्थ सार-टीका (1060 ई0) जयरथ लिखित तन्त्रालोक-टीका, भास्कर कण्ठ रचित ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-टीका, गोरक्ष रचित 'परिमल सहित' महार्थमञ्जरी'।

त्रिक दर्शन तथा शाक्त दर्शन की आध्यात्मिक दृष्टि अद्वैतवाद की है। दोनों के मत में एक ही अद्वैत परमेश्वर परम तत्व है जो शिव तथा शक्ति का कामेश्वर ओर कामेश्वरी का, सामरस्य-रूप है यह आत्मा परमतत्व चैतन्यरूप है तथा स्वयं निर्विकार रूप से जगत् के समस्त

पदार्थों अनुस्यूत है। इसी का नाम चैतन्य परा संवित्, अनुत्तर परमेश्वर तथा परमशिव है। परमेश्वर के दो भाव हैं- 'विश्वात्मक' तथा 'विश्वोत्तीर्ण'। विश्वात्मक-रूप से परमशिव प्रत्येक वस्तु में व्यापक रहता है, परन्तु व्यापक होते हुए भी वह अपने विश्वोत्तीर्ण रुप से सब पदार्थों को अतिक्रमण करता है। यह नाना विचित्रता-संवलित जगत् परमशिव से नितान्त अभिन्न है तथा उसका स्फुरण मात्र है।[1] परम शिव ही स्वयं इस विश्व का उन्मोलन करते हैं। इसमें न तो किसी उपादान की आवश्यकता है न किसी आधार की। परम स्वातन्त्र्य-शक्ति सम्पन्न परमेश्वर स्वेच्छया स्वभित्ति में अपने ही आधार में जगत् का उन्मीलन करते है।[1]

त्रिकदर्शन पूर्णरूपेण अद्वैतवादी है। इसका नाम 'ईश्वराद्वयवाद' है। एक परमेश्वर ही केवल तत्त्व है। अज्ञान, माया या जगत् आत्मा का स्वातन्त्र्यमूलक अर्थात् स्वेच्छापरिगृहीत रूप है। नट के समान परमेश्वर अपनी इच्छामात्र से नाना प्रकार की भूमिका ग्रहण करता है। वह स्वतन्त्र है, अपने रुप को ढकने में भी समर्थ है और प्रकट करने में भी समर्थ है, अज्ञान उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति का विजृम्भणमात्र है।

यह विश्व चिन्मयी शक्ति का स्फुरण है, अतः कथमपि असत्य नहीं हो सकता। परिणामवाद में वस्तु का स्वरूप तिरोहित होकर अन्य

[1] "श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण विश्वात्मक परमानन्दमय - प्रकाशैक - धनस्य अखिलभेदेनैव स्फुरति, न तु वस्तुतः अन्यत् किंचित् ग्राह्य ग्राहकं वा, अपि तु श्री परमशिवभट्टरक एवेत्थं नानावैचित्र्यसहस्सैः स्फुरति"। प्रत्याभिज्ञा हृदय, सूत्र 3।

आकार ग्रहण करता है प्रकाशतनु शिव के प्रकाश के तिरोधान होने पर तो यह जगत् ही अन्धा हो जायेगा। अतः न तो विवर्तवाद हृदयंगम प्रतीत होता है, न परिणामवाद, प्रत्युत स्वातन्त्र्यवाद या आभासवाद ही बुद्धिगम्य होने से प्रामाणिक है।

तन्त्रशास्त्र के अनुसार तत्वों की संख्या 36 है। स्वकीय कार्य धर्मसमुदाय में या स्वसमान गुणवाली वस्तु में, सामान्य रूप से व्यापक पदार्थ को तत्व कहते है।[2]

इन्हें तीन भागों में विभक्त करते हैं - शिवतत्त्व, विद्यातत्त्व और आत्मतत्त्व। शिवतत्त्व- 1. शिवतत्त्व और 2. शक्ति तत्त्व। विद्यातत्त्व तत्व में तीन तत्व गृहीत हैं - 3. सदाशिव, 4. ईश्वर और 5. शुद्ध विद्या। आत्मतत्त्व में 31 तत्व अन्तर्भूत हैं - 6. माया, 7. कला, 8. विद्या, 9. राग, 10. काल, 11. नियति, 12. पुरुष, 13. प्रकृति, 14. बुद्धि, 15. अहंकार, 16. मन, 17-21. श्रोत, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, प्राण, 22-26. वाक्, पाणि, पाद, वायु, उपस्थ, 27-31, आकाश, वायु, वन्हि, सलिल तथा भूमि।

शिव तथ शक्ति को अभेद कल्पना यहाँ मान्य है। इन दोनों का अभेद उसी भांति बनता है जिस भांति चन्द्रमा और चन्द्रिका का नित्य योग। चन्द्रमा न तो अपनी चाँदनी को छोड़कर एक क्षण टिका सकता

[1] "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मोयति"। प्रत्यभिज्ञाहृदय, सूत्र 2।

[2] तंत्रालोक - 6/4-5।

है ओर न चाँदनी चन्द्रमा के बिना रह सकती है। दोनों अद्वैत रुप में सदा एक संग रहते है। शिव तथ शक्ति का भी यही नियम है। तन्त्रों का यह सिद्धान्त सोमानन्द को अक्षरशः पूर्णतया मान्य है। आचार्य सोमानन्द का कथन है कि शक्ति से सम्पन्न शिव ही अपनी इच्छा से पदार्थों का निर्माण करता है। शक्ति तथा शिव में भेद की कल्पना कथमपि नहीं की जा सकती।[1] विमर्श का ही दूसरा नाम स्फुरता, स्पन्द, महासत्ता परा तथा वाक् आदि है।

चित् अथवा परासंवित् नाम से परम तत्व व्यवहृत होता है। 'चित्' कल्पना बड़ी विलक्षण है। यह निरपेक्ष सत्ता है जो किसी प्रमेय के ज्ञान पर कभी आश्रित नहीं रहती। यह परिवर्तनशील अनुभूति का अपरिवर्तनशील तत्त्व है। शैवागम इस परमतत्व को प्रकाश-विमर्शात्मक बतलाता है। 'प्रकाश' का अर्थ आलोक है। जैसे आलोक प्रत्येक वस्तु को प्रकाशित कर दृष्टिगोचर बनाता है, वैसे ही तत्व की स्थिति रहने पर अन्य समस्त वस्तुएँ प्रकाशित होती है।

शैवागम में शिव ईश्वर तथा चेतन है, फलतः वह केवल प्रकाशत्मा न होकर विमर्शात्मक है। चिति प्रत्यवमर्श स्वरूप है, वही परावाक् है। परमेष्ठी का स्वातन्त्र्य ही उसका मुख्य ऐश्वर्य भाव है।[2]

---

[1] शिवदृष्टि - 3/2/3, सोमानन्द।

[2] चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता। स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तत् ऐश्वर्य परमेष्ठिनः।। प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी 1/204।

त्रिकदर्शन के अनुसार बन्धन का कारण अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ यहाँ ज्ञान का अभाव नहीं है अपितु उस परिमित ज्ञान से है जो जगत् के जीवों में होता है। इस अज्ञान का परिभाषिक शब्द मल है। मल तीन प्रकार का है - आणव, मायीय तथा कार्मण। इसी से जीव बन्ध में पड़ जाता है।

मल - प्रक्षालन के लिए जो उपाय है उसे 'समावेश' नाम से अभिहित किया गया है। समावेश का अर्थ परिमित का परमोच्च तथा लघु का परम महान में डुबो देना। चार प्रकार के उपाय - क्रियोपाय, ज्ञानोपाय, इच्छोपाय तथा आनन्दोपाय। यही साधन है।

गणपति सम्प्रदाय

गणेश की पूजा करने वाले गाणपत्य कहलाते हैं। गणेश आदि पूज्य देव के रूप में हिन्दू धर्म में माने जाते हैं। भगवान गणपति का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि में हुआ। ये विघ्नों के नाश करने वाले सिद्धि दाता तथा सर्वाग्य पूज्य हैं। यही कारण है कि चाहे सम्प्रदाय कोई भी क्यों न हो प्रत्येक हिन्दू को जिस किसी भी कार्य को प्रारम्भ करना होता है वह सर्वप्रथम गणपति की ही पूजा करता है।

आक्सफोर्ड के लाख्डन प्रेस से प्रकाशित "गणेश ए मोनोग्राफ द एलीकेण्ट फेस्ट गाड" नामक पुस्तक में भारत के अतिरिक्त चीनी, तुर्कीस्तान, चीन, तिब्बत, जापान, बर्मा, श्यामा, हिन्द-चीन, जावा, बाली तथा बोर्नियों में इनकी प्रतिमायें मिलती हैं और पूजा होती है। पण्डित बलदेव उपाध्याय ने पुराण विर्मश में बौद्ध धर्म के साथ गणपति के पूजा का चलन तथा अमेरिका में भी गणेश की मूर्ति मिलने का उल्लेख किया है। ब्राह्माण्ड का कोई भी ऐसा भाग नहीं है, जहाँ गणेश का निवास नहीं है।

ऋग्वेद में गणेश की पूजा का उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है। एक स्थान पर 'गणानां त्वा गणपतिः' का उल्लेख है। याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका के लक्ष्मी भाष्य में बालम ने इसे गणेश पूजन कहकर उल्लेख किया है। इसी प्रकार मंत्र संख्या 2/23/1 में गणेश

के लिए 'कविः कविनाम' तथा 'जयेष्ठ राज' विशेषणों का प्रयोग किया गया है। यही इन्हें विद्या धारादि देव, गणों के पति, त्रिकालदर्शी अमितान्वान, सकलदेवोक्त 'मंत्रो के स्वामी' रक्षण शक्ति वाला बताया गया है। ऋग्वेद की शाकल संहिता में उल्लिखित 'ज्येष्ठ राज' जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है के समान भाष के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' के नन्दि श्लोक में 'वत्सराज' का उल्लेख है। महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री ने इसकी व्याख्या में ज्येष्ठराज को वत्सराज (कार्तिकेय) का जेठा भाई बताया है। यही बात तैत्तिरीय संहिता से भी स्पष्ट होती है। मैक्समूलर ने बताया है कि 'अथर्ववेद में तीन आखों वाले नंगे दानव शिव उनकी महाशक्ति नृशंशकाली और उनके दो कुमार हस्तीमुख गणेश और षडमुख कार्तिकेय का अस्तित्व नहीं है। किन्तु ऊपर के विवरण में ज्येष्ठराज अर्थात गणेश के होने से उनके माता-पिता की प्रमाणिकता स्वयं सिद्ध होती है। 'प्रतिज्ञायागन्धरायण' में भाष ने वत्सराज का उल्लेख देव पक्ष में कार्तिकेय के लिए किया है। देव भ्राता गणपति और कार्तिकेय है। अतः तैत्तिरीय संहिता में प्रयुक्त ज्येष्ठराज गणेश का ही सूचक है। शुक्ल - यजुर्वेद के दो गायत्री मंत्र है। गणेश के गजवदन का विषद वर्णन वेद में है। मिस्र देश में बहुत से देवताओं के मुख पशुओं के समान थे। अथर्ववेद में एकदन्त शब्द का प्रयोग है। पुराणों के अनुसार परशुराम ने गणेश का एकदन्त काट दिया था। इससे वह एकदन्त कहलाये। ब्राह्मणों एवं

आरण्यकों में भी गणेश पूजा की चर्चा है। तैत्तिरीय आरण्यक में उनके हस्थितुण्ड और दन्त के ध्यान करने का उल्लेख है।

कई उपनिषद, कई उपनिषद् तो गणेश से सम्बन्धित है। जैसे गणेश कुल तापनीयोपनिषद गणेशोतर तापनीय उपनिषद गणपति उपनिषद आदि। इननें गणेश जी के विभिन्न स्वरुपों का वर्णन है। एक में कहा गया है कि वे चतुर्भुजी हैं। उनका रंग लाल है। उनका सूढ़ टेढ़ा है। एक में उन्हे गणसमूहों का पति बताया गया है। कहीं उन्हें विध्नहन्ता, लम्बोदर, मूषकध्वज, सूप्र कर्ण, पाश-अंकुश, अभय और वरद मुद्रवाला बताया गया है।

वेदांग में हर गौरी और उनके दो पुत्र गणेश और कार्तिकेय की लीला कथाएं वर्णित है। अष्ट्राध्यायी के 5/3/99 में 'जीवकार्थे चापण्ये' तथा 5/3/96 में 'प्रतिकृतौ' की व्याख्या करते हुए भाष्यकर पातंजलि ने मूर्तिपूजा का तथ कैयट ने शिव, विशाख और गणपति मूर्तियों का उल्लेख किया हे।

सूत्र ग्रन्थों में गणेश पूजा की चर्चा प्राप्त होती है मानव गृह्यसूत्र में इन्हे विनायक कहा गया है। बौद्धायन गृह्य सूत्र में उपासना की विधि बतायी गयी है। इसी सूत्र में इनका उल्लेख है। अतः यह कहना कि गाणपत्य सम्प्रदाय दशवीं शताब्दी में प्रादुर्भूत हुआ गणेश का आदि स्थान दक्षिण भारत में था और गणेश की उपना अति निम्न स्तर की है आदि बातें अत्यन्त अमान्य है। शंकराचार्य ने पंचदेवों

के लिंग पूजा का उललेख किया है। ये पंचलिंग है - शिव का वाणलिंग, विष्णु की शालिग्राम शिला, सूर्य का स्फटिक बिम्ब, शक्ति का धातु यन्त्र और गणपति का चतुष्कोण।

महाकाव्यों में गणेश और उनके उपासकों के सम्बन्ध में उल्लेख है। अन्य देवताओं के साथ गणेश्वरों और विनायकों की चर्चा है। ये अनिष्टों को दूर करते थे, सभी जगह विद्यमान रहते थे तथा सबके कार्यो को परखते थे। महाभारत की रचना के सम्बन्ध में बताया गया है कि इसके लेखक गणेश ही हैं और ग्रन्थकार हैं - वेदव्यास जब ब्रह्मा ने वेद व्यास को भारतीय धर्म ग्रन्थों के संकलन का आदेश दिया तो उन्होने अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए कहा कि हमें एक लेखक चाहिए। वहाँ लेखक गणेश तय किये गये। किन्तु उन्होने कहा कि जहाँ भी थोड़ा व्यास विराम लेंगे वहीं से मैं लिखना बन्द कर दँगा। इस पर वेदव्यास ने कहा कि जो भी इन्हे लिखना होगा उसका अर्थ समझकर लिखना होगा। इसीलिए जहाँ वेदव्यास क्रम बैठाने चूक जाते थे वहाँ बीच में वह प्रक्षिप्त जोड़ देते थे।

जैन धर्म में ज्ञान संकलन करने वाले गणेश अर्थात गणधर की मान्यता है। यहाँ भी वे ज्ञान के 12 अंगो और 14 पूर्वो के संकलनकर्ता माने जाते हैं। तीर्थकरों के सात साधुओं के संघ का नियमाक गणधर को मानते हैं।

बौद्ध धर्म में 'गणपतिहृदय' नेपाली बौद्ध साहित्य का एक प्रमुख ग्रन्थ है। गणपति से अभिप्राय यहाँ गणेश से है। वज्रयान शाखा में श्री गणेश की स्तुति के बिना मंत्रो के सिद्ध न होने की बात स्वीकर की गयी है। एच. हेशस ने अपनी पुस्तक 'दी प्राब्लम ऑफ गणपति' में गणेश की महत्ता को व्यक्त किया है। भारत में बौद्ध धर्म ने गणेश की पूजा को ज्यों का त्यों हिन्दू धर्म की तरह अपने में स्वीकार कर लिया है वज्रयान शाखा के साधकों ने श्री गणेश को अपनी साधना की सिद्धि के लिए एकमात्र सहायक माना है। महायान के समय से बौद्धो में गणेश पूजा प्रारम्भ हुई।

स्मृतियों में गणेश की चर्चा मिलती है, पर यह बहुत न्यून है। सम्भवतः सामाजिक ग्रन्थ होने के कारण इसकी यहाँ आवश्यकता महसूस नहीं की गयी होगी। लौगाक्षी स्मृति में उल्लिखित है कि गणेश से सभी वस्तुओं की याचना करनी चाहिए। यह माहेश्वर की मूर्ति है। याज्ञवल्क्य स्मृति के आचाराध्याय में एक समूचे प्रकरण के वर्णन को 'गणेश प्रतिकल्प' कहते हैं। यहां गणेश जी द्वारा विघ्नों के शान्त करने का उल्लेख है तथा एक लम्बी तालिका द्वारा विनायक के चंगुल में फंसने तथा उससे उद्धार के भी उपाय का वर्णन है। मानव गृहसूत्र में चार विनायको की चर्चा है- शालकटंकट, कुष्माण्डराजपुत्र, अस्मित तथा देवयजन।

पौराणिक काल में गाणपत्य सम्प्रदाय समाज में मान्य हो चुका था। इनसे सम्बन्धित कई कथाएं पुराणों में मिलती है।

गणेश सम्बन्धी अनेक कथाओं का ज्ञान पुराणों में विशेष रुप से प्राप्त होता है यथा गणेश पुराण, प पुराण, सकन्द पुराण, शिव पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण आदि।

वैष्णव सम्प्रदाय में भी गणेश की मान्यता है। श्री विष्वक्सेन संहिता में भगवान् विष्वक्सेन का गणेश जी के रुप में अवतरित होने का उल्लेख है।

योगसाधना भी गणेश की मान्यता को स्वीकार करता है। श्री गणेश को षटचक्र साधन योग का आधार स्वीकार किया गया है।

'योगमार्ग' प्रकाशिका गीता में गणेश का वचनामृत उद्धित है। यहीं 'गणेश गीता' के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार गणेश जी योगियों के परमध्येय है। वे योगशास्त्र के तत्वक और योग प्राप्त ब्रह्म है।

मूर्ति कला के क्षेत्र में गणेश की मूर्तियाँ भारत में ही नही विश्व के सभी भागों से प्राप्त हुई है। सामान्यता इनकी मूर्तियाँ चतुर्भुजी है। उनके हाथों में परशु, मोदक, त्रिशूल, कमल, अंकुश नाग, फल, अक्षमाला, स्वदन्त आदि में कोई चार होना चाहिए।

दयाराम साहनी ने सबसे पहले जयपुर के संभार झील के पास टीले से द्विभुजी गणेश की मिट्‌टी की पकी मूर्ति निकाली थी। इसी के साथ ग्रीक शासक एण्टीमेकसनिकोफर की एक मुद्रा भी मिली थी जिसकी तिथि 130 ई0 पूर्व है। अतः यह मूर्ति दूसरी शताब्दी ई0 पूर्व की होगी। बंगाल के चौबीस-परगना जिले में गणेश और शक्ति की मिट्‌टी की पकी मूर्तियां भी इसी समय की प्राप्त हुई है। इनके आठ अवतारों की बात भी मुद्‌गल से ज्ञात होती है। इनसे सम्बन्धित मूर्तियां भी विभिन्न स्थानों से मिली हैं। गणेश की प्रचीनतम मूर्तियां यक्षों और नागों की प्रतिमाओं का प्रतिरूप ज्ञात होती है। ये ईसा से कई शताब्दी पूर्व की हैं। जो मथुरा, विदशा ओर पवाया आदि से मिली है। अमारवती से प्राप्त एक शिलापट्‌ट पर दूसरी शताब्दी के गजानन यक्ष का अंकन मिला है जिसके कान और मुख हाथी के समान है। ऐसी ही एक मूर्ति मथुरा से भी मिली है। इसके बाद हिन्दू, बौद्ध और जैन देव मूर्तियों के साथ गणेण की मूर्तियां भी बनने लगी थीं। पर गुप्त युग से इनकी स्वतन्त्र मूर्तियां प्राप्त हुई है।

प्रतिहार काल की दसवीं शती की चतुर्भुजी गणेश की आसन पर लक्ष्मी के साथ बैठी एक मूर्ति है जो भूमरा से प्राप्त 'वोस्टम' म्यूजियम में रखी गयी है। मध्य प्रदेश से प्राप्त इसी प्रकार की मूर्तियां मथुरा, कलकत्ता और नई दिल्ली के संग्रहालयों में है। चौहान शासकों के समय की स्थानक, गणेश की मूर्तियां मिली हैं जिनके हाथ में पद्‌म, परशु, अक्षमाला और मोदक पात्र हैं। तोमर राजाओं के समय के

चतुर्भुजी गणेश की मूर्ति प्राप्त हुई है। चन्देल राजाओं द्वारा निर्मित मध्य प्रदेश के खजुराहों के मन्दिरों से द्विभुजी, चतुर्भुजी, षटभुजी आदि मूर्तियां स्थानक, आसन और नृत्य स्थिति में कभी अकेले, कभी अपनी शक्ति के साथ बड़ी संख्या में मिली हैं। खजुराहों संग्रहालय में एक आदमकद नृत्य गणेश की मूर्ति रखी गई है तथा यहीं एक स्वतन्त्र मूषक का भी मोदक पात्र पकड़े मूर्ति है। चेदि और हैहैवंशी शासकों के मन्दिरों में गणेश की मूर्तियां मिली हैं। रायपुर संग्रहालय में गणेश की एक कांसे की बड़ी सुन्दर मूर्ति रखी गयी है। जबलपुर के भेड़ाघाट की चौसठ योगिनियों के मन्दिर में नृत्य गणपति अनुपम मूर्ति मिली है। गढ़वाल शासकों के समय की कामपिल्य जिला, फरुर्खाबाद से प्राप्त नृत्य गणपति की मूर्ति लखनऊ संग्राहलय में है।

गणेश की चतुर्भुजी मूर्ति चोल काल में बनी तन्जौर से मिली है। होयसल कालीन मन्दिरों में भी इनकी मूर्तियां मिली हैं इस समय की एक मूर्ति तो दसभुजी है जिसके हाथ में विविध आयुध है।

पेशवा लोग गणपति के उपासक थे। इस कारण आजकल भी महाराष्ट्र में गणपति की प्रचुर उपासना पायी जाती है। 'गाणपत्य' सम्प्रदाय तान्त्रिक था, जिसमें गणपति की उपासना फल की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न रुप में की जाती थी। गाणपत्यों में भी छः भिन्न-भिन्न गणपतियों की पूजा किया करते थे। 'महागणपति' का अंग लाल तथा भुजाएं दस होती हैं। 'उर्ध्वगणपति' तथा 'पिंगल गणपति'

का रंग पीला तथा भुजाएं 6 होती हैं। 'लक्ष्मी गणपति' का रंग श्वेत होता है, भुजायें चार या आठ। 'हरिद्र गणपति' का रंग हल्दी जैसा पीला, भुजायें चार होती है। गाणपत्यों के पूजा का प्रकार रहस्यमय होता था उसमें तांत्रिक प्रकार की प्रधानता होती थी। ऊपर उल्लिखित सम्प्रदायों में महागणपति, हरिद्रा गणपति तथा उच्छिष्ट गणपति की पूजा शाक्तों के वामाचार के ढंग की होती थी तथा स्वभावतः भयानक होती थी। आजकल इन सम्प्रदायों का एक प्रकार से अभाव सा हो गया है। पर आज भी स्थान-स्थान पर गाणपत्य लोग मिलते है। इनका कहना है कि 'गणपति' ही सर्वप्रधान देवता हैं। उन्हीं से जगत् के सर्गादिकार्य सम्पन्न होते है।

गणेश का जन्म किसी माता या योनि से नहीं हुआ हैं इनके विभिन्न गुणों के कारण ही इनको विविध नामों से सम्बोधित किया गया है। 'शिवतत्वानिधि' ग्रन्थ में कर्नाटक के राजा मुम्मडि कृष्णराज ओटयर ने 32 गणपतियों के नाम-रूपों का निर्देश किया है। गाणपत्य सम्प्रदाय के छः भेदों के होने का ज्ञान प्राप्ता होता है। 1. महागणपति सम्प्रदाय 2. हरिद्रागणपपति सम्प्रदाय 3. उछिष्ट गणपति सम्प्रदाय 4. नवनीत गणपति सम्प्रदाय 5. स्वर्णगणपति सम्प्रदाय 6. संतानगणपति सम्प्रदाय।

वह विशालकाय एवं तपाये हुए स्वर्ण सरीखे प्रकाश वाले हैं। वह लम्बोदर हैं। वह बड़ी - बड़ी आखों वाले तथा एकदन्ती हैं और मुञ्ज

की मेखला, कृष्णमृगचर्म और सप्र का यज्ञोपवीत धारण किये हुए हैं। उनके ललाट पर बालचन्द्र है, उनका शरीर रत्नों से अलंकृत, अद्भूत माला धारण किये हुए, हाथी के मुख वाले सुन्दर कानों से विभूषित, पाश और अंकुश धारण करने वाले हैं। उनके विग्रह उपलब्ध हैं जैसे-बालगणपति, तरुणगणपति, भक्ति विध्नेश्वर, लक्ष्मीगणपति, महागणपति, उच्छिष्ट गणपति, हेरम्बगणपति, प्रसन्न गणपति, ध्वज गणपति, हरिद्रा गणपति, एकदन्त, केवल गणपति आदि।

गणपति के वाहन सिंह, मयूर, मूषक बाताये गये हैं। सतयुग में इनका वाहन सिंह, त्रेता में मयूर, द्वापर में मूषक तथा कलियुग में धूम्रवर्ण है। इनका सबसे प्रसिद्ध वाहन मूषक बताया जाता है। डा. सम्पूर्णानन्द की पुस्तक 'गणेश' के अनूसार गजमुखासुर दैत्य से गणेश का युद्ध हुआ था जिसमें इनका दाँत टूट गया था। इसी एक दाँत से उन्होने गजमुखासुर पर ऐसा प्रहार किया कि वह चूहा बनकर भागने लगा तब तक गणेश ने उसे पकड़ लिया। तब से वह उनका वाहन बन गया।

गणेश जी के यों तो अनन्त नाम शास्त्रों में लिये गये है किन्तु उनके 12 नाम प्रमुख हैं जिनका उच्चारण प्रत्येक मंगलमय कार्य के समय हिन्दूधर्म संस्कार तथा पूजन के समय प्रत्येक सम्प्रदाय में लिया जाता हे। ये निम्न हैं - 1. सुमुख (सुन्दर मुख वाले) 2. एकदन्त (एक दांत वाले) 3. कपिल (कपिल वर्ण वाले) 4. गजकर्ण (हाथी के कान

वाले) 5. लम्बोदर (लम्बे पेट वाले) 6. विकट (भंयकर) 7. विघ्नविनाशन (विघ्न दूर करने वाले) 8. विनायक (विशिष्ट नाम कोचित गुण वाले) 9. धूम्रकेतु (धूएं के रंग के पताका वाले) 10. गणाध्यक्ष (गणों के अध्यक्ष) 11. भालचन्द्र (मस्तक पर चन्द्रमां धारण करने वाले) 12. गजानन (हाथी के मुख वाले)

सुमुखश्चैकदन्तश्च कपिलो गजकर्णकः ।
लम्बोदरश्च विकटो विध्नाशो विनायकः ।
धूम्रके तुर्गणाध्यक्षो भालचन्द्रो गजाननः ।
द्वादशैतानि नामानि यः पठेच्छृणु यादपि । ।
विद्यारम्भे विवाहे च प्रवेशे निर्गमेतथा ।
संग्रामे संकटे चैव विघ्नस्तस्य नजायते । ।

देवीपुराण में विनायक याग विशद् विवेचन उपलब्ध होता है ।[1]

[1] देवीपुराण-अध्याय 69 एवं 70 ।

शाक्त तंत्र

शाक्त तन्त्रों की संख्या बहुत ही अधिक है। शाक्त पूजा - पद्धति के नितान्त गोपनीय तथा गुरुमुखैकगम्य होने के कारण शाक्तों की यह धारणा अनेकांश में सत्य है कि शाक्त तन्त्रों के प्रकाशित होने पर अनर्थ होने की ही अधिक सम्भावना है। इसीलिए शाक्त तन्त्रों का प्रकाशन बहुत ही कम है, तथापि इन प्रकाशित तन्त्रों के ही अनुशीलन से शाक्तों की विपूल साहित्यिक सम्पति तथा उदात्त सिद्धान्तों आदि की भिन्न्ता से अनेक भेद प्रदर्शित किये जाते हैं। सात्विक आगमों को 'तन्त्र' राजस को 'यामल' तथा तामस 'डामर' कहते हैं।

भगवान शंकर के मुखपञ्चकों से उत्पन्न होने के कारण आगमों के प्रधानतया पाँच 'आम्नाय' होते है[1]- पूर्वाम्नाय, दक्षिणम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय तथा ऊर्ध्वाम्नाय। निम्नतर तथा गुप्तमुख से उत्पन्न अधः आम्न्या छठा आम्नाय माना जाता है। कुलार्णवतन्त्र के तृतीय उल्लास में इन आम्नायों का वर्णन है। पूर्वाम्नाय सृष्टि रुप तथा मन्त्र योग है, दक्षिणामान्य स्थित रुप और भक्तियोग है, पश्चिमाम्नाय संहार रुप तथा कर्मयोग है, उत्तराम्नाय अनुग्रहरुप और ज्ञानयोग है। ऊर्ध्वाम्नाय की कुलार्णव में बड़ी प्रशंसा की गई है।[2] यह ऊर्ध्वाम्नाय कौलों के अनुसार कौलाचार में गृहीत है, पर सामयिकों के मत में यह

---

[1] परशुराम कल्पसूत्र 1/2।

[2] कुलार्णवतंत्र 3/16-18।

आम्नाय समयमत से सम्बद्ध है। भौगोलिक दृष्टि से समस्त भारत तथा एशिया महाद्वीप तीन भागों में बाँटा जाता है - भारत का उत्तर - पूर्वी प्रदेश, विन्ध्य से लेकर चित्तल (चट्टग्राम) तक, 'विष्णुक्रान्ता' कहलाता है, उत्तर पश्चिमीय भाग 'रथक्रान्ता' के नाम से प्रसिद्ध है, तृतीय भाग 'अश्वक्रान्ता' के विषय में कुछ मतभेद है। 'शाक्तमंगल' तन्त्र के अनुसार विन्ध्य से लेकर दक्षिण समुद्र पर्यन्त के समस्त प्रदेश की तथा 'महासिद्ध सार' के अनुसार करतोया नदी से लेकर जावा तक के समग्र देशों की गणना 'अश्वक्रान्ता' में की जाती है। इन तीनों क्रान्ताओं में 64 प्रकार के तन्त्र प्रचलित बतलाये जाते हैं। सम्मोहन तन्त्र के आधार पर शाक्त सम्प्रदाय नौ आम्नायों तथा चार सम्प्रदायों में विभक्त है। आन्तरिक तथा बाह्य उपासना के आधार पर इसके भी आगे दो-2 भेद है।[1]

शाक्तपूजा के केन्द्र :

शाक्त पूजा के तीन प्रधान केन्द्र हैं- काश्मीर काञ्ची और कामाख्या। इनमें प्रथम दोनों स्थान 'श्रीविद्या' के केन्द्र थे। कामाख्या तो आज भी कौलमत का मुख्य स्थान है। कामाख्या में अनार्य तिब्बती तन्त्रों का विशेष प्रभाव पड़ने के कारण पञ्चतत्वों का प्रचार उग्र रुप में दृष्टिगोचर होता है। इस त्रिकोण का मध्य बिन्दु काशी है जिसमें इन तीनों सिद्धानतों का सुन्दर समन्वय उपलब्ध होता है। इन शाक्त

[1] सम्मोहनतंत्र - अध्याय 5।

तन्त्रों का सम्बन्ध अथर्ववेद के 'सौभाग्यकाण्ड' के साथ माना जाता है, परन्तु यजुः तथा ऋग्वेद से सम्बद्ध तान्त्रिक उपनिषद् भी उपलब्ध है। इन तन्त्रमत-प्रतिपादक उपनिषद्रों में ये नितान्त प्रसिद्ध हैं- कौल, त्रिपुरामनोपनिषत्, भावना, वर्ह्च, अरुणोनिषद् अद्वैतभावना, कालिका और तारा उपनिषद्। इसमें से प्रथाम तीन उपनिषदों का भाष्य भास्करराय ने लिखा है तथा त्रिपुरा और भावना का अप्यय दीक्षित ने। ये सब उपनिषद् कलकत्ते की तान्त्रिक टेक्स्ट ग्रन्थमाला (नं0 17) में प्रकाशित हुए हैं।

शाक्त तंत्र के आचार्य :

श्रीविद्या के प्रधान आचार्यों में तीन आचार्यों की रचनायें उपलब्ध है। श्री दत्तात्रेय ने त्रिपुरातत्त्व के उद्‌घाटन के लिए अष्टादश साहस्री 'दत्तसंहिता' की रचना की थी, परन्तु दुर्बोध होने के कारण परशुराम ने इसका संक्षेप 50 खण्डों और 6 हजार सूत्रों में किया। इसका भी संक्षेप हारितायन सुमेधा ने दशखण्डात्मक 'परशुराम कल्पसूत्र' में किया है। यह अपूर्व ग्रन्थ गायकवाड़ संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है। कविराजजी को अगस्त्य के 'शक्तिसूत्र' मिले हैं। उन्होंनें इन्हें सरस्वती भवन स्टडीज (10म भाग) में प्रकाशित किया है।'अथातः शक्तिजिज्ञासा' प्रथम सूत्र है। इन निगूढ 113 सूत्रों की एक अल्पक्षरा वृत्ति भी प्रकाशित हुई है, परन्तु विस्तृत व्याख्या के अभाव में इन सूत्रों का रहस्य प्रकट नहीं होता। दुर्वासा के सूत्र नहीं

मिलते। 'शक्तिमहिम्नःस्तोत्र' ही उनकी एकमात्र उपलब्ध रचना है। इधर के आचार्यों में गौडपाद 'श्रीविद्या' के बड़े भारी उपासक थे, जिनका 'सुभगोदय' (स्तोत्र) तथा 'श्रीविद्यारत्नसूत्र' (शंकरारण्य की विस्तृत व्याख्या संवलित) एतद्विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। गौडपाद के प्रशिष्य शंकराचार्य श्रीविद्या के एक विशेष आचार्य थे, जिनकी 'सौन्दर्यलहरी' ललितात्रिशतीभाष्य रहस्यपूर्ण रचनायें है। 'सौन्दर्यलहरी' में कविता तथा तान्त्रिकतत्व का अनुपम सम्मिलन है। इसकी 35 टीकायें उपलब्ध है, जिनमें कैवल्याश्रम, नरसिंह, अच्युतानन्द, कामेश्वरसूरि की महत्वशालिनी टीकाओं में से कतिपय मद्रास से प्रकाशित है। लक्ष्मीधर (1268-1379 ई०) की प्रकाशित टीका समयमार्ग के रहस्यों को जानने के लिये नितान्त उपयोगी है। पुण्यनन्दनाथ का 'कामकलाविलास' नटनानन्द की 'चिद्रवल्ली व्याख्या के साथ शाक्त तत्व का प्रकाशक है। इन्हीं के शिष्य अमृतानन्दनाथ की 'योगिनीहृदयदीपिका' वामकेश्वर तन्त्र के एक भाग की बड़ी सुन्दर व्याख्या है। शाक्त दार्शनिक श्री भास्करराय (18वें शतक का पूर्वार्ध) का नाम शाक्त-सम्प्रदाय के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। इनके ग्रन्थ शक्तिविद्या के आध्यात्मिक रहस्यों के उद्घाटन के लिए कुञ्जी हैं। इनकी रचनाओं में वीरवस्यारहस्य सौभाग्यभास्कर (ललितासहस्रनाम का भाष्य), सेतु (नित्याषोडशिकार्णव कीटीका), गुप्तवती (दुर्गासप्तशती की व्याख्या) तथा कौल, त्रिपुरा, भावना उपनिषदों की टीकायें विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके शिष्य उमानन्दनाथ ने

'नित्योत्सव' नामक पद्धति ग्रन्थ की रचना 1755 ई0 में तथा प्रशिष्य रामेश्वरसूरि ने 'परशुराम कल्पसूत्र' की टीका 'सौभाग्यसुधोदय' का निमार्ण 1821 ई0 में किया। ये ग्रन्थ बड़ौदा से प्रकाशित है। लक्ष्मणरानाडे की परशुराम-कल्पसूत्र की टीका (सूत्रतत्वविमर्शिनी) अभी तक अप्रकाशित है। भास्करराय का सम्प्रदाय महाराष्ट्र तथा सुदूर दक्षिण में आज भी जागरूक हैं। कौलमत के आचार्यों में पूर्णानन्द (जगदानन्द, 1448-1526 ई0) का नाम प्रसिद्ध है। विख्यात 'षट्चक्रनिरुपण' इनके विस्तृत 'श्रीतत्व-चिन्तामणि' का एक प्रकरण मात्र है। ये ब्रहमानन्द के शिष्य थे और बंगाल के रहने वाले थे। इनके अन्य ग्रन्थों में श्यामारहस्य, शक्ति-क्रम, तत्वानन्द-तरंगिणी प्रसिद्ध है। कौलाचार्य सदानन्द का ईशावास्य-उपनिषद का भाष्य ओर सर्वानन्द का 'सर्वोल्लास' तन्त्र प्रसिद्ध है।

कौल मत :

कौलमत का भारतीय धर्म तथा दर्शन के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। कौल धर्म तथा कौल दर्शन दोनों दिशाओं में यह मत अपनी विशिष्टता धारण किये हुये है। कौल आचार तथा कौल विचार दोनों की अमिट छाप भारतीय संस्कृति के ऊपर अत्यन्त प्राचीन काल से हैं। इसके उदय का इतिहास अभी तक दीर्घ गवेषणा का विषय है, परन्तु इसके मूल आगम का अध्ययन में बतलाया गया है कि यह मत चारों युगों में अपनी विशिष्ट सत्ता बनाये हुआ प्रतिष्ठित था। खगेन्द्र नामक

आचार्य सत्ययुग में कौल धर्म के व्याख्याता थे, कूर्म नामक आचार्य त्रेता में व्याख्याता थे, द्वापर में मेष ने इसका प्रवचन किया और कलियुग में मच्छन्द या मत्स्येन्द्र (अपर नाम मीननाथ) इस कौलमत के प्रतिष्ठापक थे। फलतः ऐतिहासिक पण्डित मतस्येन्द्र को ही इस मत के प्रतिष्ठापक होने का श्रेय प्रदान करते हैं। अभिनव के ग्रन्थ में से इनके विषय में एक गम्भीर रहस्य का पता चलता हे। यह तो सर्वत्र प्रख्यात है कि श्रीकष्ठ ने त्र्यम्बक, मद्रक तथा श्रीनाथ नामक सिद्धों को शैव मत के अद्वैत, द्वैत तथा द्वैताद्वैत रुप को क्रमशः प्रवर्तित करने का आदेश दिया। त्र्यम्बक ने अपनी पुत्र-परम्परा के द्वारा अद्वैत-मूलक शैवमत त्रिक का प्रचलन किया। त्र्यम्बक के दौहित्र (पुत्री के पुत्र) मच्छन्द या मीननाथ ने इस चर्तुथ तान्त्रिक सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की और इसीलिए यह मत 'अर्धत्र्यम्बकमठिका' के नाम से प्रख्यात हुआ। 'मठिका' का अभिप्राय सम्प्रदाय है। 'मच्छन्द' के पुत्र राजपुत्र बतालाये गये हैं। फलतः मच्छन्द किसी देश के राजा अवश्य प्रतीत होते हैं। परन्तु किस देश के? इस प्रश्न का उत्तर यथार्थतः नही दिया जा सकता, तथापि मत्स्येन्द्र का सम्बन्ध आसाम प्रान्त से बतलाया जाता है। जान पड़ता है आसाम के अन्तर्गत कामरुप (कामाख्या देवी का सिद्धपीठ) इसीलिए प्राचीन काल से शक्ति-पूजा के प्रधान केन्द्र के रुप में सर्वत्र विख्यात है।

मत्स्येन्द्रनाथ का समय क्या है? इस प्रश्न का उत्तर अनुमानतः दिया जा सकता है। उनके मातामह त्र्यम्बक नाथ का समय पूर्व प्रसंग में

तृतीय शती निश्चित किया गया है। उनका समय भी प्रायः वही होना चाहिए। अतः हम स्थूल रुप से कह सकते हैं कि मत्स्येन्द्रनाथ का समय तृतीय शतक है और उसी युग में उत्तर भारत में कौलतन्त्र का उदय सम्पन्न हुआ।

'कुल' की उपासना के कारण ही यह तन्त्र कौल तन्त्र के नाम से प्रख्यात है। 'कुल' तन्त्र का एक रहस्यमय पारिभाषिक अभिधान है जिसके नाना अर्थ शास्त्रों में उल्लिखित हैं।

1. परमेश्वर की सर्वोर्ध्ववर्तिनी स्वातन्त्र्यशक्ति कुल शब्द के द्वारा द्योतित की जाती है।[1]

2. शिव तथा शक्ति का सामरस्यरुप संयोग भी इसका अभिधेय अर्थ है - "कुले शिवशक्त्यात्मनि"[2]

3. नित्या नामक शक्ति के लिए भी इसका व्यवहार होता है- "कुलं शक्तिः समाख्याता सा च नित्या प्रकीर्तिता"[3]

4. इन सबसे पृथक 'कुल' उस परतत्व का द्योतक है जो शिवशक्ति आदि समग्र पदार्थों को आभासित करता है, जिसमें यह विश्व अवस्थिति रखता है और अन्त में जिसमें यह लीन हो जाता है -

---

[1] कुलंच परमेशस्य सामर्थ्यमूर्ध्वता। स्वातन्त्र्यमोजो वीर्यं च पिण्डः संविच्छरीकरकम्।। तंत्रालोक, आन्हिक - 29।

[2] परात्रिंशिका -36।

[3] तन्त्रालोक, हाह्निम - 20।

यत्रोदितमिदं चित्रं विश्वं यत्रास्मेंति च ।
तत् कुलं विद्धि सर्वज्ञ शिवशक्तिविवर्जितम् । ।[1]

मेरी दृष्टि में इसी अन्तिम अर्थ को लक्ष्य कर अर्थात शिवशक्ति से उर्ध्वतम 'कुल' नामक परतत्व की उपासना तथा मान्यता के कारण यह तान्त्रिक मत "कौल" नाम से प्रख्यात है। कौलतन्त्र तन्त्रों में आचार-विचार का पर्यवसान माना जाता है । इसीलिए तन्त्रालोक का यह वचन इसे सर्वश्रेष्ठ सिद्ध कर रहा है -

वेदादिभ्यः परं शैवं शैवाद् वामं च दक्षिणम ।
दक्षिणाच्च परं कौलं कौलात् परतरं नहि । ।[2]

शास्त्रों का प्राणही कुल मार्ग है। पुण्य में गन्ध, तिल में तैल, देह में जीव, जल में रस के समान कुलमार्ग शास्त्रों के भीतर प्रतिष्ठित है ।[3]

यह 'कुलमार्ग' ऊध्र्वाम्नाय के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह नाम अपने लिए अनेक हेतु रखता है। पञ्चमुख शिव के उर्ध्वमुख से उत्पन्न होने वाले तन्त्र पर यह आश्रित है, तथा नियति की मर्यादा का अतिक्रमण करने के कारण भी यह उर्ध्वाम्नाय कहलाता है ।[4]

---

[1] तत्रैव, भाग-2, टीका 95 ।
[2] तत्रैव ।
[3] तत्रैव - आह्निक - 35, 373, 4 ।
[4] ऊर्ध्वत्वात् सर्वधर्माणामूर्ध्वाम्नायः प्रशस्यते । ऊर्ध्वं न यत्यधः स्थं चेत्यूर्ध्वाम्नाय इतिस्मृतः । ।
कुलार्णवतंत्र 3/18 ।

कौलतन्त्र अपने सिद्धान्तो के लिए प्राचीन आगमों के ऊपर आश्रित है। इन ग्रन्थों की प्राचीनता तथा महत्वशालिता में दो मत नहीं हो सकते। इन्ही का आश्रय लेकर कालान्तर में आचार्यों ने मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनकी व्याख्या लिखकर अन्य विद्वानों ने तन्त्र के रहस्यों का पूर्णतया उद्‌घाटन किया। इस वृहत् साहित्य के मुख ग्रन्थों का ही यहां संक्षिप्त उल्लेख सम्भव है।

1. **सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र (अपर नाम सिद्ध योगीश्वरी मत) प्रधानत :** दार्शनिक प्रमेय बहुल है, अप्रधानतः मन्त्र, मुद्रा, मण्डल का विवरणात्मक है। परिमाण में यह 'शतकोटिप्रविस्तरं' बतलाया जाता है। मानवों के कल्याण के लिए समय - समय पर इस तन्त्र के तीन संक्षिप्तीकरण किये गये। 'मालिनी-विजय' नाम से प्रथम संक्षेप तीन करोड़ श्लोकों का तथा द्वितीय संक्षेप बारह हजार श्लोकों का कभी किया गया था, परन्तु ये दोनों उपलब्ध नहीं हैं। उपलब्ध है तृतीय संक्षेप 'मालिनी-विजयोत्तर' नामक, जिस पर अभिनव गुप्त ने 'मालिनी श्लोकवार्तिक' नाम से वार्तिक (अंशतः मुद्रित) तथा 'पूर्वपञ्जिका' नामक वृहती व्याख्या (उद्धरणों से ज्ञात) लिखी। यही तन्त्र 'श्रीपूर्वशास्त्र' नाम्ना प्रख्यात है जो इसे आद्य तन्त्र सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

2. **रुद्रयामल :** इस तन्त्र में कुलाचार-विधि, कौलतपर्ण, कौलसन्ध्या, कुलद्रव्य आदि के विवरण होने से यह स्पष्टतः कुल मार्ग से ही सम्बन्ध रखता।

3. **कुलार्णव तन्त्र :** अपने अभिधान से ही अपनी कुल - मार्गानुयायिता की द्योतना करता है। कुलाचार के विषय में इस तन्त्र का स्पष्ट कथन है कि राज-योग के अभ्यास से विहीन, अजितेन्द्रिय तथा अवशीकृत-मानस साधकों के लिए पञ्च प्रकार की उपासन घोर नरक में डालने वाली होती है।

4. **ज्ञानार्णव तन्त्र :** भगवती त्रिपुरा के स्वरूप का प्रतिपादक यह महनीय तन्त्र कौल मार्ग के रहस्यों को वितृत करता है। इसके ऊपर शंकरानन्दन ने टीका लिखी थी जिसका उल्लेख भास्कर राय ने अपने ही टीका ग्रन्थ से तुबन्ध में किया है।

5. **नित्या षोडशिकार्णव :** वामकेश्वर तन्त्र के अन्तर्गत प्रख्यात यह ग्रन्थ त्रिपुरा शास्त्र का रहस्योद्घाटन माना जाता है। जयरथ ने तन्त्रालोक की टीका में बामेश्वरी तन्त्र को कौलिकी विद्या के नाम से निद्रिष्ट किया है जिससे इसके कुलमार्गीय ग्रन्थ होने में सन्देह नहीं किया जा सकता।

काशी में कौलमत के प्रवेश का समय यथार्थतः उपलब्ध नहीं परन्तु भास्करराय के गुरु नरसिंह यज्वा के समय (18 वीं सदी) से कौल मत के काशी में प्रचार का अनुमान हम लगा सकते है ।

भास्कर राय (लगभग 1700 ई० - 1760 ई०) की विपुल रचना सम्पत्ति का और उनकी शिष्य-परम्परा का उल्लेख पूर्व ही किया गया है । अतः इसके पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती ।

कुलाचार :

कुलाचार के विषय में विरुद्ध मत फैलने का प्रधान कारण अधिकारिभेद के स्वरूप को यथार्थतः न जानना है। पञ्च प्रकार से विशिष्ट यह तान्त्रिक आचार प्राचीन काल से ही आलोचना - प्रत्यालोचना का विषय रहा है। अभिनव गुप्त के समय में भी इस कौलाचार के विदूषकों और आलोचकों की कमी नहीं थी अन्यथा उन्हें इसके समर्थन में युक्ति देने की आवश्यकता ही न पड़ती। उन्होने अधिकारीभेद का आश्रय लेकर अपना सतर्क उपस्थित किया है ।

इस आचार का अधिकारी साधारण जन नहीं होता, प्रत्युत निर्विकल्प दशा की पराकाष्ठा की प्राप्त होने वाल साधक होता है। राजयोग में निपुण व्यक्ति ही इसके लिए अधिकारी माना जाता है। राजयोग हठयोग से भिन्न होता है। हठयोग के अनुसार मन प्राण के अधीन रहता है, तो राजयोग के अनुसार प्राण मन के अधीन होता है।

मध्यनाडी में मन के प्रवेश करने पर प्राण स्वतः उसका अनुगमन करते हैं। ऐसा ही राजयोगी इस आचार के करने का अधिकारी होता है। तथ्य तो यह है कि कौल मत साधारण पन्थ न होकर विशिष्ट पन्थ है। यह उसी साधक के लिए निद्रिष्ट है जो पर-तत्व का ज्ञाता है, जिसने आगमशास्त्रों का अध्ययन किया है ओर जो भौतिक प्रलोभनों से नितान्त अनाकृष्ट है अर्थात क्रोध, लोभ, मोह, मद, रागद्वेष, माया जिसके चित्त को कथमपि वशीभूत नहीं करतीं। अभिनव गुप्त ने इस विशिष्ट अधिकारी का संकेत स्पष्टतः किया है।[1]

कौल मार्ग वैदिकमार्ग से आचार - दृष्टि से विरुद्ध नहीं है। कौलमार्ग का प्रधान प्रतिपादक 'कुलार्णव तन्त्र' धार्मिक कृत्यों से बाहर मद्यपान का निषेध ही नहीं करता, प्रत्युत उसके घ्राण तथा दर्शन को भी निषिद्ध मानता है और इसके लिए प्रायश्चित बतलाता है। इसी प्रकार वह पशुहनन का अनुमोदन करने वाले को, मांस के क्रेता और विक्रेता दोनों को, संस्कार करने वाले तथा जाने वाले दोनों को पातकी बतलाता है। इतना होने पर भी वह विशेष अवस्थाओं में मद्यपान को विहित मानता है। ऐसी दशाएं अनेक हैं। मन की स्थिरता के हेतु, मन्त्रार्थ के स्फूरण के लिए तथा भवपाश की निवृत्ति के निमित्त इसका पान कथमपि दुष्ट नहीं है।[2]

---

[1] तंत्रालोक, आन्हिक 29/श्लोक 289-90।

[2] सेवते मधुमांसानि तृष्णया चेत स पातकी।
मंत्रार्थस्फुरणार्थ च मनः स्थैर्याय हेतवे।

निष्कर्ष यह है कि यह आचार उस विशिष्ट राजयोगी के लिए है जो वैषयिक प्रलोभनों के द्वारा कथमपि आकृष्ट नहीं होता, प्रत्युत विषयों से उत्पन्न आनन्द से उल्लसित होकर वह अपने मन में सुषुम्ना में प्रविष्ट करने की योग्यता से संवलित होता है। परन्तु यह मार्ग है यथार्थतः कठिन, नितान्त दुरूह और इसीलिए इसे गोपनीय रखने का आदेश आगम देता है।[1]

शक्तिपीठ :

शाक्तमत की पृष्ठभूमि में शक्तिपीठों का अपना विशिष्ट स्थान है। उन विश्वासों में, जिनके द्वारा भारतीय लोकधर्म की विभिन्न देवियाँ शाक्तमत में स्वीकृत हुई, शाक्त-पीठों की कल्पना विशेष रूप से अति महत्वपूर्ण है।[2] शाक्त-पीठों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में एक धार्मिक कथा प्रसिद्ध है। तदनुसार दक्ष यज्ञ विध्वंस के उपरान्त शिव सती के शव को लिए व्याकुल घूमने लगे। तब विष्णु ने सती के शव के प्रति उनका (शिव) का मोह तोड़ने के लिए उसे अपने चक्र से काट डाला। उस समय शक्ति के अंग-प्रत्यंग जहाँ-जहाँ गिरे, वे सभी स्थान शाक्तपीठ या देवी पीठ कहलाये।[3] सती के विभिन्न अंगों का शाक्त

भावपाश निवृच्यर्थ समाचरेत्।। कुलार्णवतंत्र 5/82-83।

[1] कृपाण धारागमनात् व्याघ्रकर्णावलम्बनात्।
भुजंगधारणान्नूनम् अशक्यं कुल-सेवनम्।। तत्रैव 2/113।

[2] दि शाक्त पीठाज, डी. सी. सरकार, पृ. 3।

[3] कल्याण का तीर्थांक, पृ. 516।

पीठों के साथ कुछ उसी प्रकार का सम्बन्ध है, जिस प्रकार शिव का लिंग के साथ ।[1] ऐसा विश्वास किया जाता है कि इन स्थलों पर शिव एक-एक भैरव का रुप धारण करके निवास करते हैं । यह स्पष्ट है कि इन शाक्त पीठों की कल्पना के पीछे भारतीय लोकधर्म की देवियों को शाक्तमत में समेट लेने की भावना न्यूनाधिक रूप से अवश्य रही होगी ।

हेवज्रतंत्र तथा कलिकापुराण में चार शाक्तपीठों - जालन्धर, ओडियाना, पूर्णगिरि तथा कामरूप के नाम आये है ।[2] कालिकापुराण अन्य तीन पीठों का विवरण उपलब्ध होता है -

1. देवीकूट - यहाँ पर सती के दो पैर गिरे थे । देवी को महाभग्ग कहा जाता है । यह स्थान बंगाल की दिनाजपुर जिले में है ।
2. कामरूप की सीमा पर एक स्थान, जहाँ सती की नाभि गिरी थी । यहाँ देवी को 'डिकारवासिनी' कहा जाता है ।
3. कामरूप की सीमा पर एक अन्य स्थान, जहाँ पर सती का सिर गिरा था । यहाँ पर देवी को 'ललितक्रान्ता' कहा जाता है ।[3]

---

[1] दि शाक्त पीठाज डी. सी. सरकार, पृ. 7 ।

[2] हेवज्रतंत्र, सप्तम पटल ।

[3] कालिकापुराण - 18/42-51 ।

बहुत से ग्रन्थों में शाक्तपीठों की 51 बतलायी गयी है। देवीभागवत-पुराण में इनकी संख्या 108 मानी गयी है।[1] मत्स्य पुराण में इसी कथन की पुष्टि की गयी है।[2] स्कन्दपुराण के अवन्ति खण्ड[3] तथा पद्मपुराण के सृष्टि खण्ड[4] में भी इन्हीं शाक्तपीठों का विवरण वर्णित है।

तन्त्र-चूडामणि नामक ग्रन्थ में शाक्त-पीठों की संख्या 52 बतलाई गयी है। अधोलिखित तालिका में तंत्र चूडामणि के अनुसार स्थान, अंग, आभूषण, शक्ति तथा भैरव का विवरण इस प्रकार है -

क्रम संख्या	स्थान	अंग तथा आभूषण	शक्ति	भैरव
1.	हिंगुला	ब्रह्मरन्ध्र	कोट्टवीशा	भीमलोचन
2.	शक्रार	चक्षु	महिषमर्द्दिनी	क्रोधीश
3.	सुगन्धा	नासिका	सुनन्दा	त्र्यम्बक
4.	काश्मीर	कण्ठदेश	महामाया	त्रिसन्ध्येश्वर
5.	ज्वालामुखी	महाजिह्वा	सिद्धिदा	उन्मत्त भैरव

[1] देवी भागवत - 7/30।
[2] मत्स्यपुराण 13/25-53।
[3] स्कन्दपुराण अवन्ति खण्ड - 62/1-32।
[4] पद्मपुराण सृष्टि खण्ड - 17/188-223।

6.	जलन्धर	स्तन	त्रिपुरमालिनी	भीषण
7.	वैद्यनाथ	हृदय	जय दुर्गा	वैद्यनाथ
8.	नेपाल	जानु	महामाया	कपाली
9.	मानस	दक्षिणहस्त	दाक्षायणी	अमर
10.	वीरजा (उत्कल)	नाभिदेश	विमला	जगन्नाथ
11.	गणुकी	गण्डस्थल	गण्डकी	चक्रपाणि
12.	बहुला	वामबाहु	बहुला	भीरूक
13.	उज्जयिनी	कर्पूर	मांगल्यचण्डिका	कपिलाम्बर
14.	त्रिपुरा	दक्षिणवाद	त्रिपुर सुन्दरी	त्रिपुरेश
15.	चहल	दक्षिणबाहु	भवानी	चन्द्रशेखर
16.	त्रिस्रेता	वामपाद	भ्रामरी	भैरवेश्वर
17.	कामगिरि	योनिदेश	कामाख्या	उमानन्द
18.	प्रयाग	हस्तांगुलि	ललिता	भव
19.	जयन्ती	वामजंघा	जयन्ती	क्रमदीश्वर

20.	युगाद्या	दक्षिणागुष्ठ	भूतधात्री	क्षीरखण्डक
21.	कालीपीठ	दक्षिणपादांगुलि	कालिका	नकुलीश
22.	किरीट	किरीट	विमला	संवर्त्त
23.	वाराणसी	कर्णकुण्डल	विमलाक्षी	कालभैरव
24.	कन्याश्रम	पृष्ठ	सर्वाणी	निमिष
25.	कुरुक्षेत्र	गुल्फ	सावित्री	स्थाणु
26.	मणिबन्ध	दोमणिबन्ध	गायत्री	सर्वानन्द
27.	श्रीशैल	ग्रीवा	महालक्ष्मी	शम्बरानन्द
28.	कांची	अस्थि	देवगर्भा	रुरु
29.	कालमाधव	नितम्ब	काली	असितांग
30.	शोणदेश	नितम्बक	नर्मदा	भद्रसेन
31.	रामगिरि	अ़न्यस्तन	शिवानी	चण्डीरव
32.	वृन्दावन	केशपाश	उमा	भूतेश
33.	शुचि	ऊर्ध्वदन्त	नारायणी	संहार

34.	पंचसागर	ऊधोदन्त	वाराही	महारुद्र
35.	करतोयातट	तल्प	अप्रणा	वामनभैरव
36.	श्रीपर्वत	दक्षिण गुल्फ	श्रीसुन्दरी	सुन्दरानन्द भैरव
37.	विभाष	वाम गुल्फ	कपालिनी	सर्वानन्द
38.	प्रभास	उदर	चन्द्रभागा	वक्रतुण्ड
39.	भैरव पर्वत	ऊर्ध्वओष्ठ	अवन्ती	लम्बकर्ण
40.	जनस्थल	दोनों चिबुक	भ्रामरी	विकृताक्ष
41.	सर्वशैल	वामगण्ड	राकिनी	वत्सनाभ
42.	गोदावरीतीर	गण्ड	विश्वेशी	दण्डपाणि
43.	रत्नावली	दक्षिणस्कन्ध	कुमारी	शिव
44.	मिथिला	वामस्कन्ध	उमा	महोदर
45.	नलहाटी	नला	कालिका देवी	योगेश
46.	कर्णाट	कर्ण	जयदुर्गा	अभीरू

47.	वक्रेश्वर	मनः	महिषमद्रिनी	वक्रनाथ
48.	यशोर	पाणिपद्म	योशोश्वरी	चण्ड
49.	अट्टाहार	ओष्ठ	फुल्लरा	विश्वेश
50.	नन्दिपुर	कण्ठहार	नन्दिनी	नन्दिकेश्वर
51.	लंका	नुपूर	इन्द्राक्षी	राक्षसेश्वर
52.	विराट	पादांगुलि	अम्बिका	अमृत[1]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि देवी भागवत में शक्तिपीठों के एक सौ आठ स्थानों का उल्लेख मिलता है। किन्तु तन्त्र चूडामणि जैसा विवरण देवी भागवत में नहीं मिलता है।

देवीपुराण में शक्तिपीठों का उद्भव की कथा वर्णन उपलब्ध नहीं होता है, फिर भी शक्तिपीठों का उल्लेख मिलता है। देवीपुराण में एक से अधिक बार शक्तिपीठों का वर्णन करते हुए जालन्धर[2] कामरूप, कामाख्या, बंग, नरेन्द्र तथा वर्धमान आदि स्थानों का नाम मिलता है। एक अत्यन्त अनजाना शक्तिपीठ का नाम इसमें प्रतिपादित है। यह

---

[1] तीर्थांक (कल्याण) पृ. 516-521।

[2] जालन्धरे महादेवी पीठस्थान गता शिवा। मलये सह्यविन्ध्ये च हिमवत्यर्वुदादिषु। लंकायाञ्चोड्रदेशे च स्त्रीराज्ये काशिकावने। कामरूपे तथा काञ्चया चम्पायाञ्चाथ वैदिशै।

स्थान उज्जयिनी है, जो पश्चिम बंगाल वद्रवान जिले में है। देवी का नाम उजानी[1] - जो स्थानीय प्रतीत होता है - दिया है। वृहद्धर्मपुराण तथा बंगाल के निबन्धकारों ने इसकी गणना शाक्त महापीठों में किया है।[2] कुछ प्रसिद्ध शक्तिपीट जो देवीपुराण में वर्णित हैं वे इस प्रकार हैं- उड्रदेश, स्त्रीराज्य, प्रयाग, लंका, श्रीगिरि, विन्ध्याचल, पुष्कर, नेपाल, उड्डीयमान, त्रिकूट, भोटदेश, कन्यकापुर, गया, मुण्डिपीठ, आदिशाक्त पीठों का विस्तार से वर्णन मिलता है[3], जहां भक्तगण दर्शनकर कृतकृत्य होते हैं।

दस महाविद्या :

उपासना की दृष्टि से तांत्रिक साहित्य में देवी के प्रकार-भेद के अनुसार जो विभाग प्रसिद्ध है उसे महाविद्या कहते हैं। महाकालसंहिता में वर्णित है कि विभिन्न युगों में फल प्रदान करते हैं, किन्तु चारों युगों में फल प्रदान करने की सामर्थ्य एक मात्र दशमहाविद्याओं में है।[4] दस महाविद्याओं की उपासना जीव को क्षुद्र भूमि से उठाकर साधना की उच्चतम स्थिति तक पहुँचाती है। इसीलिए विद्या को परमपद, परमतत्व

वरेन्द्रे चोद्रियाणे च मलाख्ये शिखरे तथा।। देवीपुराण 42/4, 8।

[1] अम्बाख्या लोहिता देवी पूज्यते गन्धमारने। उज्जयिन्यान्तु उजेनी जम्बु मार्गेत तथा स्थिता।। 38/8।

[2] Up-Purana Studies Vol. II, P. 85
also footnote - 125

[3] देवीपुराण, उपोद्घात, पृ. 35।

[4] तांत्रिक साहित्य, पं. गोपीनाथ कविराज, पृ. 27।

एवं अमृत तत्व की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि विद्या से ही जीवन-मुक्ति होती है। बिना विद्या के मनुष्य पशु कोटि में आते हैं और वे जीवित मृत कहे जाते हैं। ये दस महाविद्यायें-काली, तारा, त्रिपुरा, छिन्नमस्ता, बगला, कमला, मातंगी, भुवनेश्वरी, भैरवी और धूमवती।[1] डॉ० किशोरनाथ झा ने दस महाविद्या और स्मार्तशाक्त परम्परा की विधि से उनकी उपासना के परिचय के साथ दीक्षा के महात्म्य विधि का प्रामाणिक परिचय दिया है। विद्वान् विचारक ने इस आगमिक उपासना के द्वारा अनुग्रहवाद के जयघोष का नारा दिया है, साथ ही वैदिक उपासना के कर्मवाद से विलक्षण भी साबित किया है, और यह भी बताया है कि इन दस महाविद्याओं की प्रतिमाएँ पृथक्-पृथक् देवालयों में महाराजा दरभंगा ने अपने आलय में स्थापित की है। आज भी उनकी सविधि पूजन की व्यवस्था मिथिला के राजनगर में देखी जा सकती है। एक ही स्थान पर इस प्रकार से एकत्र दस महाविद्याओं के मन्दिर एवं उनकी प्रतिमाएँ प्रायः उपलब्ध नहीं है।[2]

काली :

महाविद्या के क्रम में सर्वप्रथम काली का स्थान माना जाता है। इसीलिए इन्हें आद्याशक्ति कहते हैं। विश्व का संहारक रूप महाकला यही है। सभी तत्वों को समेट लेने के कारण इसका नाम महाकाल है।

---

[1] भारतीय प्रतीक विद्या, जर्नादन मिश्र, पृ. 180।

[2] भारतीयतन्त्रशास्त्र, सम्पादक, डॉ० ब्रजवल्लभ द्विवेदी, केन्द्रिय उच्च तिब्बती शोध-संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, 1995, पृष्ठ 485-511।

काली को आद्या तथा परा कहा गया है। महाकाल को समेट लेने के कारण इन्हे कालिका भी कहा गया है। ब्रह्म की नित्य क्रिया शक्ति रूप परा शक्ति का नाम ही काली है। अर्थात् निष्क्रिय ब्रहम् का सक्रिय रूप काली है।[1]

काली के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि काली करालवदना, मुक्तकेशी, दिगम्बरा, मुण्डमाला विभूषिता और चतुर्हस्ता कहा गया है। काली के वामहस्त में छिन्नमस्तक है, वह महामोह का प्रतीक है। काली त्रिनयना है। काली का सर्वग्रासी घोर अन्धकारमय कृष्णवर्ण है। सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्ति समन्विते होने के कारण काली का ध्यान किसी भी रूप में किया जा सकता है।[2] देवीपुराण में दश के अपमान के कारण शभुनाशिनी तथा गणना का आश्रय होने के कारण देवताओं में काली नाम से प्रसिद्ध है।[3]

तारा :

सभी महाविद्याओं के रूपों का तत्व एक ही है, अर्थात् एक ही ब्रहम की उपासना अनेक रूपों में की जाती है। तारा शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि केवलत्व (ब्रह्मत्व, एकत्व) देने वाली होने के

---

[1] तत्रैव, पृ. 184।

[2] काली के विस्तृत स्वरूप के लिए द्रष्टव्य - महानिर्वाण तंत्र, योगिनी हृदय, शक्ति संगम तंत्र, काली तंत्र, शाक्त प्रमोद आदि।

[3] काली दक्षापमानेन सर्व्व शत्रु निर्वहणी। कलना काल संख्या वा काली देवेषु गीयते।। देवीपुराण - 73/14।

कारण उन्हें एक जटा कहते हैं, तारक (मोक्ष देनेवाली) होने के कारण सर्वदा तारा हैं। वाक्प्रदान करने के कारण वे नील सरस्वती हैं, उग्र होने के कारण उग्रतारा कही जाती है।[1] तारा के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा गया है कि शिव रूप शिव के हृदय पर पर्त्र्यालीढ़ मुद्रा में खड़ी है। प्रफुल्ल कमल के समान चतुर्हस्तों में कर्त्री, कपाल, उत्पल ओर खड्ग है। वह श्यामवर्णा है ओर निकले हुए दाँतों से भयंकर प्रतीत होती है।[2]

तारा के सिद्धान्त और स्वरूप को बौद्ध और जैनों ने ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। बौद्ध, जैन तथा सनातनी तारा में कोई विशेष भेद नहीं है।[3] देवीपुराण में तारा की व्युत्पत्ति बताते हुए कहा गया है कि वह साध्वी, पतिव्रता तथा कार्तिकेय को उत्पन्न करने के कारण मातृ का रूप भी है। इन्द्र के शत्रुओं के नाश तथा देवताओं की रक्षा करने के कारण उसे तारा कहते है।[4]

त्रिपुरा :

ब्रह्म की, शिव-शक्ति विग्रह के रूप में तृतीय कल्पना त्रिपुरा के रूप में मिलती है। यह महाविद्या बाला, षोडशी, त्रिपुरसुन्दरी, श्रीविद्या

---

[1] भारतीय प्रतीक विद्या, जनाद्रन मिश्र, पृ. 202।

[2] प्राणतोषिणी उपनिषद् पृ. 723, शक्तिसंगमतंत्र, कालीखण्ड, 2/37,39।

[3] प्राचीन भारत में शक्ति पूजा, पृ. 26।

[4] साध्वी पतिव्रतात्वाच्च स्कन्दोत्पादेन मातृका। तारण द्रिपुशक्रा देव्यस्तारा लोकेषु गीयते।। देवीपुराण 73/34।

आदि अन्य नामों से भी प्रसिद्ध है ।[1] सौन्दर्य लहरी में त्रिपुरा के स्थूल और सूक्ष्म रूप का निरूपण किया गया है। कहा गया है कि उसकी मेखला से झंकार शब्द हो रहा है। उसके स्तन कुम्भ के समान पुष्ट, मध्यभाग क्षीण, मुख पूर्ण चन्द्र के समाना तथा हाथों में धनुष, बाण, पाश और अंकुश है ।[2] सूक्ष्मरूप का निरूपण करते हुए बताया गया है कि "सुधा समुद्र" में कल्पवृक्ष से घिरे हुए कदम्ब उद्यान में, चिन्तामणि गृह में, शिव के आकार वाले मञ्च पर, परम शिव-पलंग पर स्थित चिदानन्द की लहर के रूप में भाग्यवान पुरुष ही त्रिपुरा का ध्यान करते है ।[3]

छिन्नमस्ता :

छिन्नमस्ता के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा गया है कि श्वेत कमल के भी बन्धूक पुष्प की तरह लाल तथा जगतमाता सूर्यमण्डल है। उसके भीतर महायोनि चक्र है। उसके बीच में मिथुन कर्म में रत काम और रति की पीठ पर करोड़ों मध्याह्न सूर्यों के सदृश जगमगाती हुई तेजोरूप छिन्नमस्ता है ।[4]

शाक्त प्रमोद में उनके स्वरूप को बताते हुए कहा गया है कि उसके बायें हाथ में कटा हुआ सिर तथा दायें हाथ में बहुत बड़ा खड्ग

[1] शाक्त प्रमोद, पृ. 176-178 तथा 180-18 ।

[2] सौन्दर्य लहरी, श्लोक 7 ।

[3] भारतीय प्रतीक विद्या, जनाद्रन मिश्र, पृ. 210 ।

[4] भारतीय प्रतीक विद्या, पृ. 229 ।

है। वह दिगम्बरी तथा उसके केश खुले हुए हैं। कटे हुए शिरः स्थान से बहती हुई रक्त धारा का पाल कर रही है। प्रातः कालीन सूर्य के समान उसकी प्रभा है। तीनों नेत्र सुशोभित हो रहे हैं।[1]

बगला :

ब्रह्ममयी महाविद्या का एक रूप बगला है।[2] बगला के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सुधासागर मणिमण्डप में रत्न की वेदी पर सिंहासन पर बैठी हुई, पीत वस्त्र, आभरण, माला और विलेपन वाली, वामहस्त से जिह्वाग्र को पकड़कर और दायें से गदा की मार से शत्रु को पीड़ित करने वाली है। यह देवी दो भुजाओं वाली है।[3]

कमला :

स्वर्ण के समान वर्ण, विशलकाय चार हाथियों द्वारा अमृत से पूर्ण स्वर्ण घट से अभिषेक, प्रकाशमान किरीट, उत्तम वस्त्र देवी के वैभव की कल्पना है। कमलासन तक हाथों में कमल सम्पूर्ण सृष्टि में देवी के सर्वव्यापी प्रभाव का संकेत है।[4] इस महाविद्या को कमला, कमलात्मिका तथा लक्ष्मी के नाम से भी अभिहित किया गया है। कमला का स्वरूप कान्ति स्वर्ण के समान है, उसके चतुर्भुज में दो कमल है

---

[1] शाक्त प्रमोद, पृ. 225-227।

[2] शक्ति संगम तंत्र, ताराखण्ड, 30/25-26।

[3] शाक्त प्रमोद, पृ. 307-311।

[4] भारतीय प्रतीक विद्या - पृ. 239।

तथा दो अभय मुद्रा युक्त है। उसका मस्तक किरीट से जगमगाता हुआ है, कमर में क्षौमवस्त्र कसा हुआ है ओर वह कमल पर स्थित है।[1]

मातंगी :

शाक्त प्रमोद में मातंगी का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि वह श्यामवर्णा है। उसके मस्तक पर चन्द्रमा है और वह त्रिनेत्री तथा रत्नसिंहासनस्थ है। उसके चारों हाथों में दण्ड, पाश, कृपाण तथा अंकुश है।[2] वाक् सिद्धि के लिए इसकी उपासना की जाती है।

भुवनेश्वरी :

ब्रह्ममयी महामाया का एक स्वरूप भुवनेश्वरी है। यह प्रातः कालीन दिन की तरह रक्त प्रभावाली है। मस्तक पर चन्द्रमुकुट है। दुग्ध से परिपूर्ण पुष्ट स्तनों वाली है। त्रिनयना हैं तथा मुख मन्द मुस्कान वाला है। यह दो हाथों में अकुश तथा पाश लिए हुए है तथा दो हाथ अभय मुद्रा युक्त हैं।[3]

---

[1] A. शाक्त प्रमोद - पृ. 335,337
B. शक्ति संगम तंत्र, ताराखण्ड - 30/22।

[2] शाक्त प्रमोद - पृ. 335, 337 तथा शक्ति संगम तंत्र, ताराखण्ड, 30/23।

[3] शाक्त प्रमोद - पृ. 203, 207।

भैरवी :

भैरवी का स्वरूप सहस्रों प्रातः कालीन सूर्यो के सदृश अरुणकान्ति वाली तथा अरुणवस्त्र वाली है। वह मुण्डमाला युक्त, रक्त से लिप्त स्तनों वाली जपमाला, पुस्तक (विद्या) अभय और वरद मुद्रा युक्त हाथों वाली, त्रिनेत्र से सुशोभित मुखवाली 'रत्न' की तरह मुकुट में लगे हुए चन्द्रवाली तथा सदैव मुस्कराने वाली है।[1]

घोर कर्म के लिए महाविद्या के घोर रूप और क्रिया की आवश्यकता होती है और शान्तकर्म के लिए शान्त स्वरूप और शान्तप्रद क्रिया की। महाशक्ति भैरवी का रूप जप-जप तथा ज्ञान ध्यानादि शान्त कर्मों में सिद्धिप्रद है।

धूमावती :

धूमावती के रूप में महाशक्ति की रूप-कल्पना शाक्त सम्प्रदाय के दर्शन तथा साधना के सिद्धान्तो के अनुरूप है। वह भोग और मोक्षदात्री विधवा वृद्धा माता के रूप में महाशक्ति की उपासना की रीति है।

देवी का स्वरूप विवर्ण चंचल, काले रंगवाली, लम्बी, मलीन वस्त्रवाली, खुले तथा अव्यस्थित केशवाली, रूखी, विधवा, थोड़े-बहुत

---

[1] तत्रैव, पृ. 260-262।

दाँतों वाली, काकध्वज रथ पर आरूढ़, लटकते स्तनों वाली, हाथ में क्रूर तथा रूखे नेत्र, हिलते हुए वरद हस्त, लम्बी नाक, सर्वदा भूख-प्यास से व्याकुल, भयंकर और झगड़े का घर है।[1]

श्रीविद्या :

वेदों में जिस मोक्षदायिनी विद्या शक्ति का वर्णन किया गया है, वही श्री विद्या शाक्त सम्प्रदाय में, ललिता, राजराजेश्वरी, महात्रिपुरसुन्दरी, बाला, पंचादशी और षोडशी आदिनामों से विश्रुत है। यही ब्रह्म विद्या तथा आत्मशक्ति है। इसके तीन स्वरूप - स्थूल, सूक्ष्म और पर है। स्थूल रूप चरणादि अवयवों से सुशोभित निरतिशय सौन्दर्यशाली रूप मंत्रसिद्धि साधकों का प्रत्यक्ष विषय है। दूसरा रूप पुण्यवान साधकों के कर्णेन्द्रिय तथा वागेन्द्रिय का प्रत्यक्ष विषय है। 'पर' रूप साधकों के केवल मन-इन्द्रिय से गृहीत होता है, क्योंकि चैतन्य रूपा महाशक्ति के चैतन्य का अनुभव मन से ही हो सकता है। विष्णुयामक का कहना है कि "स्वावत परं रूपं तन्त्रा जानाति कश्चन"। इसके अलावा देवी के तुरीय रूप का, केवल मुक्त को नही अखण्ड अहंता के रूप में अनुभव करते हैं। वही देवी अखण्ड रूप है। चिति - शक्ति का यह स्वरूप प्रकाश स्वरूप है। उसके इसी प्रकाश से समस्त

---

[1] A. तोडलतन्त्र, पटल 1, शाक्त प्रमोद, पृ. 281, 87, 88।

B. शक्ति संगम तंत्र, ताराखण्ड, 30/23-24।

प्रपंच प्रभासित होता है।[1] श्रीविद्या ही साक्षात जगन्माता है। इनका अभिनन्त्व ही श्री विद्या का रहस्यार्थ है। श्री विद्याा ही बुद्धि रूपा है तथा बुद्धि शक्ति से सर्व प्रपंच की आधार रूपा है।

श्रीयन्त्र :

जिस प्रकार शिव का पूज्य चिन्ह शिवलिंग है, उसी प्रकार शक्ति का प्रतीक या पूज्याकृति साबिन्दु त्रिभुज है। सभी प्रकार के मंत्रों के मध्य यह त्रिभुज अवश्य विद्यमान रहता है। श्री यंत्र का अर्थ है 'श्री विद्या का घर'। यह सम्पूर्ण जगत उस परम सत्ता का गृह स्थान है। दो-दो त्रिकोणों के परस्पर संश्लेष द्वारा पिण्डाण्ड के भीतर ब्रह्मांड तथा ब्रह्मांड के भीतर पिण्डाण्ड का समावेश सूचित किया जाता है। श्री चक्रनव योन्यात्मक है- धर्म, अधर्म, आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा, जीव, ग्राह्य और प्रभा। नव त्रिकोणों में पांच अधोमुखी त्रिकोण निर्मातृ शक्ति सूचक और चार ऊर्ध्वमुखी, त्रिकोणवह्नि (शिव) अथवा प्रलयकारक चक्र है।[2] यह श्रीचक्र सृष्टि, स्थिति और प्रलयकारक माना जाता है। इसे सर्वसिद्धिप्रदाता और त्रैलोक्य की समृद्धि का हेतु माना गया है।

---

[1] एवंविधं हि भारूपं ग्रस्त सर्वप्रपंचकम्। भाति स्वतंत्रतः स्वस्मिन् सर्वचापि च सर्वदा।।
त्रिपुरारहस्य, ज्ञानखण्ड।

[2] तच्छक्तिपंचकं सृष्ट्या लयेनाग्नि चतुष्टयम्।
पंचशक्ति - चतुर्वह्रि - संयोगाच्चक्रसम्भवः।। योगिनीहृदयदीपिका, चक्रनिरूपण भाग।

द्वितीय अध्याय

इतिहास, पुराण, आख्यान, गाथा तथा नारांशसी आदि का सामान्य परिचय

इतिहास का प्रारम्भ उसी बिन्दु से होता है जहाँ पर, मनुष्य अपनी भूमिका लेकर उपस्थित होता है। संहिता में मनुष्य उपस्थित है। वैदिक वाड्.मय ज्ञान-विज्ञान के विविध स्वरूपों के मूल स्रोत के रूप में प्रतिष्ठित है। विश्व के लिखित साहित्य में जहाँ यह प्राचीनतम स्वरूप का संवाहक नाना जाता है, वहीं भारतीय परम्परागत अध्ययन पद्धति के आधार पर इसके अपौरुषेय स्वरूपके प्रतिष्ठा को बड़ा ही महत्व प्रदान किया गया है। वैदिक वाड्.मय में जिस प्रकार प्राचीन शास्त्रों के विविध विषयों का सिद्धान्तगत मूल स्वरूप सुरक्षित है, उसी प्रकार से अर्वाचीन कालिक ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों का सैद्धान्तिक तथा प्रक्रियागत स्वरूप सुरक्षित पाया जाता है। इन प्राचीन एवं अर्वाचीन कालिक ज्ञान-विज्ञान के विविध स्वरूपों का संवर्धन एवं प्रकाशन काल सापेक्षता के आधार पर विकासात्मक गति के परिप्रेक्ष्य में अपने अस्तित्व का परिमापक दृष्टिगत हुआ है। एतद्नुसार किसी समय अपने समुन्नत स्वरूप के साथ चरमोत्कर्ष पर स्थिर वैदिक कर्मकाण्ड, उपासना एवं ज्ञान काण्ड का प्रायोगिक स्वरूप मनुष्य के साथ ही समस्त भूत जाति के लिए आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक समृद्धि का मुख्य आधार था, वहीं वर्तमान समय में कालचक्र के प्रभाव से अत्यन्त संकुचित स्वरूप के साथ व्यावहारिक सत्ता में अवस्थित दृष्टिगत होता

है। आज के इस विज्ञान प्रधान युग में विश्व स्तर पर विद्या के जिन विविध पक्षों पर विशेष रूप से अध्ययन एवं शोध का कार्य किया जा रहा है। उसके सूक्ष्मतम स्वरूपों का संकेत कहीं बीज रूप में तो कहीं विस्तार के साथ उपलब्ध होने की बात प्राच्य एवं पाश्चात्य के विशिष्ट विद्वानों द्वारा सिद्धान्त रूप में स्वीकृत हुआ है। विद्वद् वर्ग इसी आधार पर वैदिक वाङ्.मय में प्राचीनतम स्वरूपों का आलम्बन उदार मन सा ग्रहण करने को उन्मुख हुआ है।

वैदिक वाङ्.मय में इतिहास शब्द यद्यपि परवर्ती साहित्य में उल्लिखित हुआ है तथापि इसका मूल स्रोतगत पृष्ठभूमि का हमें ऋग्वेद एवं यजुर्वेद के प्राचीनतम संहिता भागों में भी उपलब्ध होते हैं। वैदिक वाङ्.मय के प्राचीनतम अंश के रूप में मन्त्र एवं ब्राह्मण भाग की गणना की जाती है। इन भागों में बहुतायत से प्राप्त क्लिष्ट पदों का अर्थ एवं तात्पर्य स्वरूप निर्वचन एवं व्युत्पत्ति प्रक्रिया के माध्यम से निरुपित किया जाता है। इतिहास शब्द को भी व्युत्पत्ति प्रक्रिया के माध्यम से 'इति', 'ह', 'आस' रूप में निरुपित किया जाता है। सामान्यतया 'इति' अर्थात् इस प्रकार से 'ह' विश्चयेन 'आस' था, यह अर्थ इतिहास शब्द के साथ सम्बद्ध होता है। उपर्युक्त व्युयत्पत्तिजन्य प्रक्रिया स्वरूप के अन्तर्गत 'ह' और 'आस' शब्दों की अर्थ प्रतिपत्ति प्रायेण निर्विवाद रूप में स्वीकृत हुई है। किन्तु इतिहास शब्दगत इति अंश पर कतिपय विद्वानों की विशेष दृष्टि अधोलिखित रूप में परिलक्षित होती है -

वेदों में गत्यर्थक 'इण्' धातु से निष्पन्न इति शब्द का प्रयोग स्वतंत्र रूप से गति अर्थ में प्राप्त होता है। इति शब्द का समानार्थक एक अन्य 'इत्या' शब्द मंत्र भाग में कतिपय स्थलों पर इत्या, इत्याः, इत्यै आदि शब्द रूपों के साथ प्रयुक्त हुआ है। उपर्युक्त शब्दों के द्वारा निरूपित गति अर्थ साधारणतया सामान्य गति के बोधक प्रतीत होते हैं। परन्तु वहीं 'इति' या 'इत्या' शब्द गति के साथ जब मन्त्र में श्रुत होता है, तो वह किसी विशेष गति को निरूपित करने में प्रवृत्त हुआ है - यह माना जाता है। यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता के एक मन्त्र नें 'इतिश्चमे गतिश्च मे' के रूप में जहाँ यह प्राप्त होता है, वहीं यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता के एक मंत्र में 'इत्याच मे गतिच मे' के रूप में श्रुत हुआ है।[1]

ऋग्वेद में इति शब्द के विभिन्न स्वरूपों के अन्तर्गत इत्या, इत्यै, इत्याः तथा स्वयं इति शब्द मंत्राश रूप में उपलब्ध हुआ है। इन समस्त स्वरूपों के व्याख्यान के प्रसंग के अवसर पर आचार्य सायण गति परक अर्थ को भी निर्देशित करते हैं। इस क्रम में इत्या, इत्यै तथा इत्याः शब्दों का व्याख्यान जहाँ आन्तरिक गति को संकेत के रूप में निरूपित करता हुआ सा दृष्टिगत होता है, वही ऋग्वेद दशम मण्डल के एक मंत्र

---

[1] A. तैत्तिरीय संहिता - 4/7/5/2।
B. माध्यन्दिन संहिता - 18/5।

में श्रुत यह इति शब्द स्पष्ट रूप मे मनोगत गति व्यापार को निरूपित करने वाला व्याख्यापित हुआ है ।[1]

उपयुर्क्त वेदगत सन्दर्भों के आधार पर इति शब्द सृष्टि प्रक्रिया में निहित आन्तरिक शक्ति या गति का निरूपक होता हुआ आधिभौतिक स्तर पर उसी गति के बाह्य गति व्यापार रूप स्वरूप को रूपायित करने की प्रतिष्ठा को अधिगत कर इतिहास के रूप में आचार्यों द्वारा व्याख्यायित होता है ।[2] इतिहास शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अथर्व वेद में प्राप्त होता है । यथा-

तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्चनाराशंसीश्चानुव्य चलन् ।[3] अर्थात तब इतिहास पुराण और नाराशंसी गाथा उसका अनुगमन करने लगी । **"इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ।"**[4] अर्थात् जो इस बात को जानता है वह इतिहास पुराण नाराशंसी गाथाओं का प्रिय धाम होता है ।

---

[1] नभसः न इत्या = आदित्यस्य गतिरिव (सायथा शीघ्रातद्वत) ऋकसंहिता, 1/167/5 ।
(उषा अपेक्षितमर्थ प्रति) इत्याः = गमनार्थ त्वं एकं प्रति व्युच्छन्ती, ऋक्संहिता, 1/113/6 ।
(गच्छतः वायोः) इत्यैः = गतयः (आ रन्ते अभितो रमन्ते) ऋकसंहिता, 7/36/3 ।
इति वा इति मेमनो गामश्वं सनुयामिति । कुवित्सोमस्याऽपामिति ।। इति वै इति खलु इति एवं प्रकारेण मे मदीयं मनः वर्तते ।। ऋक् संहिता, 10/119/1, सायण भाष्यहित ।

[2] वेद में इतिहास का दर्शन, लेखक डॉ. फतह सिंह, इतिहास दर्शन, पृ. 25 ।

[3] अथर्ववेद - 15/6/11 ।

[4] अथर्ववेद - 15/5/12 ।

इतिहास का पदपाठगत स्वरूपः

दुर्गस्वामी का कहना है कि इस प्रकार से निश्चय जो था, उसी को इतिहास शब्द के द्वारा व्यवहृत किया जाता है।[1] आचार्य शौनक के अनुसार पूर्ववृत्त ही इतिहास है।[2] अमरकोशकार को भी यह मत अभीष्ट है।[3] आचार्य सायण इतिहास के रूप में महाभारत, रामायण आदि को परिलक्षित करते हैं। अर्थात् **'देवासुरा सन्यत्ता आसन्'** इत्यादि रूप से प्राप्त श्रुति वाक्यगत विषय को इतिहास के रूप में निरूपित करते है।[4] महाभारत के विष्णुपर्व के अनुसार इतिहास ऐसी प्राचीन कथा है जिसमें धर्म, अर्थ, काम ओर मोक्ष का उपदेश समाहित है।[5] इस प्रकार इस परिभाषा में इतिहास के अन्तर्गत दर्शन का बोध भी रूपायित होता है। इसमें इतिहास के लौकिक एवं पारलौकिक दोनों पक्षों का उद्घाटन किया गया है।

परवर्ती पौराणिक साहित्य में इतिहास शब्द का प्रयोग इतिवृत्त के अर्थ में हुआ है।[6] अर्थात् वास्तविक घटनाओं को इतिहास कहा गया है।

---

[1] 'इति हैवसीसीदितियः कश्यते स इतिहासः' निरुक्त, वृत्ति 2/10।

[2] "इतिहासः पुरावृत्तं ऋषिभिः परिकीर्त्यते" बृहद्देवता, 4/46।

[3] इतिहासः पुरावृत्तम् - अमरकोश 1/6/4।

[4] तैत्तिरीय आरण्यक, सायण भाष्य 2/9।

[5] धर्मार्थ काममोक्षाणाम् उपदेश समन्वितम्।
पूर्ववृत्त कथा युक्तमितिहासं प्रचक्षते।। महाभारत, विष्णुपर्व 3/15।

[6] अत्राप्युदाहरतीममितिहासं पुरातनम् - म. पु. 72/6।

नौवीं शताब्दी के जैन लोगों के आदि पुराण के निर्माता जिनसेन का कहना है कि इतिहास एक सुरुचि सम्पन्न विषय है। परम्परा के अनुसार इसका अभिप्राय है, तथ्य वर्णन।[1] इस प्रकार जिनसेन द्वितीय ने इतिहास के प्रकृति प्रत्यय और क्षेत्र विसतार पर विचार प्रकट किये है। जिससे यह स्पष्ट होता है कि जैनियों का इतिहास दर्शन हिन्दुओं के इतिहास दर्शन की ही भाँति सार्वभौम व समाज के सांगोपांग का विकास का प्रतिपादक रहा है।

बौद्ध धर्म में इतिहास की अवधारण अवदान के नाम से जानी जाती है। शाश्वकोश के अनुसार इतिवृत्त अवदान है।[2] अवदान ग्रन्थों में अधिकतर किसी महत्वपूर्ण घटना तथा उसके परिणाम का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। मध्ययुगीन महाकवि गोस्वामी तुलसी दास ने इतिहास को प्रचीन आस्था और संस्कार के रूप में रूपायित किया है। उन्होंने शंकर मुख से पंथ और विविध इतिहास को प्रस्तुत किया है।[3]

अर्वाचीन विचारकों का इतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण

श्री बख्शी महोदय इतिहास को पुरावृत्त के रूप में परिलक्षित करते हैं। परकृति को प्रशंसा रूप से व्याख्यायित करने को इतिवृत्त भी मानते है। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए उनका कहना है कि जो

---

[1] आदिपुराण।

[2] अवदानम् इतिवृत्ते।

[3] बरनत पंथ विविध इतिहासा। विश्वनाथ पहुँचे कैलाशा।। बालकाण्ड।

कोई व्याख्यान आध्यात्मिक, आधिदैविक या आधि भौतिक अर्थ विशेष के रूप में प्रकाशित किया जाता है, वह मंत्र के निगूढित अर्थ के मूल स्वरूप का संकेत मात्र होता है और इस मंत्र के मूल अर्थ के सांकेतिक व्याख्यान के माध्यम से प्रकाशित करने के प्रयास को इतिहास कहा जाता है।[1]

पण्डित मधुसूदन ओझा ने इतिहास को चेतन मानव का चरित्र माना है। उसे वह पुराण से भिन्न मानते है।[2] पं. ओझा जी इतिहास को इतिवृत्त के परिप्रेक्ष्य में लोकवृत्त के रूप में निरूपित करते है।

एक अन्य स्थान पर उन्होने पंचभूत सम्बन्धी आधिभौतिक प्रक्रिया के अन्तर्गत पृथ्वी में रहने वाले जीवों के चरित्र को इतिहास के रूप में स्वीकार किया है।[3] कुछ और न होकर लोकवृत्त है। इन दोनों कथानकों से यही प्रतीत होता है।

दत्तोवामन पोद्धार के विचार से इतिहास एक शास्त्र है।[4] इतिहास की यह परिभाषा उसे एक शास्त्र के रूप में देखती है।

[1] निरुक्त, 10/25, मुकुन्द झा बख्शी, भाष्य टिप्पणी-3, पृ. 450।
[2] जगदगुरू वैभवम्, पृ. 35।
[3] यद् विश्वसृष्टेरिति वृत्तमासीत् पुरातनं तद्धि पुराणमाहुः।
यच्चेतनानां तु नृणां चरित्रं पृथक् कृतं स्यात् स इहेतिहासः।।
ऋक् संहितायामधिदैवमुक्ता विज्ञानतः सूर्यगता यथार्थाः।
तथाधिभूतं पृथिवीस्थजीवान् प्रायेण विद्यादितिहासतश्च।। जगदृगुरू वैभवम्, पृ. 35।
[4] अभिमत, पृ. 118, इतिहास दर्शन, पृ. 136।

इतिहास दर्शन के प्रख्यात पण्डित डॉ. बुद्ध प्रकाश का अभिमत है कि इतिहास जातियों की अमूल्य निधि है। उन्होंने भारत की अविच्छिन्न ऐतिहासिक परम्परा को राष्ट्र के अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार किया है।[1]

प्रसिद्ध विचारक मोरोपन्त पिंगले का उद्घोष है कि इतिहास में जीवन प्रकृति की अवमानना नहीं होनी चाहिए, यही सर्वथा सार्थक और न्याय संगत है। जीवन प्रकृति से अभिभूत इतिहास को सत्यनिष्ठ इतिहास कहा जायेगा। इनके अनुसार सत्य इतिहास प्राण है।[2]

महाकवि रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार जहाँ हमें हमारा चरित्र धोखा देता है, इतिहास उसकी रक्षा करता है।[3] पूर्व प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी के शब्दों में इतिहास निष्ठुर होता है। उसकी निष्ठुरता और निरपेक्षता है। किसी घटना या कालखण्ड से सीख लेने का आधार दे सकती है।[4]

प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् डॉ फतह सिंह ने इतिहास शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि इतिहास का इति पद कुछ-2 स्थानों पर वांछित अर्थ के प्रति होने वाली मानसिक गति का सूचक है।[5] उन्होंने ऋग्वेद

[1] श्रेय मासिक पत्रिका, पृ. 49-50, प्रकाशन संवत् 2030।

[2] पंथ संकेत, प्रथमांक, पृ. 13-14।

[3] नवभारत टाइम्स - 25/1,1982।

[4] डॉ राजेन्द्र प्रसाद के ऊपर लिखे गये निबन्ध में प्रतिपादित विचार।

[5] वेदों में इतिहास का दर्शन - इतिहास दर्शन, पृ. 25।

के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अन्यत्र अति मानसिक अन्तर्जगत की गति के लिए इति शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] उनके अनुसार इतिह पर आसीन होना ही इतिहास है।

पाश्चात्य विचारकों की इतिहास सम्बन्धी अवधारणाए

प्लेटो के अनुसार इतिहास खगोलीय चक्रों के प्रावर्तन के अन्तर्गत प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों का तथ्यात्मक स्वरूप है।[2]

सोरोकिन के अनुसार किसी भी संस्कृति की उद्भावना आदर्श और संवेदनात्मक पक्षों को श्रद्धा एवं तक्र के माध्यम से सत्यात्मक स्वरूप की विवेचना इतिहास है। टायनवी के अनुसार किसी भी संस्कृति की पूर्णता का सम्बन्ध परमात्मा से है। परमात्मा की भावनात्मक जागृति रूप सर्जन शक्ति को भौतिक स्तर पर रूपायित करने का आकलन इतिहास माना जा सकता है। हीगेल ने इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अध्यात्म जगत् के एक वृहद् ब्रह्माण्डीय चक्र की परिकल्पना की है जिसमें आत्मा की व्याप्ति निराकार तथा अनन्त भाव के साथ रहती है। इस भाव जगत् में द्वन्द्वात्मक प्रकृति के कारण भौतिक स्तर तक सृष्टि प्रक्रिया के मध्य इतिहास की दिशाओं का रेखांकन होता है। कालमार्क्स भी हीगेल

---

[1] ऋग्वेद 1/167/5।

[2] इतिहास दर्शन पृ 25।

के द्वन्द्ववाद सिद्धान्त को इतिहास के परिप्रेक्ष्य में मान्यता प्रदान करते है ।[1]

डॉ फ्रेजर के अनुसार इतिहास प्राकृत जनों के द्वारा प्रकृति के संसार की व्याख्या करने फूहड़ प्रयत्न है ।

मूलर के मत में प्रागैतिहासिक काल से अनुवर्ती युग तक अयथार्थ रूप से समझी गयी काव्यामत कल्पना इतिहास है ।

दुर्खीम का अभिमत है कि मनुष्य को अपने समूह में सुघड़ बनाने के लिए रूपकीय निर्देशों का संग्रहालय इतिहास है ।

कैम्पबेल का कहना है कि इतिहास रहस्य का उद्‌घाटक है, जो ब्रह्माण्ड की अक्षम ऊर्जा को मानव की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति में उड़ेल देता है ।

कदैनी के कथानुसार इतिहास एक ऐसी कला है, जो अपनी बनावट को स्वयं प्रकट करती है और उस विशेष सामग्री को भी प्रकट करती है, जो उससे सम्बन्धित रहती है । इतिहास अपने नियमों के द्वारा उसी एक प्रत्यक्ष वस्तु की अविभाज्य एकता को संघटित करता है ।

इतिहास का यह समग्र तथा सार्वभौम रूप इतिहास के प्रति हिन्दूओं का एक विलक्षण दार्शनिक दृष्टिकोण है । वेद तथा उपनिषदों

---

[1] इतिहास दर्शन पृ. 46 ।

में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है कि यह समस्त ब्रह्माण्ड ब्रह्म से निःसृत हुआ है। ब्रह्म में ही पोषित होता है तथा ब्रह्म में ही इसका अन्तर्भाव हो जाता है। यहीं बातें भगवद्गीता, धर्मशास्त्र तथा पुराणों में परिलक्षित है। हिन्दूओं के इस महान् चिन्तन ने कल्प, युग, कर्म, पुनर्जन्म, अवतार, वर्णाश्रम, धर्म, पुरुषार्थ तथा मनुष्य के अवतार रूप में विकसित होने की दिव्य परम्परा का प्रतिपादन किया है। जिसके कारण हिन्दूओं के इतिहास की अवधारण कहानी मात्र न होकर एक अर्थ प्रधान अतीत जीवन्त वर्तमान तथा अनवरत गतिशील भविष्य का द्योतक है। इस प्रकार इतिहास को हिन्दूओं ने जानबूझकर जीवन में अवतरित किया है। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन में एक स्थान है। प्रत्येक के लिए कुछ कर्त्तव्य कर्म है जिनके आधार पर वह स्वाधीनता पूर्वक अपने भविष्य का निर्धारण कर सकता है। इस सन्दर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि यद्यपि भारतीय चिन्तन धारा मौलिक रूप से व्यक्ति निष्ठ है किन्तु जीवन तथा इतिहास के प्रति इसका दृष्टिकोण स्वार्थपरक नहीं है। व्यक्तियों के कर्तव्य का सामाजिक महत्व है। यद्यपि उनके क्रियान्वयन द्वारा व्यक्ति आध्यात्मिक उत्थान कर सकता है। इस प्रकार व्यक्ति धीरे-2 सार्वभौम हो जाता है और उसका उत्थान ऐतिहासिक पर्यावरण से परे हो जाता है।[1]

महाकाव्य, पुराण, धर्मशास्त्र तथा ऐतिहासिक कथानकों का कार्य इसी दार्शनिक तथ्य का प्रतिपादन तथा इसी पृष्ठभूमि में ऐतिहासिक

[1] हिन्दू वि आफ लाइफ, बाई एस. राधाकृष्णन्, पृ. 46, 1963।

घटनाओं का विश्लेषण है। कर्म, अवतार, पुरुषार्थ तथा वर्णाश्रम सम्बन्धी विश्लेषणों के लिए यह एक स्वाभाविक स्थल है और इस सम्बन्ध में यही इतिहास के कार्य है। इस प्रकार के लेखों या रचनाओं का उद्देश्य शिक्षा, पौराणिक कथाओं, आख्यानों तथा गल्पों द्वारा जीवन को पूर्ण बनाना है।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक कृतियों को सार्वभौम कहा जा सकता है, क्योंकि जीवन मूल्यों, नैतिक आदर्शों, विश्व कल्याण आदि भावनाओं को प्राथमिकता दी, और उनके लिए राजनैतिक घटनाओं का स्थान उनसे नीचे था। इतिहास उनके लिए मात्र घटना और उसके अभिलेख मात्र से सम्बन्धित नहीं था। बल्कि विविध पक्षों ने धार्मिक, सौन्दर्यशास्त्र मूलक तथा भावनात्मक पक्षों को उजागर करने का एक माध्यम था। उनके लिए आदर्श तथा सिद्धान्त अधिक महत्वपूर्ण थे। घटनाओं तथा उनसे सम्बद्ध व्यक्तियों का इतना महत्व नहीं था। उनका विश्वास था कि इतिहास का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति का सर्वतोन्मुखी विकास करना है और इसीलिए उन्होंने प्रायः शान्ति एक रुपता तथा लोक कल्याण को अधिक महत्वपूर्ण माना।[1] प्राचीन भारतीय विद्वानों के इतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण तथा आदर्शों से

---

[1] A. रेन्सेशन ऑफ इण्डिया - श्री अरविन्दो, पृ. 7-29।
B. गान्धी सेलेक्शन, सम्पादक एन. के. बोस, पृ. 21-30।
C. फिलासफी ऑफ राधाकृष्णन् - एस. राधाकृष्णन् - पृ. 42।
D. इतिहास कांग्रेस में, डॉ पी. वी. काणे महोदय का अध्यक्षीय भाषण, 1953।
E. वैदिक एज की भूमिका, के. एम. मुन्शी।

वर्तमान काल के प्रसिद्ध पाश्चात्य तथा पौर्वात्य विचारक भी सहमत होने लगे हैं।

प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डॉ आर. सी. मजुमदार का अभिमत है कि भारतीय सभ्यता जिस स्वरूप और विद्या से अपने को अभिव्यक्त करती है, उससे विश्व का शेष भाग परिचित नहीं है। फलतः हम भारतीय इतिहास को एक दूसरे उत्साह से देखते है और अपनी सभ्यता तथा संस्कृति के मूल्यों को विभिन्न नापदण्डों के माध्यम से नापते हैं। युद्ध तथा विजय साम्राज्यों एवं राष्ट्रों का उत्थान-पतन, राजनैतिक विचारों तथा संस्थाओं का अभ्युदय आदि विषय भारतीय इतिहास के लिए अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। दूसरी ओर दर्शन, धर्म कला अध्ययन, सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों का विकास और मानवीय प्रगति तथा संस्थाओं के सम्बन्ध में किये गये विचार बहुत महत्वपूर्ण है, जो भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता की देन है।[1] यह इतिहास सम्बन्धी समग्र विचार जिसमें मूल्यों तथा शिक्षा पर बल दिया गया है जिससे व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन यात्रा को सफलता-पूर्वक सम्पन्न कर सके।

इतिहास के पाश्चात्य विद्वान भी अब धीर-2 भारतीय इतिहास की अवधारणा को महत्व देने लगे है। लाडविड बाड मिसेज ने इतिहास की वही परिभाषा दी प्राचीन भारतीय इतिहासकारों के अनुरूप है।

---

[1] वैदिक एज, पृ. 42-43।

इतिहास मनुष्य के विचारों और कार्यो पर दृष्टिपात करता है। इतिहास उन परिस्थितियों का आकलन करता हे जिनमें लोग जिवित रहते हैं, जिनमें लोग प्रतिक्रिया करते है। इतिहास का विषय मनुष्य के मूल्य तथा उद्देश्य सम्बन्धी नियमों के निर्णय से है ये उद्देश्य इन्हीं निर्णयों द्वारा प्रेरित होते हैं और ये निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किये गये मनुष्यों के कार्यों की उपज है।[1]

प्रो. आर. जी. कोलीवुड का कथन है कि सभी इतिहास विचारों के इतिहास है। इतिहास मनुष्य का स्वतः ज्ञान है। प्रायः इसका महत्व इसलिए है कि मनुष्य को अपने को जानने का अभिप्राय केवल यह ही नहीं कि वह अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं को जानें तथा अन्य मनुष्यों को अपने से भिन्न करने वाले तत्वों को पहचाने, बल्कि इसका अभिप्राय उसके अपने मानवोचित स्वभाव का अध्ययन है।

क. एतदनुसार "अपने को जानने का अभिप्राय है कि मनुष्य होने का अभिप्राय क्या है?"

ख. "तुम किस प्रकार के मनुष्य हो जिस प्रकार का दूसरा नहीं है। जानने का अभिप्राय यह है कि तुम क्या कर सकते हो? और चूँकि दूसरा यह नहीं जानता है कि तुम क्या कर सकते हो, जब तक कि तुम कोई कार्य न करो। अतः तुम क्या करना चाहते हो, इसकी जानकारी तभी होगी जब तुम कुछ करो।" इस प्रकार

[1] थियरी ऑफ हिस्ट्री, पृ. 298।

इतिहास का मूल्य है कि मनुष्य को यह शिक्षा देता है कि मनुष्य ने क्या किया है? और इस प्रकार मनुष्य की पहचान क्या है?[1]

डॉ. हरनाल्ड जे. टायानवी का दृष्टिकोण भी भारतीय इतिहास तत्त्ववेत्ताओं के समान है। ऐतिहासिक दृष्टि का लक्ष्य यह निर्धारित करना है कि अखिल ब्रह्माण्ड एक केन्द्र से दि्क तथा कालयुक्त आयामों की चार सीमाओं में गतिशील रहता है। वह यह भी बताता है कि पृथ्वी का जीवन विकासोन्मुख होता हुआ जीवन, काल तथा दिक् पाँच आयामों में अग्रसर होता रहता है। वह यह भी बताता है कि मानव आत्मा के ही वरदान स्वरूप में छठे आयाम में अग्रसारित होता हुआ आध्यात्मिक स्वतंत्रता की ओर गतिशील होता है। इसके दो परिणाम हो सकते हैं, चाहे वह स्रष्टा की ओर जाय या उससे दूर हो। मानव इस जीवन में यदि दिक् तथा काल के बन्धन को तोड़ लेता है तथा साक्षात् ईश्वर के समक्ष हो जाता है और यह साक्षात्कार अनवरत बना रहता है, तो कालान्तर में व्यक्ति असुर भाव से सुर भाव को प्राप्त हो जाता है।[2]

अन्त में प्रो. ए. एन ह्वाइट हेड ने 19वीं शताब्दी के विचार के सम्बन्ध में कहा है कि आगे आने वाले युगों में समीक्षक गण अपने सैद्धान्तिक निर्णयों के आधार पर अतीत के सकलानी विचारों को ग्रहण

---

[1] आयडिया ऑफ हिस्ट्री, पृ. 10।

[2] आब्रिजमेण्ट ऑफ टोयानवी स्टडी, डॉ. एस. सोमेवैली, वा. 2, पृ. 354।

करेंगे। इस प्रकार हम शुद्ध इतिहास का दृष्टिकोण प्राप्त करेंगे। यह विचार हमें 19वीं शताब्दी के अन्त में प्राप्त होगा। इतिहासकारों का यह दृष्टिकोण जिसमें सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी दुराग्रह न हो जिसमें आध्यात्मिक संस्था के प्रति आग्रह या विश्वास न हो और सार्वभौम सामान्यीकरण की धारण न हो ऐसा इतिहास कल्पना मात्र होगा।[1]

प्रो. आर. सी. कुलकरणी का मानना है कि हमारा इतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण निम्नलिखित विचारों पर आधारित होगा -

क. हमें भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के विषय में अपने मन में यह धारणा बना लेनी चाहिए कि इसका एक विलक्षण स्वरूप है।

ख. हमें मूल्यों तथा संस्कृतियों पर अधिक बल देना चाहिए।

ग. हमें मूल्य मापने का एक मापदण्ड निर्धारित करना चाहिए। जिसके बिना ऐतिहासिक प्रक्रिया को समझा नहीं जा सकता।

घ. हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय इतिहास आदिकाल से एक समन्वय की प्रक्रिया पूरी करता रहा है। इसलिए समन्वय ही हमारा केन्द्र बिन्दु होना चाहिए। इस प्रकार इतिहास केवल घटना चक्रों का समूह नहीं और न तो प्रमाणों पर आधारित तथ्यात्मक घटनाओं का वर्णन ही। वास्तव में इतिहास एक चुनाव करने की प्रक्रिया है तथा प्रत्येक चुनाव के लिए मापदण्ड आवश्यक है।

---

[1] एडवञ्चर ऑफ इण्डिया, बाई ए. एन. ह्वाइट हेड, पृ. 12।

यदि इतिहास को एक उद्देश्य पूरा करना है, एक कार्य सम्पादित करना है, तो हमें निश्चय ही चुनाव तथा निर्णय को मापदण्ड नियत करने होंगे, जो हमारी सभ्यता के अनुरूप हो और प्रत्येक सभ्यता को अपने विषय में स्वतः ही कुछ कहना चाहिए।[1]

उपर्युक्त आदर्शों के आधार पर इतिहासकार का कर्तव्य है कि वह अपने अध्ययन काल में. घटनाओं तथा सांस्कृतिक संस्थाओं का अध्ययन करे। वह किसी एक विश्वास का पक्ष-पाती हो सकता है और उसी परिप्रेक्ष्य में तथ्य सम्बन्धी इतिहास का वास्तविक आकलन कर सकता है, जिसे हम आज की भाषा में वैज्ञानिक इतिहास कर सकते हैं। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए वेण्डेट क्रोश ने कहा है कि यदि इतिहासकार कोई अपना पक्ष रखने या लेने से कतराता है, तो उसे एक राजनैतिक या वैज्ञानिक नपुंसक बन जाना चाहिए और इतिहास नपुंसक विषय नहीं है। वे इतिहासकार विश्वसनीय नहीं है, जो प्राप्त तथ्यों पर प्रश्न तो खड़ा कर सकते है पर कोई समाधान नहीं दे सकते। अपना कुछ जोड़ने में उनका कतराना एक प्रकार का भ्रम है और यह भ्रम अत्यन्त निन्दनीय है। उन्हें अपना व्यक्तिगत दृष्टिकोण अवश्य देना चाहिए। अपना व्यक्तिगत योगदान अत्यन्त आवश्यक है। मानव जीवन की कहानियों में वह योगदान तथ्यात्मक पक्षपात रहित तथा ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित होना चाहिए।[2]

---

[1] वैदिक फाउण्डेशन ऑफ इण्डियन कल्चर, पृ. 56।

[2] एस्थेटिक, पृ. 220-223, उद्धृत बाई आर. के. मुखर्जी, वा.1, पृ. 3।

पुराण साहित्य

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति है। इस संस्कृति के सांगोपांग परिचय के लिए वैदिक साहित्य के अध्ययन का महत्व असंदिग्ध है। वेद सभी साहित्य के आदिस्रोत माने जाते है। पुराणों को उनसे पृथक नहीं माना जाता। उपनिषदों की यह मान्यता है कि जिस प्रकार वेद ब्रह्म के निःश्वास है, उसी प्रकार का प्रभाव पुराणों के साथ संपृक्त है।[1] अर्थात वैदिक काल में ही पुराणों का अस्तित्व बोध था। संहिता साहित्य में अनेक स्थलों पर पुराण शब्द का प्रयोग जहाँ प्राचीन अर्थ में हुआ है, वही पुराणों शब्द का उपयोग गाथा के साथ ही पौराणिक कथाओं के संकेत के लिए भी हमें प्राप्त होता है।[2] जिसके आधार पर ही समस्त पौराणिक साहित्य को वेदार्थ उपवृंहक माना जाता है।

पुराण प्राचीन काल की कथा का द्योतक है।[3] अर्थात् पुराणों में प्राचीन काल में घटित घटनाओं का उल्लेख है। इस सम्बन्ध में डॉ. रमाशंकर भट्टाचार्य का अभिमत है कि अत्यन्त प्राचीन-काल नें पुराण एक अव्यवस्थित और बहुधा विकीर्ण परम्परागत लोकवृत्तात्मक विधा विशेष मात्र था। परिवर्ती काल में कृष्ण द्वैपायन व्यास ने नवीन

[1] वृहदारण्यक उपनिषद 2/4/10।
[2] ऋग्वेद संहिता - 3/58/6।
[3] वैदिक इण्डेक्स, पृ. 616।

विषयों का संयोजन कर व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया। उसे ही आज पुराण साहित्य के नाम से जाना जाता है।[1]

उपर्युक्त बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक काल से ही पुराणों का अस्तित्व था। इस विषय परवर्ती आचार्यों ने अत्यन्त विशद् विवेचन प्रस्तुत किया है। अब प्रश्न यह उठता है कि पुराण से तात्पर्य क्या है?

पुराण के वास्तविक विवेचन के लिए सर्वप्रथम पुराण शब्द की व्युत्पत्ति जाननी होगी। पुराण शब्द की व्युत्पत्ति विभिन्न सम्प्रदाय के आचार्यों ने दी है। इसके अतिरक्त पौराणिक साहित्य में भी इसकी व्युत्पत्ति दी गयी है।

पुरा अव्यय पूर्वक णीञ् प्रापणे धातु से ड प्रतयय तथा टिलोप और णत्व कार्य करने पर पुराण शब्द सिद्ध होता है। अर्थात् पुरा+नी+ड ये तीनों मिलकर पुराण शब्द के रूप में परिणत होते हैं।

पुरा भवः इस विग्रह में पुरा अव्यय से सायंचिरंप्रांहेपग्रऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट्च् "इस पाणिनी सूत्र से टयू प्रत्यय तथा टकार की इत्संज्ञा और लोप करने के बाद युवोरनाकौ से अन और 'अट्कुप्वाड्.नु म्व्यवायेऽपि' से णत्व करके पुराण शब्द बनता है।

[1] पुराणगत वेद विषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 9।

'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराण नवकेवलाः' इस पाणिनीय सूत्र में पुराण शब्द के निर्दिष्ट निपातन से तुट् का अभाव हो जाता है। यह शब्द शास्त्र का विशेषण होने के कारण नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होता है।

"पुराण प्रोक्तेषु ब्राह्मण कल्पेषु" इस सूत्र निर्देश से निपातन करके भी पुराण शब्द की सिद्धि की जाती है।

आचार्य यास्क के अनुसार पुराण शब्द का अर्थ है "पुरा नवं भवति" अर्थात् जो प्राचीन होकर भी नया होता है, वह पुराण है।[1]

वायु पुराण में पुराण शब्द की व्युत्पत्ति के प्रसंग में 'यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत्स्मृतम्। निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापै प्रमुच्यते"।। यह श्लोक मिलता है। इसके अनुसार पुरा अनति अर्थात प्राचीन काल में जो जीवित था, उसे पुराण के रूप में निरूपित किया गया है।[2]

पद्म पुराण के अनुसार "पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन तत्स्मृतम्" अर्थात् जो प्राचीनता की कामना करता है वह पुराण कहलाता है।[3]

ब्रह्माण्ड पुराण का कहना है कि "पुरा एतद् अभूत्" अर्थात् प्राचीन काल में ऐसा हुआ।[4]

---

[1] निरुक्त, 3/19/24।

[2] वायुपुराण, 1/203।

[3] पद्मपुराण, 5/2/53।

[4] ब्रह्माण्डपुराण, 1/1/173।

उपर्युक्त व्युत्पत्तियों से जो पुराण का अर्थ निष्पन्न होता है यह स्पष्ट तौर पर कहा जा सकता है कि पुरातन चिन्तन विषय सामग्री ही पुराण का प्रतिपाद्य है। यानि इतिहास का पर्याय पुराण है। इसके अतिरिक्त भी कई पुराणों में पुराण शब्द की व्युत्पत्ति दी गयी है, जो भाव की दृष्टि से इन व्युत्पत्तियों के समीप है।

इस दृष्टि से पृथ्वी जीवगोस्वामी ने जो पुराण की व्युत्पत्ति दी है, वह न केवल पुराण के उद्देश्यों की पूर्ति करती है बल्कि पौराणिक सन्दर्भों की उपादेयता को भी प्रकाशित करती है। "पूरणात पुराणम्" अर्थात जो वेदार्थ का पूरण करता है, वह पुराण कहलाता है।[1]

अर्थ गाम्भीर्य की दृष्टि से व्युत्पत्ति बहुत ही महत्वपूर्ण है। पुराण को वेद की समानता प्रदान करने की दृष्टि से की गई यह व्युत्पत्ति सबसे भिन्न एक अभिनव स्वरूप के साथ प्रतिष्ठित हुई है।

वैदिक वाङ्मय में पुराण शब्द

संहिता

ऋग्वेद में पुराण शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है। किन्तु इसका उपयोग 'प्राचीन' के पर्याय में ही मिलता है।[2] पुराण

[1] भागवत सन्दर्भ - पृ. 17।

[2] ऋग्वेद, 3/54/9, 3/58/6, 10/130, 6।

शब्द का प्रयोग गाथा के प्रसंग में हुआ है, जो प्राचीन कथा कहानी का द्योतक है।[1]

अथर्ववेद में पुराण शब्द का प्रयोग इतिहास, गाथा नाराशंसी के साथ मिलता है।[2] एक अन्य मन्त्र में तो यहाँ तक कहा गया है कि जो प्रथम कल्पवाली भूमि को नामतः जान ले उसे पुराणवित् अर्थात् पुराणों के वृतान्त को जानने वाला माना जाना चाहिए।[3] काठकसंहिता में पुराण एक ऋषि के नाम के रूप में निरूपित हुआ है।[4]

ब्राह्मण ग्रन्थों में पुराण

शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्मयज्ञ के प्रसंग में बतलाया गया है कि इतिहास पुराण गाथा नाराशंसी का स्वाध्याय करने से मधु से पूर्ण आहुतियाँ प्राप्त होती है।[5] एक अन्य प्रसंग में यह भी कहा गया है कि यज्ञानुष्ठाता उन्हें उपदेश करे कि पुराण ही वेद है।[6] इसके अलावा अनेक स्थानों पर इतिहास पुराण शब्द का प्रयोग हुआ है।

गोपथ ब्राह्मण में पुराण का उल्लेख अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है। गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि कल्प रहस्य इतिहास

[1] ऋग्वेद, 9/99/4।
[2] अर्थववेद, 11/7/4।
[3] अर्थववेद, 11/8/7।
[4] काठकसंहिता 39/7।
[5] शतपथ ब्राह्मण, 11/5/6/8।
[6] शतपथ ब्राह्मण, 13/4/3/12। उदरील76

आख्यान तथा पुराण वेद के साथ निर्मित हुए।[1] एक अन्य सन्दर्भ में पाँच वेदों की बात कही गयी है, जिसमें पुराण वेद प्रमुख है। पुराण की उत्पत्ति शिर के ऊपर की दिशा से मानी गयी है।[2]

आरण्यक तथा उपनिषद में पुराण

तैत्तिरीय आरण्यक पुराण शब्द का प्रयोग मिलता है। किन्तु यहाँ यह शब्द ग्रन्थवाची पुराण न होकर प्राचीन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[3]

वृहदारण्यक उपनिषद में यह बतलाता है कि जिस प्रकार जलती गीली लकड़ी से धूम्र निष्पादित होता है, उसी प्रकार महान् ईश्वर के निःश्वास से चारों वेद तथा इतिहास पुराण प्रादुर्भूत हुए।[4]

छान्दोग्योपनिषदकार का कहना है कि चारों वेदों के साथ इतिहास पुराण का अध्ययन किया जाता था।

आचार्यों की दृष्टि में पुराण

प्राचीन व्याख्याकारों में शबर स्वामी का नाम सर्वप्रथम आता है। इनका समय 200-400 ई० के मध्य माना जाता है। इन्होंने अपने

[1] गोपथ बाह्मण, 2/10।
[2] गोपथ बाह्मण, 1/10।
[3] तैत्तिरीय आरण्यक, 2/9।
[4] वृहदारण्यक उपनिषद, 2/4/11।

भाष्य में यज्ञ से सम्बद्ध देवता के स्वरूप निरूपण के सन्दर्भ में इतिहास पुराण का संकेत दिया है।[1]

कुमारिल और शंकराचार्य का समय सातवीं शताब्दी के आसपास माना जाता है। जैमिनी सूत्र की व्याख्या में कुमारिल ने एक स्थल पर पुराण के प्रतिपाद्य के रूप में कलियुग की विषय सामग्री को स्वीकार किया है।[2] इससे यह सिद्ध होता है कि मीमांसकों की दृष्टि में पुराण का वही स्वरूप है जिस रूप में पुराण आज उपलब्ध है।

आचार्य शंकर पुराण के प्रतिपाद्य के रूप में सृष्टि प्रक्रिया के वर्णन को पुराण न मानकर इतिहास के रूप में स्वीकार करते हैं।[3] किन्तु आचार्य सायण का मत इसके ठीक विपरीत है। वे सृष्टि प्रक्रिया के वर्णन को पुराण न मानकर इतिहास के रूप में स्वीकार करते हैं। कथाओं को पुराण मानते है।[4] इसके अतिरिक्त कौटिल्य तथा अनेक स्मृतिकारों ने पुराण के विषय प्रतिपाद्य को अपने-2 ढंग विवेचित किया है।[5]

---

[1] "का पुनरियं देवता नाम। एकं तावन्मतं या एता इतिहास पुराणेष्वग्न्याद्याः संकीर्त्यन्ते नाकसदस्ता देवता इति"। शबर जै. सू., 10/4/23।

[2] तथा स्वर्ग शब्देनापि नक्षत्रदेशो वा वैदिक-प्रवाद पौराणिक याज्ञिक..............यदि वेतिहासपुराणोपन्नं मे रूपृष्ठम् अथवाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभक्तं केवलमेव सुखम्।। जै. सू. तंत्रवार्तिक 1/3/30।

[3] वृहदारण्यक, 2/4/10।

[4] तैत्तिरीय आरयण्यक, 2/9 पर सायण भाष्य।

[5] अर्थशास्त्र, 4/13।

आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में पुराण

वैदिक विज्ञान के अन्वेषक पं. मधुसूदन ओझा ने इस सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि का जो पुरातनमय इतिवृत था, उसे ही पुराण नाम से अभिहित किया है। उन्होंने इसे और स्पष्ट करते हुए सृष्टि विद्या ही इस पुराण नाम से विख्यात है यह स्वीकार किया है। इसकी पुराण संज्ञा पुरातन होने के कारण हुई है।[1]

महामहोपाध्याय पं. ओझा जी द्वारा सृष्टि के पुरातन इतिवृत को पुराण संज्ञा प्रदान करना पुराण शब्द के अर्थानुरूप ही है। इसकी परिभाषा शंकराचार्य के अनुरूप है। इस प्रकार दोनों ने पुराण को सृष्टि प्रक्रिया से आबद्ध किया है।

इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डाँ राजबली पाण्डेय का कहना है कि पुराणों ने जब संहिता का रूप किया तो सभी बिखरे हुए शास्त्रों का अन्तर्भाव इनमें हुआ।[2] डा. पाण्डेय द्वारा प्रतिपादित विचार की व्याख्या से दो तत्व उभरते है। प्रथम तो यह है कि पुराणों में सभी शास्त्रों के मूलभूत सिद्धान्त समाविष्ट है। दूसरा यह कि पुराणों का संकलन किसी उद्देश्य विशेष को ध्यान में रखकर किया गया है। एक ओर पुराण जहाँ सभी शास्त्रों का सूक्ष्म बोध कराते हैं, वही अर्थवाद

[1] जगद्गुरुवैभवम्, 3/4/5 ।
[2] पुराणतत्व मीमांसा की भूमिका, पृ. 4 ।

का प्रतिपाद्य बनकर वैदिक वाड्.मय के अर्थ-विशदीकरण में समर्थ होते हैं ।

इसकी नित्यता पर प्रकाश डालते हुए डा. कृष्णमणि त्रिपाठी ने लिखा है कि पुराण वेद के व्याख्यान् है, जो वेद के अनुकूल है। वेद में जो समाधिगम्य कठिन विषय है, उन्हीं को कहीं-कहीं भिन्न भाषा विस्तार के साथ पुराणों में वर्णित किया गया है। इस प्रकार पुराण वैदिक वाड्.मय से प्रस्फुटित होता हुआ भी एक स्वतन्त्र विषय है ।[1]

डा. बलदेव उपाध्याय का मानना है कि पुराण भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है। वह आधार पीठ है जिस पर भारतीय समाज अपने नियमन को प्रतिष्ठित करता है ।[2]

डा. सिद्धेश्वरी नारायण राय के शब्दों में पुराण संकलित ग्रन्थ है तथा इन ग्रन्थों के संकलन कर्त्ताओं को इसकी संरचना के निमित्त एक विशद तथा पूर्व पौराणिक वैदिक शैली से भिन्न शैली को अपनाना पड़ा था ।[3] अर्थात् पुराण वैदिक आख्यानों का विशद स्वरूप है ।

---

[1] पुराणतत्व मीमांसा की भूमिका, पृ. 4 ।

[2] पुराण-विमर्श, पृ. 4 ।

[3] पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ. 8 ।

पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में पुराण

पुराण को इतिहास का अवयवी मानने वाले प्रमुख पाश्चात्य पौराणिक विद्वान् पार्जिटर का कहना है कि प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दूओं के धार्मिक दार्शनिक ऐतिहासिक व्यक्तिगत सामाजिक और विश्वकोश के रूप में पुराणों का वर्णन किया जा सकता है।[1] अर्थात पुराणों से ही भारतीय जीवन का उदात्त आदर्श भारतीय संस्कृति की गौरवमयी गाथा का तथ्यात्मक ज्ञान निःसृत होता है।

इस सन्दर्भ में विन्टरनित्स का मानना है कि अपने वंशानुचरित के कारण पुराण इतिहासकारों और पुराविदों के लिये मूल्यवान है। धार्मिक इतिहास की दृष्टि से तो ये सभी प्रकार से अनमोल थाती के रूप में समादृत हैं और केवल इस विषय के लिये ही इनका अध्ययन अब तक की अपेक्षा अधिक ध्यान पूर्वक होना चाहिए। हिन्दू धर्म के सभी अंगों और रूपों में इनके द्वारा वर्णित मान्यताओं को अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा कहीं अधिक सफलता मिलती है।[2] अर्थात् पौराणिक कथा केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि इनके प्रतीकों की छाया में अध्यात्म दर्शन, धर्मशास्त्र तथा ज्ञान-विज्ञान के विविध विषय पल्लवित होते है। पुराणों के माध्यम से ही उन दुष्कर ग्रन्थियों को सुलझाने में

---

[1] पार्जिटर इन साइक्लोपीडिया ऑफ रीलीजन एण्ड एथिक्स, वा. 10, पृ.448।

[2] विन्टरनित्स कृत ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग-1, पृ. 529।

पर्याप्त सहायता मिलती है, जो तर्क न्याय की सहायता से भी नहीं सुलझ पाती है।

इतिहास तथा पुराण पार्थक्य विवेचन

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इतिहास का पारायण प्रत्येक आठवीं परिप्लव रात्रि को किया जाना चाहिए तथा पुराण का पारायण प्रत्येक नौवीं परिप्लव रात्रि में जिन्हें प्रत्येक दस रात्रि के बाद पुनः दुहराया जाना चाहिए। यह प्रक्रिया अश्वमेध याग के अवसर पर विहित है। इससे यह प्रमाणित होता है कि इतिहास तथा पुराण दोनों पृथक्-पृथक् है।[1]

गोपथ ब्राह्मण में पाँच वेद का नाम है- सप्रवेद, पिशाच वेद, असुर वेद, इतिहास वेद तथा पुराण वेद। इनमें से इतिहास वेद उदीचि दिशा से तथा पुराण वेद ध्रुव से संबद्ध है। ध्रुव का अर्थ है उर्ध्व तथा अधः।[2]

उसी स्थल पर पाँच महा व्याहृतियों का उल्लेख है - वृषत्, करत्, वृहत्, महत् और तत् मिलता है। ये ऊपर निर्दिष्ट वेदों से उत्पन्न हुई हैं। इस प्रकार महत् की उत्पत्ति इतिहास तथा तत् की उत्पत्ति पुराण वेद से हुई है। गोपथ ब्राह्मण के इस उद्धरण का चाहे

[1] शतपथब्राह्मण, 13/4/3/13।

[2] गोपथ ब्राह्मण, 1/10।

जो भी अर्थ लगाया जाय, इससे यह स्पष्ट है कि इतिहास तथा पुराण पृथक् रूप से भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ तथा उनका सम्बद्ध दिशाओं से है तथा उनसे पाँच अलग महाव्याहृतियों की उत्पत्ति हुई है ।

इसके आधार पर डॉ. आनन्द स्वरूप गुप्त ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इतिहास पुराण दोनों दो विद्याएँ हैं । दोनो का स्वतंत्र अस्तित्व है ।[1] इस सन्दर्भ में विद्वान् विचारक का यह अभिमत है कि प्राचीन काल में पुराण शब्द का वास्तविक तथा काल्पनिक दोनों ही प्रकार के कथानकों के लिए प्रयुक्त होता है । पुराण शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अथर्ववेद में मिलता है । तत्पश्चात् ब्राह्मणों में । परवर्ती काल में वास्तविक तथा काल्पनिक कथानकों में भेद किया गया है तथा उन्हें इतिहास पुराण की संज्ञा दी गयी है । यही कारण है कि अथर्ववेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में इतिहास तथा पुराण का प्रयोग साथ-साथ मिलता है ।

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि पुराण शब्द का प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में प्रयोग इतिहास तथा पुराण दोनों अर्थों में मिलता है किन्तु वहीं इतिहास शब्द का काल्पनिक तथा वास्तविक दोनों कथाओं के रूप में प्रयुक्त नहीं मिलता । इससे निष्कर्ष निकलता है कि पुराण का प्रयोग इतिहास की अपेक्षा व्यापक अर्थों में जिसमें दोनों ही प्रकार के कथानकों का समावेश होता था ।

[1] पुराण पत्रिका, जनवरी-1963 अंक ।

इसके आधार पर पं. बलदेव उपाध्याय ने निम्नलिखित निष्कर्ष दिया है-

क. महाभूत परम ब्रह्म से वेद के समान इतिहास पुराण की उत्पत्ति हुई है ।

ख. वेद के समान पुराण भी नित्य है ।

ग. वेद पुराण को इसलिए पंचम वेद के नाम से अभिहित कराया गया ।

घ. आरण्यक युग में पुराणों के बहुत्व की कल्पना आरम्भ हो चुकी थी ।

पुराण एक न होकर अनेक रूप में विद्यमान था । ग्रन्थ रूप में न सही परन्तु आख्यान रूप में इनकी सत्ता विद्यमान थी ।[1]

भारतीय इतिहास दर्शन के परिप्रक्ष्य में पुराण की विवेचना

हमारी प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा पुराणों में सन्निहित है । पुराण का शाब्दिक अर्थ 'पुराना' होता है किन्तु पारम्परिक विचार में पुराना होते हुए भी चिर नवीन है । यथा 'पुराऽपि नवं पुराणम्' इस परिभाषा से यह अभिव्यक्त होता है कि प्राचीन काल में घटनाओं को किस प्रकार उपस्थापित किया जाता था । ये घटना क्रम संकीर्ण अर्थ में ऐतिहासिक नहीं है । वे ऐसी वस्तु है जिनको कालक्रम से अनुक्रमांकित नहीं किया

[1] पुराण विमर्श, पृ 14 ।

जा सकता है। ये घटनाएँ प्रायः बाह्य होने की अपेक्षा आन्तरिक अधिक है, ये भारत में निवास करने वाले मानव जाति का मानसिक इतिहास है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से ये घटनाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि यह एक भौगोलिक जातिगत कथाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जुंग का विचार है कि ये घटनाएँ किसी जाति की समवेत अचेतन अवस्था का द्योतक है। ये हमारे देशवासियों के जीवन दर्शन के प्रतीक है।[1] जिनमें उन लोगों के रहन-सहन विचार पूजा पद्धति परम्पराएँ उनकी ब्रह्माण्ड सम्बन्धी अवधारणाएँ तथा ईश्वर सम्बन्धी विचार और उनका मानव से सम्बन्ध सन्निहित है। इनके अलावा हमारे विचारों तथा आदर्शों की ये घटनाएँ स्थूल अभिवृत्तियाँ है, जो सामाजिक संघटनों तथा संस्थाओं तथा कला के माध्यम से हमारे जीवन में अवतरित होती है। पुराणों से जो महत्वपूर्ण सामग्री हमें प्राप्त होती है, वह यह है कि भारत वर्ष आर्यों का सदा से ही निवास स्थान रहा है और यहीं से ये आर्य विभिन्न दिशाओं तथा विभिन्न देशों में फैले है। इस प्रकार पुराण ऐतिहासिक तत्वों के अभिलेख है। साथ ही साथ ये पुराण लौकिक आख्यानों के भण्डार है जिसे देवता तथा देवियाँ ज्ञात होती हैं तथा यह ज्ञात होता है कि कौन सा कथानक किस देवी या देवता से सम्बद्ध है और हम किसको किस प्रकार से अधिगत करके उसकी पूजा करें। पुराण की कहानियाँ तथा आख्यान कवियों व दार्शनिकों के प्रोत्साहन के मूल स्रोत हैं और बच्चों

---

[1] पुराण पत्रिका, जनवरी 1963 से उद्धृत।

तथा सर्व साधारण लोगों के लिए आनन्द के साधन है। उन्हे पुराणों की कहानियों में बड़ा ही रस मिलता है। पुराणों में वर्णित प्रचुर कल्पना शक्ति ने हिन्दू भारत के जीवन में महत्वपूर्ण फल प्रदान किया है।

पुराण को हम गजेटियर भी कह सकते है जिसे पौराणिक भाषा में भुवनकोश कहते है। जैसे उसमें मध्य देश तथा उत्तरापथ का प्रसंग आता है। हमारे महाराजाओं की दिग्विजय में कवियों ने भूभौतिकी का सिद्धान्त अपनाया है और वहीं भारतीय भूमि की राजनीति का आधार भी बना हुआ दृष्टिगत होता है। पुराणों में एक आश्चर्यजनक नैरन्तर्य अधिक आदर्शात्मक है। इनमें पौराणिक ऋषियों का वर्णन है, जो वैदिक ऋषि भी है। इतिहास की इस विद्या में किसी कालक्रम का समावेश नहीं है, जो सामान्य इतिहास में प्राप्त होता है। यहाँ यह नैरन्तर्य अधिक आदर्शात्मक है। इससे यह प्रमाणित होता है कि जिन ऋषियों का नाम पुराणों में आया है, वे किसी विशेष परम्परा के नहीं है बल्कि वे सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक है।

पारम्परिक रूप में पुराणों को महान दार्शनिकों ने प्राचीन अनन्त तथा शाश्वत सत्य का भण्डार माना है। दार्शनिकों ने इसे वेदोपवृहंकशास्त्र कहा है। पुराणों के विषय में यह मान्यता है कि ये ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा गंभीरतम दार्शनिक सत्य को जनमानस तक पहुँचाया जाता है। पुराणों ने यह कार्य अत्यन्त सफलतापूर्वक किया

है। इसका प्रमाण यह है कि कम पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी पुराणों में निहित सत्य को सरलता से अधिगत कर लेता है। शब्दों द्वारा, नाटक-नाटिकाओं द्वारा, पर्व उत्सवों द्वारा, मन्दिरों में पौराणिक वीरों तथा वीरांगनाओं की गाथाओं द्वारा तथा ऐसे ही अन्य माध्यमों द्वारा पुराणों ने जनमानस में प्राचीन विचारों, आदर्शों, प्रतिमानों तथा व्यवहारों को जीवित रखा है, जो आज भी भारतीय जनमानस के पोषक तत्व है। पौराणिक गाथाओं का प्रधान कार्य जनमानस को आकर्षित कर उन्हें किसी लक्ष्य विशेष की ओर अग्रसारित करना है। इस विषय में सभी विचारक एक मत है।

हिन्दू मस्तिष्क में इतिहास दर्शन का क्या स्वरूप है जिसे पुराणों ने सफलतापूर्वक प्रतिपादित किया है। एक बात तो एकदम स्पष्ट है कि इनमें हिन्दू मस्तिष्क की संभावनाओं का वृहद वृत्त निहित है। मारिसमेटरलिंक ने यह बड़े ही स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया है कि पाश्चात्य मस्तिष्क काल गणना में युगों की कल्पना से अत्यन्त भयभीत होते है। इसका कारण यह है कि उनके कालक्रम का परिणाम बहुत सीमित है और उनके नैतिक आदर्श इसके विपरीत है जबकि हिन्दू मस्तिष्क पूर्ण धैर्य तथा शान्ति से करोड़ो वर्षो के घटना चक्र को अनुप्राणित करता आ रहा है, जो पुराणों के रूप में उपलब्ध है। भूगर्भीय युगों की कल्पना ने पाश्चात्य मस्तिष्क को अत्यन्त आतंकित किया है क्योंकि वे बाइबिल में निहित सृष्टि के काल को सत्य मानने

के अभ्यस्त है ।[1] हिन्दू मस्तिष्क बिना किसी हिचकिचाहट के चार युगों की कल्पना करता है और वह निपरेक्ष रूप से आधुनिक भूगर्भशास्त्र द्वारा ग्लेशियर आदि युगों से भी विचलित नहीं होता है । पुराणों की मन्वतर कल्पना आधुनिक मस्तिष्क को आश्चर्य चकित करने वाली है ।

ऐसे विचार जिनमें युगों तथा युगचक्रों का समावेश है तथा जो अनन्त काल के घटना चक्रों की समृद्धि से इतिहासकारों के मस्तिष्क को उद्वेलित करते हैं । इस मत के अनुसार इतिहास का वह अंश जो आधुनिक काल में आधुनिक काल गणना पर आधारित है, वह अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होता है क्योंकि भारतीय इतिहास की पृष्ठभूमि एक ऐसी विशाल प्रक्रिया की द्योतक है जिसके आदि-अन्त का कोई पता नहीं है । यह विकसित होने की निरन्तर तथा शाश्वत प्रक्रिया है । जिसमें विश्व का निर्माण होता है । मानव संस्कृतियों तथा सभ्यताओं का उत्थान पतन होता है और यह शाश्वत नाटक एक रहस्यमय अज्ञात शक्ति द्वारा परिचालित होता है जिसे सामान्य मस्तिष्क ग्रहण नहीं कर सकता । वही शाश्वत शक्ति इस नाटक का मूलाधार है, जो यह नाटक खेलता है, उसे हम विश्व कहते है और इस प्रकार हम पुराण को प्रतिपादित करते हुए पाते हैं कि विश्व ईश्वर की लीला है । लीला का अभिप्राय स्वातंत्र्य तथा सृजन शक्ति है । जो निरन्तर किसी दैवी उद्देश्य से इस नाटक के कथानकों को अभिव्यक्त करती है । पुराणों में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है कि दैवी व्यक्तित्व निरीह है । सत्य संकल्पत्व

[1] माण्टेन पाथ, पुराण पत्रिका ।

तथा सत्य कामत्व उसके लक्षण है। अतः इतिहास की प्रक्रिया एक शाश्वत नाटक ही है, यह सांसारिक नहीं है।

किन्तु मानव का वर्तमान उसका उद्देश्य है। सीमित व्यक्तित्व के दृष्टिकोण से विश्व प्रक्रिया एक ऐसा रंगमंच है जिसमें व्यक्ति अपने पूर्व कर्मों के नाटक अभिव्यक्त करता है। इस नाटक में वह सूत्रधार के ही उद्देश्य की पूर्ति करता है। जैसे कठपुतली तार खींचने वाले के उद्देश्य की पूर्ति करती है। यदि इसे और स्पष्ट कहा जाय तो सीमित व्यक्तित्व का यह नाटक अपने को असीमित करने के उद्देश्य से खेला जाता है। इस दृष्टिकोण से संसार चक्र एक ऐसी प्रक्रिया है जो व्यक्ति को स्वतः अभिव्यक्त करने का अवसर प्रदार करती है और उसके विकास की कथाओं को दूर करती है। इस विकास प्रक्रिया की पहली शर्त यह है कि बाधाओं से संघर्ष करना तथा उन्हें पराभूत कर विजयी हो तो यह चुनौती ही विकास की वास्तविक प्रक्रिया है। यही आन्तरिक तथा उसकी प्रक्रिया मानव आत्मा की ज्योति है। माया अथवा अविद्या जिसने व्यक्ति के वास्तविक स्वरूप को आवृत कर रखा है, उसे पराभूत कर उस पर विजय प्राप्त करना इस युयुत्सा की वास्तविकता है। इतिहास की यही विचारधारा पुराणों में अभिव्यक्त की गयी है।

भारतीय इतिहास दर्शन के परिप्रेक्ष्य में पुराणों के महत्व प्रतिपादित करते हुए जय चामराजवाडियार ने कहा है कि पुराणों में प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा का मूल स्वरूप विद्यमान है ।[1]

पुराणों के परिप्रेक्ष्य आख्यानों का स्वरूप

वैदिक वाङ्.मय में आख्यानों की सत्ता का प्रचुर प्रमाण प्राप्त होता है । संहिता साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि वैदिक युग में आख्यान की सत्ता विद्यमान थी ।[2]

यद्यपि समग्र संहिता साहित्य में आख्यान शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है । फिर भी प्रारम्भ से ही इस शब्द का उपयोग कथा कहानी के सन्दर्भ में ही होता चला आया है । वैदिक साहित्य में प्रयुक्त आख्यानों का मुख्य उद्देश्य यज्ञीय कर्मकाण्ड हेतु विभिन्न विधियों की स्पष्ट व्याख्या करना है । इसमें यज्ञ के दुरुह रहस्यों को सामान्य कर जन सामान्य को तथ्यों से अवगत कराना निहित है ।

वैदिक संस्कृत के अतिरिक्त लौकिक संस्कृत में भी सामान्यतः आख्यान शब्द कथा कहानी के रूप में प्रयुक्त हुआ है । देवता हो या मनुष्य वह अपनी चिन्तन तथा अनुभवजन्य प्रक्रियाओं को कथा कहानी के माध्यम से सुनने सुनाने का आदी रहा है अर्थात् किसी भी कथ्य को

---

[1] पुराण पत्रिका - जनवरी 1963 ।

[2] हिन्दी विश्वसाहित्यकोश - पृ. 291 ।

कथा कहानी के माध्यम से कहने की उसकी प्रवृत्ति सनातन है। एतरेय ब्राह्मण के अनुसार कथा सुनाने वाले कथकों को आख्यान विद् कहा जाता था।[1]

आख्यान का व्युत्पत्तिगत स्वरूप

कथा कहानी के विभिन्न रूपों को स्वयं में समन्वित कर विवक्षित अर्थ के प्रतिपादन को आख्यान कहा जाता है। अंग्रेजी में इसे लिजेण्ड के नाम से अभिहित किया गया है। अर्थात् अंग्रेजी का लिजेण्ड शब्द आख्यान का द्योतक है। आक्सफोर्ड डिक्शेनरी के अनुसार लिजेण्ड का अर्थ महापुरूषों का जीवन चरित्र अथवा इससे सम्बन्धित कथाओं का संकलन एवं ऐतिहासिक मिथक सदृश साहित्य के साथ ही मान्यता प्राप्त परम्परागत कहानियां बताया गया है।[2] अर्थात् लिजेण्ड का सीधा अर्थ तो यह हुआ कि शिक्षाप्रद कहानियाँ जो सनातन एवं नित्य है। संस्कृत में 'आ' पूर्वक व्यक्त अर्थ की वाचक 'ख्या' धातु में भाव में ल्युट् प्रत्यय लगाने पर आख्यान शब्द बनता है जिसका अर्थ किसी तथ्य के विषय में ज्ञान कराना है। यह ज्ञान किसी व्यक्ति के जीवन के क्षेत्र विशेष अथवा जीवन के समग्र पक्ष से सम्बन्धित होने के कारण

[1] ऐतरेय ब्राह्मण - 3/55/1।

[2] आक्सफोर्ड डिक्शेनरी - 692।

आख्यान के उपर्युक्त अर्थ को स्पष्ट करता है। आख्यान शब्द की व्युत्पत्ति **'आख्यायते अनेनेति आख्यानम्'**[1] वाचस्पत्यम में दी गयी है।

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पः शुद्धिभिः।

पुराण संहिता चक्रे पुराणार्थ विशारदाः।।[2]

उपर्युक्त श्लोक की टीका करते हुए भाष्यकार श्रीधर स्वामी ने एक श्लोक उद्धृत किया है, जो आख्यान उपाख्यान के अर्थ पार्थक्य का प्रतिपादन करता है।

स्वयं दृष्टार्थ कथनं प्राहुराख्यानं वुधाः।

श्रुतस्यार्थस्य कथनमुपाख्यानं प्रचक्षते।।[3]

अर्थात् स्वयं दृष्टार्थ कथन आख्यान तथा श्रुत अर्थ का कथन उपाख्यान कहलाता है।

निरुक्त टीकाकार स्कन्द स्वामी के अनुसार वेदों में ऐतिहासिक पक्ष गौणार्थ रूप में स्वीकृत हुआ है। इसके अनुसार मंत्रों में प्राप्त आख्यान एवं इतिहास आदि रूप में वर्णित स्वरूपों का तात्पयार्थ, यजमान परक कार्य व्यापार में या नित्य पदार्थों के साथ स्वरूप संगति स्थापित करना है। यथा-

[1] वाचस्पत्यम् - पृ. 613।
[2] विष्णु पुराण 3/6/16। ब्रह्माण्ड पुराण - 2/34/31। वायु पुराण 60/21।
[3] श्रीधरी टीका।

"एवमाख्यान स्वरूपाणां मंत्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्तव्या एष शास्त्रे सिद्धान्तः औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः परमार्थे नित्यपक्ष इति सिद्धम्" ।[1]

आचार्य वररुचि के अनुसार मंत्रों में आख्यान (इतिहास) का सिद्धान्त औपचारिक (गण) रूप अर्थ के साथ ही मानना चाहिए। अन्यथा किसी भौतिक स्थान या व्यक्ति के सम्बन्ध का ख्यापक होने पर कथ्य वेद के नित्यत्व का विरोधी होगा। अर्थात मंत्रों का तात्पर्य रूप अर्थ सिद्धान्तः नित्य पक्ष का ही प्रतिपादक है। यथा-

औपचारिको................................."[2]

आचार्य कुमारिल भट्ट भी इस सिद्धान्त से सहमत है।[3] निरुक्तकार यास्क के अनुसार मंत्रों के सन्दर्भ में प्राप्त ऐतिहासिक आख्यान, मंत्रद्रष्टा ऋषियों की मन्त्रार्थ को व्यावहारिक रूप से समझाने की प्रक्रिया विशेष के अंग है।[4]

महर्षि मनु ने आख्यान की सत्ता को स्वीकार किया है। उन्होनें वेद, पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र आख्यान आदि को पितृ श्राद्ध के

[1] निरूक्त टीका - स्कन्द स्वामी, भाग-2, पृ. 78।
[2] निरूक्त समुच्चय पृ. 71।
[3] निरूक्त टीका दुर्गाचार्य, पृ. 744।
[4] ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यान संयुक्ता, निरुक्त 10/10।

अवसर पर भोजनार्थ आमन्त्रित ब्राह्मणों को सुनाने को कहा गया है ।[1] अर्थात् इतिहास पुराण के साथ ही आख्यान का प्रयोग होता था ।

आख्यानादि विचार मुख्यतः वैदिक विषय है । वेद में प्राचीनतम आख्यानादि तथ्य मिलते है ।[2] मनुस्मृति के प्रसिद्ध भाष्यकार मेधातिथि ने उपर्युक्त आख्यान शब्द की व्याख्या करते हुए सुपर्ण तथा मैत्रावरूण की कथाओं को ही आख्या के रूप में स्वीकार किया है ।[3] अर्थात् वैदिक वाड्.मय में प्राप्त मैत्रावरूण तथा सुपर्ण आदि की कथाएँ आख्यान है ।

मीमांसकों की दृष्टि में आख्यान का स्वरूप

मीमांसा शास्त्र के प्रवर्तक भगवान् जैमिनि के द्वारा रचित "गुणवादस्तु"[4] सूत्र के सन्दर्भ में शबर स्वामी व्याख्या करते हुए लिखते है कि विधि वाक्य के साथ प्रयुक्त अर्थवाद वाक्य विधिवाक्य की स्तुति (प्रशंसा) के लिए प्रयुक्त होता है । विधि वाक्य के द्वारा विहित यज्ञ यागादि कर्म में मनुष्यों को प्रवृत्त करने के लिए अर्थवाक्य के द्वारा जो प्रशंसा की जाती है, वह लोगों को विधि द्वारा विहित यज्ञ यागादि कर्म

---

[1] स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ।। मनुस्मृति

[2] पुराणगत वेद विषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. 22 ।

[3] आख्यानानिसौपर्ण मैत्रावरूणादीन वाह्वृच्ये पठयन्ते । मेधातिथि व्याख्या ।

[4] मीमांसादर्शनम् - 1/2/10 ।

में विशेष रूप उद्देश्य से की जाती है। इस विशेष प्रवृत्ति रूप उद्देश्य के स्वरूप को प्ररोचना शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है।

अर्थवाद के स्वरूप के सम्बन्ध में तीन प्रकार के भेद दृष्टिगत होते है। अन्वाख्यान, स्तुति निन्दा तथा अनुवाद। इसमें अन्वाख्यान को भूतार्थवाद के रूप में भी जाना जाता है। इसके अन्तर्गत आने वाली कथा या वृतान्त, भूतकाल में किसी समय घटित घटना का सामान्य रूप से विवेचन मात्र होता है। यथा "इन्द्रो वृत्राय वज्रं उदयक्षत"। अर्थात् इन्द्र ने वृत्र को मरने के लिए आयुध को फेंका। स्तुति निन्दा परक अन्वाख्यानों का तात्पर्य विधि के द्वारा विहित कर्म की प्रशंसा में निहित होता है। उनका स्वतंत्र रूप से कोई उद्देश्य परक अर्थ नहीं होता। उदाहरण के लिए "स आत्मनो वपामुदक्खिादति" यह स्तुतिपरक अर्थवाद वाक्य "यः प्रजाकामः पशुकामोका स्यात्स एतं प्रजायत्यं तूपरमालभेत्" इस विधिवाक्य के साथ पठित हुआ है। प्रजापति ने अपनी त्वचा को उखाड़ डाला। यह अर्थ सामान्य रूप से अर्थवाद वाक्य का अभिहित होता है।

इस अभिहित अर्थ का स्वतंत्र से कोई उद्देश्य या औचित्य प्रतीत नहीं होता और व्यावहारिक दृष्टि से यह असंगत भी लगता है। ऐसी स्थिति में इस प्रशंसा परक अर्थवाद के अभिधा वृत्ति से प्राप्त मुख्य अर्थ को इससे सम्बन्धित विधि वाक्य की प्रशंसा में इसका गौण रूप से उद्देश्य निरूपित करने पर यह अर्थ प्राप्त होता है कि विधि के द्वारा

वर्णित प्रजापति के देवता के यज्ञ में पशु द्रव्य के द्वारा प्रजाएव पशु रूप फल को असन्दिग्ध रूप से प्राप्तव्य प्रतिपादित करने के सन्दर्भ में अपनी त्वचा का उच्छेद किया। अर्थात् यह यज्ञ पशु रूप फल को अविलम्ब प्रदान करता है। यही इस स्तुति परक अर्थवाद का तात्पर्य है। इसी तात्पर्य रूप अर्थ को प्ररोचना के रूप में या अन्वाख्यान के रूप में निरूपित किया गया है। इस अर्थवाद वाक्य के आधिदैविक अर्थ रूप में प्रजापति को वायु, आकाश या आदित्य के रूप में और उसकी वपा को उच्छेद को वृष्टि, वायु तथा रश्मि के रूप में अभिहित किया जाता है। वायु अपने वृष्टि रूप वपा का उच्छेद प्राणियों में सर्वविध मंगल के लिए आकाश वायु का और आदित्य रश्मि (किरणों) का विस्तार या अपने से पार्थक्य रूप स्थिति को बतलाता है। तात्पर्य यह है कि अन्वाख्यान के रूप में जो भी कथा या वृत्तान्त प्राप्त होता है वह स्वतंत्र रूप से किसी अर्थ का विधायक न होकर तात्पर्य रूप गौणार्थ के द्वारा किसी विधि वाक्य की प्रशंसा करके उसमें कल्याण चाहने वाले लोगों को प्रवृत्त करने का कार्य करता है। या फिर आधिदैविक तथा आध्यात्मिक सृष्टि के किसी विशेष पक्ष को प्रतीक बिम्ब के रूप वर्णित करता हुआ दृष्टिगत होता है।

तंत्र वार्तिक में आख्यानादि के जो लक्षण दिये गये हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि स्वतंत्र कथाएँ आख्यान पद वाच्य है और अर्थवादगत अथवा किसी तथ्य की प्रतिपादक कथाएँ उपाख्यान पद वाच्य है।

संस्कृत साहित्य के आचार्यों की दृष्टि में आख्यान

आचार्य दण्डी ने कथा और आख्यायिका के अन्तर्गत समस्त आख्यान जाति (खण्डकथा-परीकथा आदि) का समावेश माना है।[1] साहित्यदप्रणकार आचार्य विश्वनाथ ने आख्यान को पूर्ववृत कथन माना है।[2] अर्थात् अतीत का कथन ही यानि इतिहास का कथन ही आख्यान की प्रतिपाद्य सामग्री है।

संस्कृत साहित्य में आख्यान, उपाख्यान तथा आख्यायिका को सजातीय माना गया है।[3] यही नहीं अनेक पुराणों में भी आख्यान तथा उपाख्यान का विभेदात्मक प्रयोग किया गया है। ऐतिहासिक साहित्य महाभारत में अनेक आख्यानों का संकलन प्राप्त है। इसी आधार पर महाभारत को आख्यान काव्य कहा गया होगा। संभवतः रामायण को भी आख्यान संज्ञा देने का कारण यही होगा।

अर्वाचीन आचार्यों की दृष्टि में आख्यान का उद्‌देश्य एवं महत्व

अत्यन्त प्राचीन काल में चरण नामक शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत आख्यान विद्या का अध्ययन-अध्यापन होता रहा है। वैसे इस शिक्षा प्रणाली का इतिहास वैदिक काल से ही प्रारम्भ होता है।[4] इस आधार

---

[1] काव्यादर्श 1/28।

[2] "आख्यानं पूर्व वृत्तोक्तिः",पृ. 212।

[3] काव्यालंकार, 1/25-28।

[4] हिन्दी विश्व साहित्य कोश, 192।

पर यह अत्यन्त दृढ़ता के साथ ही कहा जा सकता है कि आख्यान अस्तित्व वैदिक काल से ही विद्यमान था।

एक अन्य स्थल पर प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता प्रो. वासुदेव शरण अग्रवाल ने कहा है कि पाणिनि कालिन सूत्र युग में आख्यानों का प्रचार-प्रसार भली भांति हो गया था। आख्यानों का विशाल साहित्य अस्तित्व में आ चुका था।[1] पं. बलदेव उपाध्याय ने आख्यानों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि विधि विधानों के स्वरूप की व्याख्या इन आख्यानों की जननी है। तमिस्र में प्रकाश की किरणों के समान तथा दीर्घ मरुभूमि में हरित भूमि की तरह ये आख्यान पाठकों के उद्विग्न हृदय को शीतल बनाते है। वस्तुतः इनका मुख्य कार्य यज्ञ-यागादि के विधानों की स्वरूप प्रस्तुति है। कहीं-कहीं ये आख्यान यज्ञ के संकीर्ण प्रान्त से पृथक् होकर साहित्य के सार्वभौम क्षेत्र में विचरने लगते हैं। तब कर्मकाण्ड की कक्रशता उन्हें रोक नहीं पाती।[2]

इसी प्रकार डॉ. नत्थूलाल पाठक ने आख्यानों का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहा है कि आख्यानों का मुख्य उद्देश्य याज्ञिक सिद्धान्तों का हृदयंगम कराना है। यज्ञ की विशेष विधियों उनमें प्रयुक्त विभिन्न स्तोमों, छन्दों, देवताओं और पदार्थों की अमोघता अथवा औचित्य सिद्ध करने के लिए आख्यानों का सृजन किया गया है। यज्ञ

---

[1] पाणिनीकालीन भारतवर्ष पृ. 290।

[2] वैदिक साहित्य और संस्कृति - पृ. 249।

कर्म की प्रेरणा देने का कार्य भी इन आख्यानों द्वारा सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ है ।[1]

पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में आख्यान

ऋग्वेद के सम्वाद सूक्तों की व्याख्या करते हुए पाश्चात्य वैदिक विद्वानों ने आख्यान की सत्ता को प्रतिष्ठित करने का अथक प्रयास किया है । वैसे आख्यानों के तात्पर्य को लेकर उनमें पर्याप्त मत वैभिन्य देखने को मिलता है ।[2] डॉ ओल्डेन वर्ग के अनुसार ऋग्वेद के संवाद सूक्त आख्यान है । इस सम्बन्ध में उनका स्पष्ट कथन है कि पहले ऋग्वेद भी चम्पू था । कथोपकथन पद्य में होते थे, घटनाएँ गद्य में । कण्ठ परम्परा के कारण गद्यात्मक भाग लुप्त हो गये ।[3] अर्थात् ऋग्वेद के संवाद सूक्त प्राचीन आख्यानों के अवशिष्ट रूप है ।

इस क्रम में दूसरा मत डॉ. मैक्समूलर व सिल्वा लेवी का है, जो यह मानते है कि ऋग्वेद के संवाद सूक्त एक प्रकार के नाटक रहे होंगे ।[4] इन विद्वानों के समर्थन में डॉ. हर्टल एवं श्रेडर ने यह माना है कि ऋग्वेद के संवाद सूक्त धार्मिक उत्सवों पर खेले जाने वाले नाटकों में प्रयुक्त कथोपकथन रहे होंगे ।[5] अर्थात् ऋग्वेद के संवाद सूक्त

---

[1] ऐतरेय ब्राह्मण का एक अध्ययन, पृ. 137 ।
[2] हिन्दी विश्व साहित्य कोश, पृ. 193 ।
[3] भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ. 73 ।
[4] तत्रैव, पृ. 74 ।
[5] तत्रैव, पृ. 74 ।

नाटकों के कथोपकथन रहे होंगे। इनका उपयोग मात्र कथोपकथन में ही हुआ करता था। उपर्युक्त क्रम के व्याख्याकारों में सूक्ष्म भेद निदर्शित होता है। वह यह है कि जहाँ मैक्समूलर व सिल्वालेवी इसको एक प्रकार का नाटक मानते हैं, वहीं श्रेडर व हर्टल नाटकों में प्रयुक्त होने वाले कथोपकथन स्वीकार करते हैं।

इस क्रम में तीसरा मत प्रो. विण्टरनित्स का है, जो इस कथोपकथन को प्राचीन वीरगीतिकाव्य मानते है। वे इसे नाटक तथा वीर काव्य दोनों का मूल उत्स मानते है। उनका स्पष्ट कहना है कि इस सूक्त में आख्यान तथा नाटक दोनों तत्वों का समावोश है। इन वीर गाथा काव्यों के आख्यानात्मक भाग से वीर काव्य तथा नाटकीय अंशों का विकास हुआ।[1] काव्यों की सुदीर्घ एवं रमणीय परम्परा का प्रादुर्भाव यानि साहित्य विधाओं का विकास संवाद सूक्त से माना जाता है। इस सम्बन्ध में डॉ. पारस नाथ द्विवेदी ने कहा है कि ऋग्वेद से प्राचीन कथोपकथन मिलते है। वे आख्यान साहित्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसी आख्यान साहित्य से वीरगाथात्मक काव्यों नाटकों पुराणों तथा कथा साहित्य का विकास हुआ है।[2]

इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों से लेकर आज तक वैदिक विद्वान यह मानते है कि आख्यानों के कारण ही भारतीय साहित्य सुदृढ़ एवं

---

[1] भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ. 74।

[2] वैदिक साहित्य का इतिहास, पृ. 74।

व्यवस्थित हुआ है।[1] अर्थात् वैदिक वाड्.मय से लेकर पुराण साहित्य में उपलब्ध आख्यानों से भारतीय साहित्य ओतप्रोत है।

भारत का प्राचीन इतिहास वैदिक युग से ही प्रारम्भ माना जाता है। इन आख्यानों के माध्यम से वैदिक युगीन संस्कृति का ज्ञान होता है। जैसे जिस युग में इन वैदिक आख्यानों का प्रादुर्भाव हुआ था उनके आधार पर ही उनकी व्याख्या न्याय संगत एवं समुचित होगी। अर्वाचीन तथा नवीन दृष्टिकोण से इनका मूल्यांकन करना इतिहास के प्रति घोर अन्याय होगा। अर्थात् वैदिक वाड्.मय में प्राप्त आख्यानों के अध्ययन करते समय तात्कालिक परिस्थितियों को ध्यान में रखा जाय, यही उसका समीचीन मूल्यांकन होगा।

आजकल जिस अर्थ में 'इतिहास' शब्द का प्रयोग होता है और जिस प्रकार 'इतिहास' और 'आख्यान' का भेद किया जाता है, वह प्राचीनकाल में प्रचलित नहीं था। आजकल देवताविषयक आख्यान, प्राचीन युग के वीर पुरुषों के आख्यान और धार्मिक महात्माओं के आख्यान क्रमशः अलग-अलग मिथ, हीरोइक लिजेंड और हेजियोग्राफी कहे जाते हैं। ये सभी विधाएँ आलोचनात्मक इतिहास से भिन्न हैं। ये ज्ञान की विधाएँ न होकर तत्त्वशंसी अथवा भावानुप्रेरित कल्पना की विधाएँ है। आधुनिक इतिहास-लेखन की दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रायः मानवतावादी और स्वभाववादी या भौतिकवादी है, जिसके अनुसार

---

[1] वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृ. 173।

मानव-जाति अपने ज्ञान-विज्ञान और सामाजिक संगठन के सहारे एक सरल रेखाकर प्रगति के मार्ग से अपना भविष्य-निर्माण करता है। इस दृष्टि में मानवीय इतिहास के निर्णायक तत्व सब लौकिक अथवा प्राकृतिक-सामाजिक हैं, उसमें दृष्ट कार्य-कारण-सम्बन्ध ही सब कुछ है, नियति का कोई स्थान नहीं है, न किसी प्रकार के चमत्कार अथवा अवतार का। इसके विपरीत भारतीय दृष्टि के अनुसार मानव में सत् और असत् के संघर्ष की एक चक्राकार गति दिखती है जिसमें बीच-बीच में अवतारी महापुरूष दिग्दर्शन का काम करते हैं। इन महापुरूषों का बीच में स्मरण और स्तवन-कीर्तन ही भारत की मुख्य आख्यान परम्परा है। अभिनव गुप्त का कहना है, **"एवम्प्रकाराः प्रत्यक्षपरिदृश्यमाना आगमिकार्थाः कर्मफलसम्बन्धस्वभावा यत्रासते स इतिहासः"**। इतिहास कारणनियत तटस्थ घटनावली नहीं है, वह कर्मजगत में प्रत्यक्ष और नैतिक नियमों से नियन्त्रित पुरूषार्थ-साधना की परम्परा का निरूपण है। इस दृष्टि में व्यक्ति को समाज में खोया नहीं जाता बल्कि धर्म के रूप में नैतिक और लौकिक व्यवस्था को व्यक्ति का आदर्श नियामक माना जाता है। फलतः भारतीय परम्परा में इतिहस व्यक्तिपरक और आदर्शप्रधान रहता है। सामान्य नियमों के अधीन सामुदायिक घटनावली के स्थान पर व्यक्ति-चरित्र का निरूपण होने के कारण उसमें इतिहास और आख्यायिका का भेद धुँधला हो जाता है।

इतिहास और आख्यायिका साहित्य की दो जुड़वा विधाएँ है, यद्यपि एक ज्ञानप्रधान मानी जाती है, दूसरी कल्पनाप्रधान। यह सही है

कि अपने आधुनिक स्वरूप में इतिहास परम्परा को कांट-छांटकर उसका प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत करने का प्रयास करता है, जबकि आख्यायिका में इस प्रकार का बन्धन नहीं है, किन्तु यह भी सही है कि अतीत के ऐतिहासिक निरूपण की कोई प्रत्यक्ष परख नहीं होती और जहाँ तक अनुमानिक तर्क संगति का प्रश्न है उसके सदा ही कुछ ऐसे अभ्युपगम रहते हैं, जिन पर कोई ऐकमत्य नहीं होता सिवाय इतिहासकार की अपनी युग-प्रसिद्धियों के अथवा दलगत प्रसिद्धियों के। उदाहरण के लिए मानव-जीवन में चमत्कारी घटनाएँ सम्भव है अथवा नहीं, महापुरूषों का इतिहास में क्या स्थान है, अर्थ-व्यवस्था का क्या इत्यादि ऐसे अनेक प्रश्न है, जिन पर एकमत्य इतिहासकार के लिए इतिहास-विद्या से बाहर किसी क्षेत्र में समझौते या मान्यता से ही प्राप्त हो सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि इतिहास का व्याख्यात्मक पक्ष युगसापेक्ष होता है और युग परिवर्तन होने पर उसका और आख्यायिका का अन्तर कम प्रतीत होने लगता है। दूसरी ओर अतीताख्यान तथ्यों के स्थान पर उनकी व्याख्या को ही स्वाभिमत आदर्श और विश्वासों के अनुरूप प्रस्तुत करते हैं। उन्हें एक प्रकार से मनचाहा अथवा दुराशंकित इतिहास भी कह सकते हैं। किसी संस्कृति की मूल देव-कथाओं को उस संस्कृति के द्वारा अपनी नियति की कल्पना भी कहा गया है। अस्तु आख्यायिका अपने युग के जनमानस का कल्पना-प्रवण प्रतिनिधित्व करती है और अतीत को उसी भूमिका के अनुसार प्रस्तुत करती है। इतिहास भी अपने युग का प्रतिनिधि होता है,

किन्तु वह उसके आलोचनाप्रवण अतीत के अनुसन्धानकारी शिष्ट मानस का प्रतिनिधि होता है और उसका आग्रह तथ्यातथ्य विवेचन पर होता है ।

मेरा आशय यह नहीं है कि इतिहास और आख्यायिका में कोई अन्तर नहीं है, न यह कि अतीत के ज्ञान के लिए उनका समान मूल्य है, किन्तु मैं यह अवश्य कहना चाहता हूँ, कि इतिहास के अन्दर भी एक प्रच्छन्न आख्यायिका का अंश रहता है और आख्यायिका में प्रायः किसी न किसी युग के भावात्मक इतिहास का एक पक्ष । भारतीय परम्परा के सन्दर्भ में यह विशेष रूप से स्मरणीय है कि उसमें इतिहास से अधिक आख्यायिका की ओर झुकाव रहा है और उसके इस आख्यायिका-पक्ष का समुचित विवेचन उसके इतिहास-निर्धारण के लिए आवश्यक है । भारतीय परम्परा में इतिहास की और एक दृष्टि रही है जिसने आख्यायिकाओं को भी प्रभावित किया है । पुरानी ऐतिहासिक रचनाएँ प्रायः लुप्त हो गयी हैं जबकि उनकी स्थापनापन्न आख्यायिकाएँ कुछ शेष हैं । आधुनिक इतिहास दर्शन के अनुसार मानव-जाति अपने ज्ञान-विज्ञान और संगठन के सहारे एक सरल रेखाकर प्रगति के मार्ग से अपना भविष्य बना रहा है जबकि प्राचीन भारतीय दृष्टि के अनुसार मानव इतिहास में सत् और असत् के संघर्ष की एक चक्राकार गति दिखती है जिसके प्रत्येक युग में महापुरूष दिग्दर्शन का प्रयास करते हैं । इन महापुरूषों का स्मरण और स्तवन-कीर्तन ही भारतीय परम्परागत आख्यायिकाओं का परीक्षणीय सारांश है । कृष्ण, बुद्ध, शंकर, चैतन्य,

गाँधी इस कोटि के महापुरूषों के दृष्टांत है। आधुनिक मानदण्ड के अनुसार प्रत्यक्षदर्शियों के द्वारा निबद्ध विवरण ही इतिहास का सही आधार होता है किन्तु इस प्रकार का कोई आधार प्राचीन भारतीय महापुरूषों के विषय में अब निश्चित रूप से उपलब्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए बुद्ध की जीवनी के कुछ अंश यद्यपि बुद्धकालीन संस्मरण के अंश कहे जा सकते हैं, उनके व्यवस्थित जीवन-चरित्र बहुत बाद के और आख्यायिका-प्रधान हैं।

आधुनिक दृष्टि इतिहास को लौकिक मानव की कथा मानती है किन्तु उसके निर्धारक तत्वों के विषय में एकमत नहीं है। व्यक्ति समाज के ही तात्कालिक साँचे में ढला हुआ पुतला है याकि समाज का स्वतन्त्र रूप से निर्माता है, यह प्रश्न विवादास्पद है। किन्तु प्राचीन दृष्टि के अनुसार प्राकृत जन और महापुरूष में अन्तर करना आवश्यक है। राजकाज एवं धर्म के अनेक क्षेत्रों में सामान्य जनता या पौर-जानपदों की महत्वपूर्ण भूमिका प्राचीन परम्परा में स्वीकृत थी। किन्तु तो भी **'राजा कालस्य कारणम्'** यह धारणा बहुजन-सम्मत थी। धर्म के सनातन तत्त्वों की व्याख्या लोकोत्तर ज्ञान की अपेक्षा रखती है, यह प्रायः सर्वसम्मत था। अतएव युग-निर्माण अथवा युग-परिवर्तन के सन्दर्भ में महापुरूषों की ही क्रान्तिकारी भूमिका को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता था। इस कारण सम्प्रदाय-प्रवर्तक या तीर्थंकर महापुरूषों के जीवन में अलौकिक शक्ति का चमत्कार देखना एक सहज प्रवृत्ति थी, किन्तु तो भी यह आधुनिक कल्पना सही नहीं है कि बुद्ध अथवा शंकर के

प्राचीन चरित्र देवकथा मात्र है। वस्तुतः देवकथाएँ तो तत्वनिरूपण के सांकेतिक आख्यान होते हैं, जबकि महापुरूष-चरित इतिहास के अन्तर्गत।

इतिहास और आख्यायिका में एक प्रकार की प्रतिरूपता होती है। तथ्यों का अन्वाख्यान होते हुए भी इतिहास में दृष्टिसापेक्ष तत्त्वव्याख्यान अन्तर्निहित होता है ठीक वैसे ही जैसे आख्यायिका में इतिहास-प्रतिरूपिका स्मृति को जनमानस के भाव एवं निष्ठा को व्यक्त करने का माध्यम बनाया जाता है।

पुराणगत आख्यानों की विवेचित संक्षिप्त विषय सामग्री

इसके अन्तर्गत वैदिक साहित्य में पुराण साहित्य में पुराण शीर्षक के रूप में प्राप्त विषय सामग्री का संक्षिप्त संकलन किया गया है। इस पुराण विषयक संकलन में विशेष रूप से सृष्टिगत प्रक्रिया की प्रारम्भिक अवस्था एवं सूक्ष्म तत्वों का विवेचन उपलब्ध होता है। कतिपय प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्यों की दृष्टि में इतिहास एवं पुराण के रूप में प्राप्त सामग्री अविभाभूत सम्बन्ध के रूप में निदर्शित हुई है। परन्तु वैदिक वाङ्.मय में इतिहास एवं पुराण के रूप में दो स्वतंत्र अभिधानों की श्रुतिगत परम्परा परस्पर अन्तः स्यूत इन दो विधाओं की सत्ता को निदर्शित करती है। अतः पुराण के रूप में प्राप्त सृष्टिगत रहस्यों के उद्‌भावक तथ्यों की प्रधानता के साथ प्रतिपादित विषय सामग्री का संक्षिप्त संकलन किया गया है। पुराण विषयक वैदिक तथ्यों पर

आधारित, परवर्ती साहित्य में उपलब्ध, कथागत स्वरूपों के विस्तार का वैशिष्टय भी पुराणगत शीर्षक को एक अलग पहचान देता है।

शर्यात सुकन्या पुराणगत आख्यान

पुराणों में वर्णित कथा के अनुसार च्यवन ऋषि को शर्यात कुमारों ने नहीं बल्कि सुकन्या स्वयं परेशान करती है, वह उनकी चमकती आँखों को छेदकर स्वयं अपराध करती है। इसके लिए उसके दण्ड मिलता है। किन्तु वैदिक आख्यानों में सुकन्या के उदात्त चरित्र का वर्णन है। वह अश्विनी कुमारों द्वारा दिये गये प्रलोभन को ठुकराकर अपने जर्जर पति को युवावस्था प्रदान कराने का उपाय करती है।

जिस प्रकार एक ओर जहाँ वैदिक आख्यानों के उपवृंहण के द्वारा इस आख्यान की नायिका सुकन्या का चारित्रिक पतन परिलक्षित होता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह आख्यान परवर्ती साहित्य में नितान्त विकृत स्वरूप के साथ उपस्थित हुआ है।

उर्वशी पुरूरवा विषयक पुराणगत आख्यान

इस पुराणगत आख्यान का मूल उत्स ऋग्वेद का पुरूरवा उर्वशी सम्वाद है। ऋग्वेग की पन्द्रह ऋचाओं में इस कथा का संकेत है। किन्तु पुराण में जिस विकसित व उदात्त स्वरूप में वह कथा यहाँ प्राप्त होती

है। इस आख्यान में वैदिक युग की एक महत्वपूर्ण यज्ञीय अग्नि की प्राप्ति रूप घटना को अंकित किया गया है।

इसी प्रकार वेदि एवं वामन विषयक पुराणगत आख्यान, मनु और जलप्लावन, त्रिपुर विजय, वाममोष वराह, विष्णु द्वारा त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को सहायता विषयक आदि पुरागगत आख्यान उपलब्ध होते है।

इतिहास का गोत्र-प्रवरादि विषयक स्वरूप विवेचन

श्रुति परम्परा जिसमें वैदिक ज्ञान को सुरक्षित रखने की परम्परा थी, जिसे ऋषियों ने अव्यवहित रूप में प्रवर्तित किया था। उनका विश्वास था कि लिखित शब्दों की अपेक्षा उच्चरित शब्द अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह प्राचीन परम्परा प्राचीन विचारकों तथा विद्वानों के न केवल ज्ञान के प्रति सम्मान कर्तव्य परायणता, कार्योत्साह, कुशाग्रबुद्धि, बौद्धिक, सांस्कृतिक शिष्टाचार, जीवन की प्रत्येक योजना तथा ऐतिहासिक की गंभीर अनुभूति का ही परिचायक है। अपितु यह गौरवमय अतीत को वर्तमान से जोड़ने की प्रक्रिया भी है। वैदिक मंत्रों का उच्चारणं गृह कार्यों, धार्मिक अवसरों तथा नित्य की प्रार्थनाओं में किया जाता था। जिनमें मंत्रोच्चारण करने वाला अपने गोत्र शाखा का उच्चारण करता था। उसमें एक निश्चित समय की सूचना थी। जैसे- कलियुग, संवत्सर बौद्धावतार, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, तिथि, सूर्य, चन्द्रमा तथा ग्रहों की स्थिति और भौगोलिक स्थल जैसे जम्बूद्वीप,

भारतवर्ष गोदावरी के दक्षिण उत्तर देश ग्राम आदि। ये सभी बातें इतिहास के गम्भीर ज्ञान का परिचायक है। जिनसे स्पष्ट होता है कि संस्कारों धार्मिक उपदेशों दार्शनिक साहित्यिक, वैज्ञानिक तथा कला सम्बन्धी विचारों का कहां और कैसे और किसके द्वारा प्रवर्तन हुआ है। इस प्रकार प्राचीन भारतीयों ने एक सार्वभौम परम्परा मानव मूल्य तथा जीवित इतिहास का प्रवर्तन किया जो परवर्ती महाकाव्यों तथा पुराणों के लिए आदि स्रोत का काम करता है।

गाथा विषयक स्वरूप का विवेचन

गाथा और नाराशंसी का वैदिक यागों और संस्कारों से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध था कि बड़े-2 महत्वपूर्ण यागों में इनका पारायण विहित था। इसका एक उदाहरण शतपथ ब्राह्मण में अश्वमेध भाग का वर्णन है।[1] जो चक्रवर्ती राजा के द्वारा सम्पादित किया जाता था। इसमें अनेक स्थलों पर गायकों द्वारा यज्ञ कर्ता की प्रशंसा की गाथा में गाये जाने का उल्लेख है। घोड़ा छोड़े जाने के दिन वीणा गायकों द्वारा यज्ञकर्ता के प्रशंसा परक गीत गाये जाने का उल्लेख है जिनमें प्रसिद्ध न्यायप्रिय राजाओं के नामों का उल्लेख किया जाता था और इसका समापन यागकर्ता के दीक्षाकर्म के पश्चात् समाप्त होता था। इसके पश्चात् यज्ञकर्ता के साथ ही साथ विभिन्न देवों की प्रशंसा की जाती थी। यज्ञ की पूर्णाहुति के अवसर पर यज्ञकर्ता के साथ ही प्रजापति की

[1] शतपथ ब्राह्मण 13/2/2/1।

प्रशंसा का मान होता था। अन्य उत्सवों के अवसर पर भी इस प्रकार की गाथाओं के गाये जाने का उल्लेख मिलता है। अश्व के छोड़े जाने के दिन वीणा पर गाने वाले ब्राह्मण उत्तम मन्द्रा के साथ यज्ञ कर्ता की दानादि प्रशंसा के स्वरचित गाथाएँ गाते थे। उसी दिन ब्राह्मण वीणा गायक राजा द्वारा किये गये अन्य यज्ञों तथा दोनों से सम्बन्धित स्वरचित प्रशंसा पूर्ण गाथाओं को गाते थे, जबकि क्षत्रिय वीणावादकों द्वारा गाये जाने वाले प्रशंसा गीतों में राजा के युद्ध वर्णन में विजयी होने का विषय रहता था। यह नियमित रूप से यज्ञावधि में गाया जाता था।

उपरिनिर्दिष्ट गाथाओं में राजा के साथ-साथ दूसरे राजाओं तथा देवताओं के प्रशंसापरक गीत निहित होते थे और विशेष रूप से राजा के यज्ञ युद्ध तथा विजय की उपलब्धियों का गुणगान किया जाता था। इसी प्रकार के पुष्ट उदाहरण शतपथ ब्राह्मण के अन्य स्थलों पर प्राप्त है।

शांखायानश्रौतसूत्र तथा ऐतरेय ब्राह्मण में भी पुष्ट उदाहरण मिलते है। ऐतरेय ब्राह्मण में इन्द्र के राज्याभिषेक के अवसर पर इनके गाये जाने का उल्लेख है। जनमेजय परीक्षित मरुत् अविक्षित क्रव्यपंचाल तथा भरत दौष्यान्त की प्रशंसा परक गाथाओं का उल्लेख मिलता है। ये गाथायें स्पष्ट रूप से राजा के यज्ञों तथा उसमें दिये गये दानों के उल्लेख से सम्बन्धित है। जबकि मरुत् अविक्षित की गाथा में राजा के

साथ-साथ देवगणों की प्रशंसापरक गाथाएँ है। अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर अन्यत्र भी केवल देवताओं की प्रशंसा परक गाथाओं का उल्लेख मिलता है। इनमें इन्द्र गाथा सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

जिस प्रकार अश्वमेध यज्ञ में इन गाथाओं का प्रचलन था, उसी प्राकर गृह्य सूत्रों में इन गाथाओं का विभिन्न अवसरों पर प्रचलन था। सीमन्तोन्नयन गर्भवती स्त्री का संस्कार किया जाता था। इस अवसर उसका पति वीणागायिकाओं को बुलाता था। ये वीणागाथी राजा किसी वीर पुरूष अथवा सोम राजा के विषय में प्रशंसापरक गीत गाते थे।

नाराशंसी विषयक स्वरूप विवेचन

नाराशंसी के अन्तर्गत मनुष्यों की प्रशंसा में मनुष्यों द्वारा की गयी प्रार्थनाएँ होती है। ये दृष्ट मंत्रों के अतिरिक्त माने जाते हैं। इस शब्द का सम्बन्ध पितरों की पूजा से भी है। ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल के पाँचवें सूक्त के दूसरे मंत्र में तथा प्रथम मण्डल के तेरहवें सूक्त के तीसरे मंत्र में मानव प्रार्थनाओं का नराशंस नामक अग्निदेव के रूप में मानवीकरण हुआ सा प्रतीत होता है। ये देव एक कवि के रूप में माने जाते हैं जिनका जिह्वा पर मधु है। जनमेजय, मरुत् अविक्षित कर्तव्यपांचाल तथा दुष्यन्त पुत्र भरत से सम्बन्धित गाथाएँ ब्राह्मण

ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। सूत्रों में दस नाराशंसी की गणना की गयी है।[1]

1. अजीर्गत के पुत्र शुनः शेप की गेय यूप से मुक्ति।
2. उसीज के वंशज कक्षीवन्त का अपने संरक्षक से दान ग्रहण करना।
3. श्यावाश्व का अपने संरक्षक से दान ग्रहण।
4. भारद्वाज का अपने संरक्षक से दान ग्रहण।
5. वशिष्ठ का सुदास का पुरोहित होना।
6. आसंग प्लयोगी स्त्री से पुरूष हो जाना।
7. मनु के उत्तराधिकार नाभानेदिष्ठि का अंगिरस से दान ग्रहण करना।

गाथाओं की भांति ही विभिन्न याज्ञिक अवसरों पर नाराशंसीयों के गाये जाने का विधान है। शांखयनश्रौत सूत्र के अनुसार पुरुषमेध याग के अवसर पर दस दिन के अन्तराल पर नाराशंसीयों के गाये जाने का विधान है तथा इनके वर्ण्य विषय का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि ये ब्राह्मण तथा क्षत्रिय गायक केवल गाते ही नहीं थे बल्कि ये यज्ञ कर्ता की प्रशंसा में उनकी उपलब्धियों से सम्बन्धित गीतों की रचनायें भी करते थे। स्पष्ट रूप से यह विदित होता है कि इस प्रकार के गायकों की एक श्रेणी थी, जो विभिन्न अवसरों पर गीत बनाकर गाते थे। किन्तु यह भी ज्ञात होता है कि इनकी कोई जाति या वर्ग उस समय तक नहीं बन पाया था। ये गीत व्यक्तिगत रूप से ब्राह्मणों तथा

[1] स्टडी इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ. 23।

क्षत्रियों द्वारा गाये जाते थे। साथ ही इस बात के प्रमाण कम नहीं मिलते कि संहिता तथा ब्राह्मण काल तक गाथा गायक कवियों का एक वर्ग बन चुका था। वाजसनेयि तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण जिनमें पुरुषमेध यज्ञ में प्रतीकात्मक वाले होने वालों की सूची दी हुई है, वहीं वर्शी तथा तुरही वादकों के साथ ही साथ मागध तथा सूत्रों का उल्लेख है, जो पौराणिक तथा महाकाव्य काल तक अपना एक विशिष्ट स्वरूप ग्रहण कर चुके थे। वैदिक मागधों तथा सूतों के क्रियाकलापों पर विद्वानों में मतभेद है किन्तु महाकाव्य तथा पुराणकाल के इनके उत्तराधिकारियों के कार्य-कलापों के विषय में कोई संशय नहीं है। इनका प्रमुख कार्य राजाओं की प्रशस्ति गान तथा उनके वंशानुक्रम की यशोगाथा कहना था।

गाथा तथा नाराशंसी उपादेयता

गाथा तथा नाराशंसी साहित्य का भारतीय ऐतिहासिक साहित्य के विकास में बड़ा योगदान है। देवताओं से सम्बन्धित गाथाओं के अतिरिक्त संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों से इनकी तथा तत्सम्बन्धी घटनाओं की ऐतिहासिकता सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ जनमेजय परीक्षित जो पुरूवंश का था। कोशल वंश के राजा भरत दौष्यन्ति संहिता तथा ब्राह्मण साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। जनमेजय की राजधानी आसन्दी वन क्रैव्य पंचशाल की राजधानी परिवक्रा तथा नादपित्त जिसे भरतों की जन्मभूमि माना गया है। ऐतिहासिकता के

बावजूद भी यह एक प्रश्न अनुत्तरित ही बचता है कि वैदिक काल के इन गाथा तथ्य नाराशंसियों का ऐतिहासिक महत्त्व क्या है? इस सम्बन्ध में एक बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि इन वर्णनों में राजकीय अतिशयोक्ति भरी पड़ी है और यही कारण है कि कतिपय वैदिक परम्पराओं में इनकी निन्दा भी की गयी है। कृष्ण यजुर्वेद में काठक संहिता तथा मैत्रायणी संहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में इनकी निन्दा परक वाक्य भी उपलब्ध होते हैं। इनको कहा गया है कि ये झूठ तथा ब्राह्मण के लिए मूलभूत है और इनके लिए प्राप्त दान सुरापान दान के समान माना गया है। किन्तु ये कृतियां प्रामाणिक रूप से महाकाव्य की पूर्वपीठिका के रूप में मान्य है। हम कम से कम इतना मानकर उनके साथ न्याय कर सकते है कि ये ऐतिहासिक महाकाव्यों की पृष्ठभूमि है भले ही इनमें अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन है।

मीमांसा शास्त्र के परिप्रेक्ष्य में इतिहास की प्रासंगिकता

मीमांसकों के वेदार्थ का विशदीकरण इतिहास पुराणों के अनुसार ही किया है वेद अर्थवाद वाक्यों का तात्पर्य अभिधेय अर्थ में नहीं हुआ करता। अपितु लक्षणा से तात्पर्य समझना पड़ता है। यही कारण है कि अर्थवाद वाक्य और विधि वाक्य दोनों की एक रूपता हो पाती है, अन्यथा विधि वाक्यों के विधेय अर्थ में अधिकारी व्यक्ति की प्रवृत्ति होना ही कठिन हो जायेगा। किसी भी वाक्यार्थ की विवक्षा करने या न करने का कुछ नियम हुआ करता है, तदनुसार ही उनकी विवक्षा की

जाती है। सभी स्थानों पर सबकी विवक्षा नहीं होती । इस तथ्य से लौकिक व्यवहार के अनुभवी विद्वान् भी सहमत है। अतः मीमांसकों ने इतिहास पुराण का अनुसरण न कर वेदार्थ का विशदीकरण किया है। यह कहना उचित प्रतीत नहीं होता। किसी भी वाक्य का तात्पर्य निकालने के लिए प्रकरण को ध्यान में रखकर तथा संयोग, वियोग साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, लिंग अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति स्वर आदि से ग्राह्य ,पात्र, अवस्था एवं अभिनव इन सत्रह संकेतों को ध्यान में रखकर कहाँ कौन सा अर्थ विवक्षित है, इसका निर्णय किया जाता है।[1] कहीं-2 लक्षण से भी तात्पर्यार्थ समझने की आवश्यकता होती है।[2]

'यः प्रजाकामः पशुकामः स्यात् स एवं प्राजापत्यमजं तपरमालभत्', इस विधि वाक्य के सन्दर्भ में स आत्मनो वपामुदखिदत्" यह अर्थवाद वाक्य सुनाई देता है।[3] इस अर्थवाद में प्रजापति ने अपनी वपा का उच्छेद करके उसे अग्नि में डाल दिया जिससे तूपर पशु की उत्पत्ति हुई। यह वेद प्रतिपादित अर्थ इतिहास पुराणादि के द्वारा इतिहास पुराण के प्रतिपादित अर्थ से मिलता जुलता है। अलौकिक शक्ति सम्पन्न प्रजापति के द्वारा अपनी अपनी वपा का उत्कर्तन करने पर भी प्रजापति का जीवित रहना वपा का अग्नि में प्रक्षेप कर्म के

---

[1] अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थ, धी कृद्व्यापृतिरंजकम्।। काव्य प्रकाश, द्वितीय उल्लास, 19।

[2] अभिधेयाऽ बिना भूत प्रतीती लक्षणोच्यते। श्लोकवार्तिक

[3] तैत्तिरीय संहिता 2/1/1।

फलस्वरूप तूपर पशु का उत्पन्न होना यथार्थ है। कर्म की स्तुति करने के लिए इस अर्थवाद के द्वारा यह सब बताया गया। इस प्रकार यह कर्म की प्रशंसा प्रतीत होती है। भाष्यकार ने गुणवाद बताते हुए गौणार्थ परक व्याख्यान किया है। गौण परक व्याख्या करना अनुचित नहीं है क्योंकि शब्द में अभिधा शक्ति के समान ही लक्षणा शक्ति रहती है। लक्षणा के अनेक भेदों से गौणी लक्षणा भी एक है। यदि गौणी लक्षणा का उपयोग करना अनुचित होता, तो शब्द लक्षणा का उपयोग अनुचित होता, तो शब्द में लक्षणा शक्ति क्यों रहती ? अतः आवश्यकता होने पर उन शक्तियों का उपयोग किया जाता है। वह उपयोग मन्त्रार्थवाद इतिहास पुराण आदि के अनुकूल है।

तृतीय अध्याय

शक्ति की अवधारणा इतिहास

प्रागैतिहासिक और पुराऐतिहासिक पृष्ठभूमि

शक्तिवाद की प्राचीनता

आदिम मानव के मस्तिष्क पर जीवन की आधारभूत प्रजनन-प्रक्रिया का अत्यन्त गहरा असर था। उसके अप्रौढ़ विवेक ने मैथुन और प्राणियों के जन्म तथा पृथ्वी की उर्वरता और अन्नोत्पादन के बीच कारण-कार्य सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। इससे भारतीय तथा पाश्चात्य जगत में जननेन्द्रियों की उपासना का आविर्भाव हुआ। भारत में पूर्व पाषाण काल और नव पाषाण काल में मातृशक्ति की उपासना के विषय में स्पष्ट रूप से कुछ भी कहना दुर्लभ है क्योंकि इन युगों के विषय में पर्याप्त सामग्री का अभाव है। प्रारम्भिक पूर्व पाषाणकाल में जब मनुष्य बर्बर अवस्था में था तथा क्षुधापूर्ति के लिए प्रकृति-प्रदत्त अन्न और वन्य पशुओं पर आश्रित था, तो उसके मन में संभवतः प्रजनन शक्ति विषयक विचार स्पष्ट नहीं हुए थे। लेकिन यूरोप के विभिन्न स्थलों से परवर्ती पूर्व पाषाण कालीन 'वीनस' नाम से पुकारी जाने वाली मूर्तियों से स्पष्ट है कि उसके मन में मातृशक्ति की झलक मिलने लगी थी। नव पाषाण काल में कृषि क्रान्ति के साथ न केवल सांस्कृतिक प्रगति हुई अपितु समाज में स्त्रियों का स्थान और धर्म में शक्ति सिद्धान्त का महत्व बढ़ा। कांस्यलकाल में सभ्यता के

उदय के साथ अन्य देशों के समान भारत में भी शक्तिवाद को व्यापक ख्याति मिली। भारतीय दैवीवाद एवं सामीजनों की अस्तार्त, मिस्रियों की आइसिस और फ्रीगियनों की साइबिल की कल्पना कल्पना में अच्छी समानता है।[1]

प्राचीन सुमेरियन धर्म में प्राचीन वैदिक धर्म के समान प्रकृति के विशिष्ट तत्वों पृथ्वी, जल, वायु, आदि की तरह देवपूजा प्राप्त थी। प्राचीन सुमेरियन देवीसमूह में 'पृथ्वी' को सबसे सुन्दर निन्हुर्सग (पृथ्वीमाता) बतलाया गया है जिसमें वह जीवन के रहस्यमय, परन्तु अक्षय स्रोत के रूप में दिखलायी देती है। 'पृथ्वी' की अक्षय-शक्ति का सार उर्वरता है अतः उसे 'निनतु' (जन्मदात्री) माना गया है। कुछ स्थलों पर उसे दुग्ध पान कराती माता के रूप में चित्रित किया गया है। वह देवमण्डल में 'अन' तथा 'स्मलिल' के साथ बैठती है इसलिए वह 'निन्माह' (राजरानी या भाग्यविधात्री) कही गयी है।[2]

प्राचीन हित्ती सभ्यता में भी मातृदेवियों की उपासना प्रचलित थी। तोरुस प्रदेश और उत्तरी सिरिया में हुर्री जाति का बाहुल्य था, इसलिए वहाँ पर हुर्री ऋतुदेव 'तेशुब' और उसकी पत्नी 'हेबत' या हेपत की उपासना प्रचलित थी। बोघजकोई मलत्था, जिञ्जेर्ली तथा इस्वेक्जूर इत्यादि स्थानों से प्राप्त कलाकृतियों में अनेक देवी देवताओं

---

[1] इण्डो आर्यन रेसिज, आर. पी. चन्दा, पृ. 148-49।

[2] विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ, एस. आर. गोयल, पृ. 78।

के दर्शन होते है। हित्ती देवसमूह का नायक अनेक नामों से प्रसिद्ध था। इनमें 'तेशुब' सर्वाधिक लोकप्रिय था।[1]

हित्ती राज्य के केन्द्रीय प्रदेशों में प्राचीन हित्ती देवियों की उपासना अधिक लोकप्रिय थी। इनमें अरिन्ना नगर की 'सूर्यदेवी' मुख्य थी जिसे स्थानीय ऋतुराज की पत्नी माना जाता था। उसे 'हित्ती देश की रानी' 'पृथ्वी और आकाश की रानी' इत्यादि विशेषणों से विभूषित किया गया था। वह हित्ती राष्ट्र तथा राज्य की संरक्षिका भी मानी जाती थी।[2]

मिस्र में सर्वाधिक लब्ध प्रतिष्ठित देवी 'आइसिस' थी। वह खाद्य-भण्डार को भरने वाली देवी के रूप में प्रतिष्ठित थी। उसकी रोम में 'सेरस' और ग्रीस में 'डिमीटर' के रूप में पूजा की जाती थी। मिस्र की देवीयों में 'माइडर' का भी स्थान प्रमुख था। वह सत्य, न्याय तथा बुद्धि की देवी मानी जाती थी। मिस्र की आकाश देवी का नाम 'हाथर' था।

मिस्र की स्वर्ग देवी को 'नूत' के नाम से जाना जाता था। उसका शरीर धनुष के समान, पैर तथा हाथ पृथ्वी के किनारों पर रखे हुए और शरीर आकाश में माना जाता था। उसके पति वायु देव 'शू' ने 'नूत' की अपने पैरों का सहारा दिया और पुनः उनके सहयोग से

---

[1] एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग 6, पृ. 724।

[2] विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ, एस. आर. गोयल, पृ. 204।

लाखों तारों को उत्पन्न किया। 'नूत' के देवमाता भी माना जाता था। उनको साधारणतः गाय के सींगों के साथ भी दिखलाया जाता था।[1]

यूनान में अनेक देवियों का अस्तित्व था। इनमें 'एथेना' प्रमुख थी। यह देवी चिर कुमारी, समस्त कलाओं की अधिष्ठात्री और बुद्धि की देवी थी। यूनानी लोग इसे अपना रक्षक भी मानते थे। उनका यह विश्वास था कि यूनान में जैतून का वृक्ष सर्वप्रथम वहीं लायी थी। उसी के द्वारा रक्षित होने के कारण कुम्हार और ठठेरे लोग बर्तन तथा जुलाहे कपड़ा बनाते थे। उन्होंने इसकी कल्पना सुन्दर स्त्री के रूप में की थी।[2] यूनान में 'पृथ्वी' को 'डेमीटर' देवी के नाम से याद किया जाता था। 'हेरा' तथा 'मेतिस' (प्रज्ञा देवी) नामक देवियाँ भी अपना विशिष्ट स्थान रखती थी। 'हेरा' देवी जन्म और मिलन की प्रतीक, विवाहों की अधिष्ठात्री और देवराज 'जियस' की सलाहकार थी। वह प्रजा के जन्म का भी प्रतिनिधित्व करती थी।[3]

चीन में धर्म का स्वरूप बहुदेववादी तथा सर्वचेतनवादी था। चीनियों के मत में समूचा संसार छोटी-बड़ी दैवीशक्तियों द्वारा परिपूर्ण है। ये दैवी शक्तियां सर्वशक्तिमान तो नहीं लेकिन मनुष्यों से अवश्य ही अधिक शक्तिशाली थीं। इनको आकाशीय तथा भूवासी-इस दो भागों में बाँटा जाता था। आकाशीय देवताओं में 'शागंटी' तथा

[1] दि इण्डियन मदर गोडेस, एन. एन. भट्टाचार्य, पृ. 84।
[2] मिनोअन-माइसीनियन रिलिजन, एम. पी. निलसन, पृ. 487।
[3] कल्ट्स आव दि ग्रीक स्टेट्स, I, एस. आर. फारनेल, पृ. 179 और आगे।

भूवासी देवों में अनेक देवियाँ भी थीं, जिनमें 'पृथ्वी' देवी, विभिन्न नदियों तथा 'सपक्ष नागी' सम्मिलित हैं। भूवासी देवियों में 'होऊत' नामक देवी को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था।[1]

भारतीय शक्तिवाद मूलतः वैदिक है अथवा अवैदिक और प्रागार्य इस विषय पर पर्याप्त मतभेद है। वस्तुतः भारतवर्ष में भगवती की उपासना उतनी ही प्राचीन है, जितना भारतवर्ष। आजकल अधिकांश विद्वानों का कहना है कि शक्तिवाद का मूल भारतीय संस्कृति की आर्येत्तर धारा में ढूढ़ना चाहिए। आर्येत्तर जातियों का समाज मातृसत्तात्मक था, इसलिए उनके धर्म में माता की प्रधानता थी।[2] इस मातृ प्रधान धर्म का अवलम्बन करके ही भारतीय शक्तिवाद का उदय हुआ होगा। इस मत को सैन्धव सभ्यता के प्रकाश में आने पर काफी बल मिला है।

सैन्धव सभ्यता के उदय के पूर्व भी अफगानिस्तान, बलूचिस्तान एवं सिन्ध में कांस्यकालिन मातृपूजक ग्राम संस्कृतियों का उदय हुआ था। इन संस्कृतियों के विभाजन का आधार उनके भाण्डों का आकार प्रकार, चित्रण शैली और प्रतीक है। इन संस्कृतियों के उद्घाटन करने वाले विद्वानों में, स्टान, पिगट, फेयरसर्विस एवं कैसल आदि प्रमुख है। इन्हीं विद्वानों द्वारा इन संस्कृतियों से सम्बन्धित सामग्री का अध्ययन कर

[1] विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ, एस. आर. गोयल, पृ. 593।

[2] वैदिक एज, सु. कु. चटर्जी, पृ. 189।

उनका वर्गीकरण, काल निर्धारण तथा महत्व बतलाया गया है। भारत में मातृदेवी का उपासना के प्राचीनतम पुरातात्विक प्रमाण इन्हीं संस्कृतियों से मिले है।

दक्षिणी अफगानिस्तान में स्थित मुण्डीगाक नामक स्थान पर कैसल ने उत्खनन करवाया था। यहाँ पर मातृ देवी की मूर्तियाँ मिली थी।[1] मुण्डीगाक की मूर्तियों में तथा हड़प्पा संस्कृति की मूर्तियों में पर्याप्त साम्य है।

दक्षिण मध्य अफगानिस्तान में स्थित देह मोरासी घुण्डई में दुप्री द्वारा उत्खान यिका गया था। यहाँ पर झोब संस्कृति की तरह मातृ देवी की मूर्तियाँ मिली है।[2]

हड़प्पा में कुछ ऐसी मूर्तियाँ उपलब्ध हैं जिनके पैर नहीं है। ये मूर्तियाँ खिलौना नहीं हो सकती। सर आरियल स्टाइन ने इन मूर्तियों को बौद्ध तथा यूनानी मूर्तियों के आधार पर 'पृथ्वी माता' की मूर्तियाँ बतलाया है।[3] मैके के मत में ये मूर्तियाँ दैनिक उपयोग के लिए बनाई गई थीं और इनकी उपासना गृहदेवी के रूप में आलों में रखकर की जाती थी।[4] पिगट का कहना है कि ये मूर्तियाँ मातृदेवी के , जिसे

---

[1] प्रि-हिस्ट्री एवं प्रोटो हिस्ट्री आव इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, एच. डी. सांकलियाँ, पृ. 314।

[2] (A) आर्क्योलाजिकल टूअर इन वाजीरिस्तार एण्ड बलूचिस्तान, ए स्आइन, फलक 9,12,15।
(B) प्रि हिस्टोरिक इण्डिया, पिगट, चित्र 16।

[3] मेमाअर्स आफ आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, नं. 43, पृ. 126-62, फलक 22।

[4] चन्हूदड़ो एक्सकेवेशन्स, मैके (1935-36) पृ. 151-52।

मृतकों की संरक्षिका माना जाता था, भयानक तथा रौद्र स्वरूप को प्रकट करती हैं ।[1] मार्शल के मत में भी ये मूर्तियाँ 'पृथ्वी माता' के रूप में प्रतीत होती हैं । उनका कहना है कि इन मूर्तियों की तुलना परवर्ती काल की 'पृथ्वी माता' से हो सकती है । परवर्ती काल में 'पृथ्वी माता' की मूर्तियों का अर्धभाग ही भूमि से निकलते हुए ही दिखाया गया है ।[2] बौद्ध धर्म में भी पृथ्वी माता को भूमि से उद्‌भूत होते हुए दिखाया जाता था ।[3]

वैदिक आर्यों ने पृथ्वी को एक देवी के रूप में तथा आकाश को एक देवता के रूप में मानवीकरण किया है । द्वितीय, विश्वसंसकृति के विभिन्न चरणों में पृथ्वी की कल्पना स्त्री के रूप में की जाती रही है ।[4] स्त्री के समान पृथ्वी भी उर्वर होती है ।[5] मानव पृथ्वी पर ही उत्पन्न होता है और मृत्यु के पश्चात् इसी में समाहित हो जाता है । इस क्रिया से मनुष्य का ध्यान बहुत प्राचीन काल में ही आकर्षित किया था । इसी कारण पृथ्वी की देवी के रूप में उपासना आरम्भ हुई ।[6] इसलिए संभव है कि ये मूर्तियाँ पृथ्वी माता की हों ।

---

[1] पूर्वोक्त - पृ. 127 ।
[2] मोहन जोदड़ो एण्ड इण्डस सिविलिजेशन, मार्शल, भाग 1, पृ. 49-50 ।
[3] बुद्धिस्ट आर्ट इन इण्डिया, ग्रूनवीड, पृ. 100 और आगे ।
[4] दि मदर्स, तीन भाग, राबर्ट ब्रिफाल्ट, पृ. 59, लन्दन, 1952 ।
[5] दि मदर्स, तीन भाग, राबर्ट ब्रिफाल्ट, पृ. 55, लन्दन, 1952 ।
[6] एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, vol 5, पृ. 6-7 ।

मृण्मूर्तियों के अतिरिक्त सैन्धव-स्थलों से प्राप्त कुछ मुहरों पर उत्कीर्ण दृश्यों से भी 'पृथ्वी' या 'मातृ' अथवा 'प्रकृति देवी' की उपासना पर प्रकाश पड़ता है। हड़प्पा की मुद्रा नं. 304 में दाहिनी ओर एक नग्न स्त्री शीर्षासन मुद्रा में पौधे को जन्म दे रही है तथा बायीं ओर दो बाघ दिखायें गये हैं। इस चित्रण में संभवतः मातृदेवी की प्रजनन शक्तिवाले स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। यह आकृति 'पृथ्वी देवी' की हो सकती है, जो सम्पूर्ण वनस्पति जगत् की उत्पत्ति का आधार है।[1]

सैन्धव-स्थलों से प्राप्त मातृ देवी के विभिन्न अंकनों से लगता है कि सैन्धव जन यह मानते थे कि सम्पूर्ण सृष्टि का प्रारम्भ नारी शक्ति से हुआ। वे मातृशक्ति के लोक की पोषिका, पालिका, जननी, वानस्पति जगत् की सृष्टि कारिणी तथा पशु पक्षियों के अधीश्वरी के रूप में मानते थे। वे संभवतः 'पृथ्वीमाता' की प्रतीक किसी देवी को भी पूजते थे, जिसकी उपासना प्रायः सभी कृषि-समाजों में प्रचलित थी। मार्शल का मत है कि सैन्धव-युग में नारी-तत्व प्रधान था। इसके विपरीत केदार नाथ शास्त्री का विचार है कि सैन्धव युग में नारी तत्व नहीं वरन् पुरुष तत्व प्रधान था।[2]

---

[1] एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा माधवस्वरूप वत्स, vol. II, पृ. 42।

[2] सिन्धु सभ्यता का आदि केन्द्र हड़प्पा, पृ. 73, केदार नाथ शास्त्री, दिल्ली, 1959।

इन मातृदेवी की मूर्तियों के साथ-साथ उन 'चक्रों' तथा 'लिंगों' पर भी एक सरसरी नजर से देखना आवश्यक है, जो मोहन जोदड़ो तथा हड़प्पा आदि से उपलब्ध हुए हैं। इन 'चक्रों' में कुछ का निचला हिस्सा चपटा और कुछ के ऊपर तथा नीचे की सतह नतोन्नत है। इन चक्रों के प्रयोग के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। कुछ लोगों का कहना है कि ये सतम्भ आधार थे। कुछ इसे पाषाण मुद्रा मानते थे। पर यह सभी मत समीचिन नहीं लगता हैं क्योंकि सैन्धव सभ्यता विकसित सभ्यता थी जहाँ सोना, चाँदी, ताँबा आदि मिलते हैं जो वस्तुओं के निर्माण के लिए प्रयोग करते थे, फिर पाषाण की बात कम ही जंचती है। ये 'चक्र' मौर्य तथा शुंग काल के अलंकृत 'चक्रों' का ध्यान दिलाते हैं, जिनका मातृदेवी की उपासना से सम्बध उन पर बनी प्रायः नग्न देवी की मूर्तियों से संकेतित होता है।[1] गुप्तकाल में भी निर्मित ऐसे 'चक्रों' के उदाहरण भी सर्वथा अज्ञात नहीं है। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए डॉ. मार्शल ने यह सुझाव दिया था कि सैन्धव स्थलों से प्राप्त 'चक्र' वस्तुतः योनियों के प्रतीक हैं, जिनको उर्वरता और देवी की प्रजनन शक्ति का प्रतीक माना जा सकता है।[2]

सैन्धव प्रदेश में पुरुष देवता के साथ शक्ति लिंगोपासना का भी प्रचार था। सैन्धव प्रदेश तथा पश्चिमी एशिया में देवी उपासना एक

---

[1] A. डेवलपमेण्ट आफ दि हिन्दू आइकोनोग्राफी, जे. एन. बनर्जी, पृ. 188।
B. शक्ति कल्ट इन एन्श्येंट इण्डिया, पुष्पेन्द्र कुमार, पृ. 7।

[2] देवी का वनस्पति के साथ सम्बन्ध उसके शाकम्भरी रूप तथा बंगाल की दुर्गापूजा में होने वाले नव पत्रिका अनुष्ठान में विशेषतः मुखरित हुआ है। (बनर्जी, आइको, पृ. 490)

दूसरे से बहुत मिलती जुलती है। इस घनिष्ठता को देखते हुए यह कहना कठिन है कि सैन्धव प्रदेश में लिंगोपासना की उत्पत्ति स्वतंत्र रूप से हुई। इस संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि लिंगोपासना पश्चिमी एशिया से भारत में आयी।[1] निष्कर्ष सही प्रतीत लगता है कि सैन्धव स्थलों से प्राप्त 'लिंगों' तथा 'चक्रों' विषय में कि 'चक्र' मातृदेवी की प्रतीक स्वरूप 'योनियाँ' थी और सैन्धव वासी लोग लिंगपूजा के साथ-साथ योनिपूजा भी करते थे।[2] आजकल भी भारतवर्ष में शिव की लिंग-योनि के रूप में सम्मिलित ढंग से पूजा होती थी। प्रस्तुतनिर्मित विशाल 'शिश्न' और 'चक्रिकायें' हिन्दू उर्वरता सम्प्रदाय के लिंगों तथा योनियों के सर्वथा अनुरूप है। इससे भारतवर्ष में शिव शक्तिवाद की प्राचीनता परिलक्षित होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सैन्धव प्रदेश के निवासी सृष्टिकारिणी, अथवा मानवलोक की जननी अथवा अधीश्वरी के रूप में मातृदेवी की साकार उपासना करते थे। कालान्तर में यही पार्वती, काली आदि नामों से पूजी जाने लगी। वैदिक देव समूह में 'पृथ्वी' और 'अदिति' आदि देवियों की कल्पना होने पर भी देवी तत्त्व की विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी जबकि सैन्धव धर्म में मातृशक्ति की उपासना निर्विवाद सत्य है।

---

[1] शैवमत, डॉ. यदुवंशी, पृ. 28।

[2] मोहन जोदड़ो एण्ड इण्डस सिवीलिजेशन vol I, पृ. 61, मार्शल।

प्रागैतिहासिक काल से ही भारतवर्ष नाना जातियों तथा संस्कृतियों का आश्रय रहा है तथा उनकी विविध प्रवृत्तियों तथा जीवन विधाओं के संघर्ष तथा समन्वय के द्वारा ही भारतीय संस्कृति का विकास हुआ है। सैन्धव सभ्यता के प्रकाश में आने के पूर्व पुराविद् भारतवर्ष में सभ्यता की किरणों काप्रवेश आर्यों के आगमन के साथ ही मानते है।[1] डॉ. पिगर का यह कहना है कि सैन्धव संस्कृति एवं सभ्यता के प्रकाश में आने के उपरान्त यह दृष्टि न केवल भ्रान्त ठहरती है, प्रत्युत् यह प्रतीत होता है कि भारत में आर्यों के आक्रमण को एक सभ्य प्रदेश में बर्बर जाति का प्रवेश समझना चाहिए।[2] अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि आर्य संस्कृति के निर्माण में अनार्यों का योग विशेष रूप से रहा है।[3] भारतीय सभ्यता की अनेक धार्मिक तथा सामाजिक परम्परायें तथा कथानक अनार्यों की देन है, जिन्हें आर्यों ने अपनी प्रबल भाषा के माध्यम से आत्मसात् कर लिया था। आर्य तथा आर्येतर सांस्कृतिक परम्पराओं का यह समन्वय भारतीय सभ्यता के निर्माण की आधारशिला बना।[4] लेकिन सर जान मार्शल के प्रबल तर्कों से स्पष्ट है कि सैन्धव संस्कृति आर्येत्तर तथा वैदिक संस्कृति की पूर्ववर्तिनी थी।[5]

---

[1] वैदिक धर्म एवं दर्शन, I, ए. बी. कीथ, पृ. 12-13।

[2] प्रि-हिस्टोरिक इण्डिया, पिगट, पृ. 256-58।

[3] हिस्टरी आव दि नीयर ईस्ट, एच. आर. हाल, पृ. 12-13।

[4] बौद्ध धर्म के निकास का इतिहास, जी. सी. हाल, पृ. 18 पर टिप्पणी।

[5] पूर्वोक्त, मार्शल, I, पृ. 110-111।

यह तथ्य अत्यधिक आश्चर्य जनक है कि आज से करीब पाँच हजार वर्ष पूर्व भारतीय संस्कृति में परवर्ती हिन्दू धर्म के अनेक तत्व एवं प्रतीक विद्यमान थे। सैन्धव समाज संभवतः मातृसत्तात्मक था। सैन्धव प्रदेश से प्राप्त नारी मूर्तियाँ, मातृदेवी की उपासना की प्रधानता, एवं अन्य भूमध्यसागरीय प्रदेशों की मातृसत्तात्मक व्यवस्था इस अवधारणा की पुष्टि करते हैं। सिन्धु के तट पर बसी प्राचीन केहोल जाति की मातृ सत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था को सुदूर अतीत में प्रचलित सैन्धव जनों की सामाजिक व्यवस्था का अवशेष माना जा सकता है।[1] सैन्धव सभ्यता में भी वही सांस्कृतिक वातावरण था, जिससे पश्चिमी एशियायी, मिस्री और मिनोअन सभ्यताएँ उद्भूत हुई और इन सभी सभ्यताओं में मातृदेवी और उसके प्रेमी पुत्र अथवा भाई की उपासना लोकप्रिय मिलती है। मिस्र में आइसिस और ओसिरिस तथा प्रागार्य जातियों में भाई-बहन के विवाह की प्रथा प्रचलित थी इससे उस युग के धर्म में प्रधान देवता अथवा प्रधान देवी के अगम्यागमन की कल्पना स्वीकार्य हो जाती है।

सैन्धव प्रदेश में मातृदेवी के साथ-2 'लिंगो' एवं 'योनि' प्रतीकों का विद्यमान होना भी महत्वपूर्ण है। बनर्जी ने इन पाषाण प्रतीकों से तत्कालीन शक्ति पूजा तथा लिंग पूजा का अध्ययन करके यह प्रतिपादित किया है कि यहाँ पर तांत्रिक उपासना के बीज प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। सैन्धव प्रदेश की इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को आगे कि पौराणिक,

[1] दिमदर्स, लघुसंस्कर, पृ. 68, ब्रिफाल्ट।

आगमिक तथा तांत्रिक पूजा प्रणाली की विभिन्न भूमिकाओं से सम्बद्ध मानना होगा।[1] किसी मूर्ति के समक्ष बकरे की बलि देना, पूजा हेतु दीपक जलाना, शंख फूंकना इत्यादि बातें वैदिक आर्यों की उपासना पद्धति में नहीं थी। विद्वानों का कहना है कि भारत के आदि निवासी जगत्-माता को 'योनि' के रूप में तथा परम पुरुष को लिंग के रूप में और नागों तथा यक्षों यक्षिणियों को मूर्तरूप में पूजते थे।[2]

देवी-पूजा के अनेक तत्वों को बीज रूप मे सैन्धव धर्म में देखा जा सकता है। सैन्धव प्रदेश में जो कुछ भी प्राप्त है, उससे उत्तर वैदिक धर्म, विशेष रूप से शाक्त धर्म पर तो प्रकाश पड़ता ही है, इसके साथ ही भारतवर्ष और पश्चिम एशिया की सभ्यताओं की भौतिक संस्कृति तथा धर्म के क्षेत्रों में घनिष्ट सम्बन्ध का भी पता चलता है। सैन्धव युग में देवी की उपासना रूद्र की सहचरी एवं स्वतंत्र दोनों रूपों में होती थी। मातृपूजा के इस प्रारम्भिक युग में ही देवी को 'शक्ति' का रूप दे दिया गया था और इसी के साथ एक महापुरुष की कल्पना भी कर ली गयी थी जो बाद में शिव के नाम से विख्यात हुए। शिव शक्ति का यह सम्मिलित पूजन ही शाक्तवाद का आदिस्रोत कहा जा सकता है।

---

[1] जे. एन. बनर्जी, पूर्वोक्त, पृ. 187-89।

[2] हिस्ट्री आव इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन, आर्ट, पृ. 5, कुमार स्वामी।

प्रारम्भिक वैदिक धर्म में देवियों का स्थान

वैदिक देवशास्त्र का प्राचीनतम एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत 'ऋग्वेद' है, जो न किसी एक काल की रचना है और न किसी एक व्यक्ति की । इस ग्रन्थ में विभिन्न महत्व के अनेक देवी-देवताओं का उल्लेख है ।

'ऋग्वेद' एक निश्छल एवं सरल धर्म का प्रतिपादन करता है। इसनें वर्णित अधिकतर सूक्त एक ऐसी धार्मिक चेतना अभिव्यक्ति करते हैं, जो परवर्ती आडम्बर से सर्वथा शून्य है। इनमें विश्व के रहस्य की व्याख्या लोकोत्तर अन्तर्दृष्टि अथवा असाधारण दैवी प्रेरणा के द्वारा नहीं, वरन् दैविक अनुभव के आधार पर की गयी है। आर्यों ने अपने देवी-देवताओं की कल्पना मानव रूप में की है। किसी भी वस्तु के मानवीय गुणों का आरोपण करना मनवीकरण कहलाता है। आर्यों के सरल हृदय की मूल प्रवृत्ति ने अपने देवी-देवताओं में उन सभी गुणों की कल्पना की, जो मानव में मिलते हैं। मानव तथा देवताओं अन्तर मात्र यही था कि जहाँ मानव सत्य, दुर्बल, पराधीन तथा गुण-अवगुणों से युक्त थे वही देवी-देवता अमर, परम शक्तिमान्, स्वतंत्र और केवल गुणशील थे। फलतः उपासक मानव था तथा उपास्य अतिमानव।

ऋग्वेदीय यज्ञतत्व तथा देवतत्व के प्रकाश में इस धर्म में देवियों के स्थान विषयक कुछ बातें स्पष्ट हैं। आर्यों ने देवियों की कल्पना

सामान्यतः देवपतियों के रूप में की और प्रायः उनका समग्ररूप में "देवानां पत्नीः यजति" जैसे वाक्यों में किया गया है।

वेदों में बहुवर्णित देवी उषा है। उसके लिए रचे गये सूक्तों में वैदिक ऋषियों की प्रतिभा मुखर हो उठी है। वह ऋग्वेदिक ऋषियों की सर्वाधिक मनोरन कल्पना है। 'उषा' शब्द 'वस' धातु से निष्पन्न है इसलिए इसका अर्थ 'प्रकाशमान' तथा दीप्ति सम्पन्न है।[1] ऋग्वेद में उषा के लिए 20 सूक्त मिलते है तथा 300 से अधिक बार उल्लेख है। यहाँ इसे (देवी उषा) को अविनाशिनी, व्यापक, पापों का नाश करने वाली, अदीप्तिमती, ईश्वरी शक्ति आदि कहा गया है। वह कन्या के समान प्रभात में सर्वप्रथम ज्ञान को प्रकट करती है। तत्पश्चात् तेजस्विनी ब्रह्मचारिणी के समान तेजस्वी पुरुष 'सूर्य' का आश्रय लेकर कान्तिमयी नववधू के नानारूप बदलती रहती है।[2]

उषा निरन्तर चक्र के समान नये-2 चक्कर काटती है।[3] वह हो चुकी उषाओं में अन्तिम तथा आनेवाली उषाओं में प्रथम है।[4] वह विश्व को अपनी कनखियों से प्रबुद्ध करती है। वह सभी भुवनों का जीवन तथा सभी प्राणियों का प्राण है।[5] वह प्रत्येक मनुष्य को अर्थ के

[1] वैदिक साहित्य और संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, पृ. 473।

[2] ऋग्वेद-1, 30, 20-22, 92, 1-15।

[3] ऋग्वेद - 3.61, 2।

[4] ऋग्वेद - 1, 124, 2।

[5] ऋग्वेद - 1.4.8.5, 1.48.10।

लिए उद्बुद्ध करती है।[1] उषा से बहुधा प्रार्थना की गयी है कि वह उपासक के ऊपर प्रकाशित हो, उसे धन एवं अपत्य सम्पन्न बनावें, उसे सुरक्षा तथा दीर्घजीवन प्रदान करें।[2] उषा ऋतु का पालन करती हुई उचित समय पर उपस्थित होती है, इसलिए उसे 'ऋतावरी' भी कहा गया है। वह अमरत्व का चिन्ह है। वह प्रकाशपुंज का इस प्रकार आवर्तन करती है, जिस प्रकार कोई पहिए के चक्र को चलाता है।[3]

उषा की तुलना रोम की 'औरोरा' तथा ग्रीस की 'एओर' से हो सकती है लेकिन डॉ. कीथ इससे सहमत नहीं है।[4]

ऋग्वेद की महत्वपूर्ण देवी 'अदिति' है। अदिति का उल्लेख 80 बार के करीब ऋग्वेद में मिलता है। 'अदिति' शब्द मूलतः एक संज्ञा है जिसका अर्थ 'बन्धन-रहितता' है। दा=बाँधना धातु से निष्पन्न है। अदित का माता के रूप में वर्णन किया गया है। मातृत्व-रूप का प्रतिनिधित्व करने वाली तथा आनन्द को स्फुरित करने वाली शक्ति का रहस्यमयी नाम ही अदिति है। उसे देवतामयी भी कहा गया है। वह सम्पूर्ण भूतों की जननी है। उसके प्रकाशवान पुत्र आदित्य कहलाते है।

[1] ऋग्वेद - 1, 92, 9 । 7.77, 1 ।

[2] ऋग्वेद - 1, 30, 22, । 1, 48.1 ।

[3] वैदिक साहित्य और संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, पृ. 474 ।

[4] वैदिक धर्म और दर्शन, डॉ. कीथ 1, पृ. 148 ।

वह सभी का जनक तथा रक्षक माना गया है। समस्त प्रपंच उसी से उत्पन्न होता है तथा उसी में उसका लय होता है।[1]

अदिति अपने उपासकों की आत्माओं को अपनी अनुकम्पा द्वारा पाप मुक्त कर देती है। वह अपनी सन्तान को देने योग्य सभी कुछ दे डालती है। वह सभी देवताओं अथवा दिव्य आत्माओं के विग्रह में निवास करती है। ऋग्वेद में मात्र वही एक ऐसी देवी है जिसे सभी देवताओं का माता कहा गया है।[2]

ऋग्वेद में देवीतत्व का उल्लेख करने वाला एक रात्रिसूक्त, जो दशम मण्डल में मिलता है, भी उल्लेखनीय है।[3] उषा को एक देवी के रूप में मान लेने पर रात्रि को भी एक देवी के रूप में स्वीकार करना स्वाभाविक है। रात्रि तथा उषा को धन सम्पन्न देवियाँ,[4] दिव्य युवतियाँ,[5] तथा दिवो दुहिताएँ[6] कहा गया है। वे ऋत की द्युति सम्पन्न माताएँ है।[7] वे अपनी भाषित किरणों से हर प्रकार के हविष् को उसके स्थान पर पहुँचाती है[8] और अनवरत यज्ञ-तन्तु को बुनती है।[9] वे

---

[1] ऋग्वेद - 1, 72.9 । 8, 9, 10 ।
[2] हिन्दू माइथोलाजी, वैदिक एण्ड पौराणिक, विलकिन्स, पृ. 14 ।
[3] ऋग्वेद - 10, 127, 1-8 ।
[4] ऋग्वेद - 10, 70, 6 । 2, 31, 5 ।
[5] ऋग्वेद - 7.2.6 ।
[6] ऋग्वेद - 5, 41.7 । 10, 70.6 ।
[7] ऋग्वेद - 1, 142, 7 ।
[8] ऋग्वेद - 5.41.7 ।
[9] ऋग्वेद - 2.3.6 ।

दानशील, पुरूहूत है और बर्हि पर आ विराजती है ।[1] वे महती और सुशोभित है[2] तथा बारी-2 से प्रकट होकर अशेष चराचर को उद्बुद्ध करती है ।[3] शाक्तमतावलम्बी ऋग्वेद में वर्णित रात्रिदेवी का सम्बन्ध काली के साथ स्थापित करते हैं । सायण ने उनको महाशक्ति माना है ।

वैदिक युग की एक देवी 'वाक्' है जिसका वर्णन वाक् सूक्त में मिलता है । ऋग्वेद के दशम मण्डल में इसकी चर्चा की गयी है । ऋग्वेद में वाक् देवी कहती है कि मैं ही कारण रूप से समस्त विश्व की रचना आरम्भ करती हूँ तब दूसरों के प्रेरणा के बिना स्वयं ही वायु के समान चलती हूँ, स्वेच्छा से ही कर्म में प्रवृत्त होती हूँ । मैं पृथ्वी तथा आकाश दोनों से परे हूँ । अपनी महिमा से मैं ऐसी हूँ ।[4]

इस प्रकार ऋग्वेद में 'वाक् सूक्त' में वाक् (वाणी) देवी की महिमा का वर्णन किया गया हैं वाक् सूक्त में ब्रह्म स्वरूपा सर्वव्यापिनी शक्ति को ही समस्त विश्व और क्रियाओं का मूल माना गया है । ब्रह्म और उसकी शक्ति में भेद नहीं किया जा सकता तथापि इसमें शक्तिमान् और उसके शक्ति में भेद की कल्पना करके शक्ति को प्रधान बताया गया है । यही अवधारणा भारतीय शक्तिवाद का मूलाधार

---

[1] ऋग्वेद - 7.2.6 ।

[2] ऋग्वेद - 1.13.7 ।

[3] ऋग्वेद - 2.31.5 ।

[4] ऋग्वेद - 1, 125, 8 ।

है, इसीलिए उपर्युक्त देवी सूक्त को परवर्ती शक्तिवाद में इतना महत्व मिला ।[1]

ऋग्वेद के पाँचवे मण्डल में 'श्री सूक्त' नामक प्रसिद्ध सूक्त है । इस सूक्त 15 मंत्र है, जिसमें देवी की प्रशंसा की गयी है । आनन्द कद्रम, श्रीद आदि ऋषि इसके रचयिता हैं । इस सूक्त में जातवेद अग्नि से लक्ष्मी का आह्वान करके उसकी प्रार्थना की गयी है । अग्नि देवहोतृ है, सभी उसके अधीन! तुम मेरे लिए हिरण्यवर्णा, हरित्क्रान्ति अथवा हिरण्यमयी धारिणी, सुवर्ण रजत की पुष्पाला धारिणी, चन्द्रवत् प्रकाशमाना हिरण्यमयी लक्ष्मी का आह्वान करो ।[2] हे जातवेद, मेरे लिए तुम उस अनयगामिनी लक्ष्मी का आह्वान करो, जिसके अन्दर मै हिरण्य, प्रचुर सम्पदा, दास, घोड़े और अनेक पुरुष पाऊँगा ।[3]

उपर्युक्त श्री सूक्त के विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि यहाँ पर श्री तथा लक्ष्मी में भेद नहीं किया गया है वरन दोनों नामों से देवी की वन्दना की गयी है ।[4]

ऋग्वेद में 'पृथ्वी' को भी एक देवी के रूप में चित्रित किया गया है । पृथ्वी के लिए एक छोटा सा सूक्त मिलता है ।[5]

---

[1] मार्कण्डेय पुराण - एक सांस्कृतिक अध्ययन, वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ. 171 ।

[2] श्री सूक्त 5/1 ।

[3] श्री सूक्त 5/15 ।

[4] वैष्णव धर्म का उद्भव और निकास, सुवीरा जायसवाल, पृ. 17 ।

[5] ऋग्वेद 5/84, 1 ।

इडा, सरण्यू, सूर्या, इन्द्राणी, सीता, राका, सरस्वती, श्रद्धा, गौ, आदि देवियों के लिए भी ऋग्वेद में वर्णन उपलब्ध होता है।

जब वैदिक विचारधारा प्राकृतिक और भौतिक जगत् से आध्यात्मिक एवं आत्मिक जगत् की ओर उन्मुख हुई तब अमूर्त देवी-देवताओं की कल्पना करना सरल हो गया।[1] इस प्रकार के अनेक देवी देता ऋग्वेग के अन्तिम भाग में मिलते है, जिनमें अनुमति[2], अरमति, सूनृता,[3] असुनीति[4] तथा निर्ऋति[5] आदि प्रमुख है, जो न केवल उल्लेखनीय ही है अपितु उनका मानवीकरण भी हुआ है ऐसा वर्णन प्राप्त होता है।

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट होता है वैदिक काल में भी देवी की सजीव सत्ता उपलब्ध थी।

"आयुर्वेद" शक्ति

ऋग्वेद में एक सकल सूक्त में औषधियों की स्तुति में, विशेषतया उनकी भैषजमयी शक्ति को लक्ष्य करके कहा गया है। औषधियों को माताएँ और देवियाँ बताया गया है और सोम को उनका

[1] भारतीय दर्शन, राधाकृष्णन् 1, पृ. 80।
[2] ऋग्वेद - 10.59, 6।
[3] ऋग्वेद - 10, 141, 2।
[4] ऋग्वेद - 10, 59, 5, 6।
[5] वैदिक माइथेलाजी, मैकडानल, पृ. 120।

राजा।[1] अथर्ववेद में भेषज के रूप में काम आनेवाली औषधियों को पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाली देवियाँ कहा गया है।[2] अपत्य की प्राप्ति में वनस्पतियों का विशेष हाथ रहता है और इस हेतु उन्हे पशुबलि तक प्रदान करने का विधान है।[3]

उपनिषदीय चिन्तन : शक्तिवाद के दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में

उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म विद्या है और उसके अनुसार इसमें शक्तितत्त्व के दार्शनिक पक्ष का प्रबल प्रमाण भी मिलता है। वृहदारण्यक उपनिषद में एक स्थान पर कहा गया है कि आरम्भ में आत्मा एकाकी था, अतएवं रमण नहीं कर सकता था। इसलिए उसने किसी दूसरे की इच्छा की। तब उसने अपने को द्विधारूप में विभक्त किया।[4] वही आदि मिथुन तत्व है तथा इसी आदि मिथुन तत्व की अभिव्यक्ति संसार के सभी प्रकार के मिथुनों में होती है।[5] अद्वय के अन्तर्गत छिपे द्वैत भाव की यह कल्पना परवर्ती शक्ति तन्त्रों में विकसित हुई। परवर्ती काल में शाक्त तथा वैष्णव दोनों ही प्रस्थानों ने इस श्रुतिवचन को स्वीकार किया।

[1] ऋग्वेद, 10.97, 1।
[2] 'देवी देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे'। अथर्ववेद, 6.136, 1।
[3] तै. सं. 2, 1.5.3।
[4] वृह. उप. - 1.2.14।
[5] तत्रैव - 1, 4-3.7।

श्वेताश्वतर उपनिषद में इसी विचार को सांख्यवाद के रूप में प्रतिपादित किया गया हैं उसके हिसाब से विश्व की सक्रिय सृजनशक्ति के रूप में प्रकृति वर्णन है। इसमें उसे पुरुष अथवा परब्रह्म की शक्ति है, जिसके द्वारा वह विविध रूप में विश्व की सृष्टि करता है।[1] वह अनादि है, अतः पुरुष की समावर्तिन है। वह रक्तवर्ण, श्वेतवर्ण तथा कृष्ण वर्ण की है अर्थात् त्रिगुणात्मिका है। वह जगत् की सृष्टि करने वाली है। पुरुष स्वयं स्रष्टा नहीं है। अपितु एक बार प्रकृति को क्रियाशील बनाकर अलग हो जाता है। वह केवल प्रेक्षक के रूप में स्थित रहता है।[2] यहाँ पर ब्रह्म और जीव के रूपकात्मक आवरण के साथ माया शक्ति को अजा के रूप में चित्रित किया गया है। वही त्रिगुणात्मिका शक्ति सृजन का कार्य करती है। एक अन्य श्लोक में प्रकृति को 'माया' कहा गया है और पुरुष को 'मायी'।[3] मायी इस संसार का सृजन करता है और दूसरे सम्पूर्ण जीव माया द्वारा आबद्ध रहते हैं।[4] जीव की मुक्ति तभी संभव है, जब उसे ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाय। श्वेताश्वतर उपनिषद के एक अन्य श्लोक से स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त को उपनिषद काल में भी सांख्य कहा जाता था। इसमें कहा

---

[1] श्वेता. उप. - 4.1।

[2] श्वेता. उप. - 4.5।

[3] तत्रैव - 4.10।

[4] तत्रैव - 4.9।

गया है कि पुरुष को सांख्य तथा योग के द्वारा ही जाना जा सकता है ।[1]

श्वेताश्वतर उपनिषद् में ब्रह्म में अन्तर्निहित शक्ति को ही सर्वप्रपंच का कारण माना गया है । ब्रह्म की निज शक्ति ही, जो उसमें प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है सर्वप्रपंच का कारण है ।[2] ब्रह्म ही समस्त कारणों का संचालक है, जिसमें काल और अहं भी सम्मिलित है । जिस समय सर्वत्र अज्ञान का अन्धकार था, रात-दिन (अहो-रात्रि) का भेद नहीं था, जगत् का कारण सत् (व्यक्त) और (अव्यक्त) असत् भी नहीं था और ब्रह्म केवल शान्ति अर्थात् शिव रूप से स्थिर था, इस समय जगत् का प्रसव करने वाले सविता का प्रार्थनीय अक्षर तेज उन्मुख हआ और उसमें से प्राचीन कल्प की 'पुरातन प्रज्ञा' अथवा स्फुरण प्रकट हुई ।[3] ब्रह्म एक होने पर भी शक्ति के योग से अनेक रूप होता है । उसकी विविध शक्तियों में इच्छा, ज्ञान और क्रिया प्रमुख मानी गयी है ।[4] शक्ति और शक्तिमान का अभेद नित्य है, वही स्त्री, पुरुष, कुमार व कुमारी है ।[5]

इस प्रकार उपनिषद युग में शाक्तमत की महत्ता तथा दार्शनिक आधर प्राप्त होता है । केनोपनिषद में उमा - हैमवती का साक्षात ब्रह्म

---

[1] तत्रैव - 6.13 ।
[2] श्वेता. उप. - 1.3 ।
[3] तत्रैव - 4.18 ।
[4] तत्रैव - 6.8 ।
[5] "त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं उतवा कुमारी" श्वेता. उप. 4.3 ।

विद्या के रूप में उल्लेख इसका प्रमाण है। इस उपनिषद् में कहा गया है कि देवताओं को ब्रह्मज्ञान 'उमा हैमवती' नामक एक देवता ने कराया। इस उपनिषद में यह भी प्रतिपादित है कि ब्रह्मशक्ति ही वास्तविक शक्ति है और अग्नि, वायु तथा इन्द्र आदि सभी देवताओं में क्रियमाण है। उसके बिना वे पूर्णतः प्रभावहीन है। देवताओं को यही तत्व सिखाने के लिए साक्षात् ब्रह्मविद्या बहुशोभमाना उमा हैमवती के रूप में आकाश में आविर्भूत हुई।[1] इसमें देवताओं को ब्रह्म का परिचय देने का श्रेय इस देवी को ही दिया गया है। जो कुछ देवता पहले नहीं देख सकते थे, उमा हैमवती उनको दिखाती है। यहाँ पर 'हैमवती' नाम का 'हेममण्डिता' अर्थ में प्रयोग है, लेकिन हैमवती विशेषण ने परवर्ती काल में उमा को हिमालय पर्वत की दुहिता और शिवपत्नी बन जाने में निःसन्देह सहायता की। केन उपनिषद की उमा हैमवती शिवपत्नी कैसे बनी, यह स्पष्ट नहीं है। यह संभव है कि इस उमा हैमवती को दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रकृति माना जाता रहा हो और जब रूद्र की सहचरी देवता का भी इसी प्रकृति से तादात्म्य हुआ, तो 'उमा' एक नाम हो गया।

उपर्युक्त उपनिषदों के अलावा कुछ अन्य उपनिषद भी शक्तिवाद का प्रतिपादन करते है। जैसे - मुण्कोपनिषद में कुछ देवियों के नाम मिलते हैं, जिनमें काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, स्फुलिंगिनी, धूम्रवर्णा तथा विश्वरूपा आदि उल्लेखनीय है। ये ही सातों नाम अग्नि

[1] केन. उप. - 3.12।

की सप्त जिह्वाओं के है ।[1] इसमें काली को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि काली अत्यन्त उग्र, मन के समान चंचल, लाली युक्त, धूम्रवर्णा तथा चिन्गारियों से युक्त है। यह तत्व मन, वाणी तथा इन्द्रियों से अगोचर है । यही चितिशक्ति है ।

सूत्रों एवं महाकाव्यों में शाक्तदृष्टि

शाक्तमत के उदय के इतिहास में सूत्र ग्रन्थों का अपना विशिष्ट स्थान है । क्योंकि शाक्तमत एक स्वतंत्र मत के रूप में इन ग्रन्थों के युग में उदित हुआ है । इसमें देवी के विभिन्न रूप वैदिक ग्रन्थों की तुलना में अधिक स्पष्ट हो गये हैं । सूत्र साहित्य में अनेक प्राचीन तथा नवीन देवियों एवं उनकी उपासना का उल्लेख है ।[2] शांखयन गृह्यसूत्र में श्री एवं भद्रकाली का विश्वदेव-सम्बन्धी आहुति के सन्दर्भ में उल्लेख है और कहा गया है कि विस्तर के एक छोर पर श्री को, पाद पर भद्रकाली को और शौचकूप में सर्वान्नभूति को आहुति देनी चाहिए ।[3] काठक गृह्यसूत्र में इन्द्राणी और वरुणानि का उल्लेख मिलता है ।[4] पारस्कर गृह्यसूत्र में प्रौष्ठपद की पूर्णिमा पर इन्द्राणी के एक बलि का

---

[1] "काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च धूम्रवर्णा ।
स्फुलिंगिनी विश्वरूचि च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ।।
मुण्ड. उप. - 1/2/4 ।

[2] इण्डिया आफ वैदिक कल्पसूत्राज, पृ. 465, दिल्ली-1959, डॉ. रामगोपाल ।

[3] शांखयन गृह्यसूत्र - 2.14.10 एवं आगे ।

[4] काठकगृह्यसूत्र - 20.2 ।

विधान है ।[1] गोभिल गृह्यसूत्र में सीता को दी जाने वाली बलि का कुछ विस्तार के साथ वर्णन है ।[2] बौधायन गृह्यसूत्र तथा अग्निवेश गृह्यसूत्र में श्मशान में सीताएँ खींचने का उल्लेख है ।[3]

कौशिकी सूत्र में सीता से 'श्री' प्राप्ति की कामना की गयी है ।[4] मानव गृह्यसूत्र में ह्री, श्री, लक्ष्मी, पुष्टि, काली, षष्ठी, भद्रकाली तथा महीषिका इत्यादि देवियों का वर्णन प्राप्त होता है ।[5] मनुसंहिता में दुर्गा और ज्येष्ठा को अप्रित की जाने वाली सामग्री का विवरण मिलता है ।[6] वैदिक परम्परा के सदृश गृह्यसूत्रों में श्रद्धा (भक्ति) मेधा (बुद्धि) तथा भूति (समृद्धि) को देवियों के रूप में रूपायित किया गया है ।[7]

सूत्र साहित्य में सरस्वती, गंगा, यमुना और दृषद्वती इत्यादि नदियों का वर्णन है ।[8] सरस्वती के तट पर किये गये यज्ञों को सूत्रों में अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा पवित्र कहा गया है ।[9]

---

[1] पा. गृ. सू. - 2.15 ।
[2] गो. गृ. सू. - 4.4.26-30 ।
[3] A. बैाधायन गृ. सू. 1.18 ।
B. अ. गृ. सू. 3.8 ।
[4] कौ. सू. - 13, 2-4 ।
[5] मा. गृ. सू. - 2.13 ।
[6] मनुसंहिता - 3.89 ।
[7] इण्डिया आफ वैदिक कल्पसूत्राज, पृ. 466, दिल्ली- 1959, डॉ. रामगोपाल ।
[8] इण्डिया आफ वैदिक कल्पसूत्राज, पृ. 466, दिल्ली- 1959, डॉ. रामगोपाल ।
[9] शा. श्रौ. सू. - 13.29 ।

ऋग्वेद तथा परिवर्ती संहिताओं में 'राका' पूर्णिमा का मानवीकरण है। लेकिन पारस्कर गृह्यसूत्र[1] में इस बात का उल्लेख है कि गर्भिणी स्त्री को हर्षित तथा उल्लासित रखने के लिए उसे 'राका' (पूर्णिमा की रात्रि) तथा 'सुपेशा' (सुडौलअवयवों वाली) आदि शब्दों से सम्बोधित करने का विधान है।[2]

बौद्ध साहित्य में शक्तिवाद

बौद्ध साहित्य में अनेक देवियों उल्लेख मिलता है। श्री (सिरी, सिरिमा) अर्थात् लक्ष्मी (लक्खी) की पूजा सभी वर्ग के लोग करते थे। पालि जातकों में इसे धृतराष्ट्र की पुत्री तथा ऐश्वर्य एवं भाग्य की अधिष्ठात्री देवी कहा गया है।[3] जातकों के अनुसार इसके वस्त्र, अनुलेपन तथा अलंकार स्वर्ण वर्ण के थे।[4] मिलिन्दपञ्हो में लक्ष्मी पूजक पंथ का उल्लेख प्राप्त होता है।[5]

मणिमेखला को समुद्र की देवी मानकर पूजा की जाती है।[6] ऐसा विश्वास था कि नौका भंग हो जाने पर यह देवी नाविकों तथा यात्रियों

---

[1] पा. गृ. सू. - 1, 15.6।
[2] हिन्दू संस्कार, राजबलिपाण्डेय, पृ. 79, वाराणसी 1966।
[3] जातक, भाग 3, पृ. 262, बुद्धिस्ट इण्डिया-पृ. 217-18, डेविड्स रीज।
[4] जातक, भाग 3, पृ. 261, कैम्ब्रिज, 1895-1913।
[5] मिलिन्दपञ्हो - 4.4.6।
[6] जातक, भाग 6, पृ. 35।

की सहायता करती थी।[1] इस देवी के प्रमुख उपासक समुद्रयात्री तथा नाविक थे।[2]

जातकों में यक्षिणियों का भयावह वर्णन मिलता है। ये अपने रूप जाल में पुरुषों को फँसाकर मार डालती थी तथा खा जाती थीं।[3] बौद्ध साहित्य में श्रद्धा, आशा और हिरी नामक अमूर्त देवियों की भी कल्पना की गयी है।[4]

बेस्संतर जातक (न. 547) में एक देवी का उल्लेख मिलता है जो मानव रूप धारण कर लेती थी।[5] बौद्ध-साहित्य में पृथ्वी तथा गंगा का भी देवियों के रूप में वर्णन किया गया है।[6] हेवज्रतन्त्र में प्रज्ञा को पद्म नारी और उपाय को वज्र या नर कहा गया है क्योंकि प्रज्ञा या नारी महासुखाश्रय है। वह भगवती है, क्योंकि वह सभी कष्टों का भंजन करने वाली है। उसे योनि भी कहा गया है, क्योंकि उसी से सभी प्राणियों की उत्पत्ति होती है।[7]

---

[1] जातक, भाग 4, पृ. 17।

[2] प्रि-बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ. 323, आर. एल. मेहता, बम्बई, 1939।

[3] जातक भाग 1, पृ. 395-96।

[4] जातक भाग 1, पृ. 392।

[5] दि जातकाज, पृ. 246-305, ई. बी. कावेल, आक्सफोर्ड 1890-94।

[6] प्रिबुद्धिस्ट इण्डिया, 323-24, आर. एल. मेहता।

[7] 'जननी भण्यते प्रज्ञा जनयति यस्माज्जगत्। भगनीति तथा प्रज्ञा विभागं दर्शयेद् यथा। रजकीति दुहिता च नर्तकी च प्रकथ्यते। रञ्जनात् सर्वसत्वानाम् रजकीति तथा स्मृता।। गुणस्य दुहनात् प्रज्ञा दुहिता च निगद्यते। नर्तकी भण्यते प्रज्ञा चञ्चलत्वान्महाकृपा।। अस्परज्ञा भगवती तस्मात् डोम्बी प्रकथ्यते। उद्धृत ऐन इण्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक, बुद्धिज्म, हेवज्रतन्त्र, स्नेलग्रोव, भाग 2, पृ.16-18, डॉ. शशिभूषण दास गुप्त। पृ. 113,114।

लगभग तीसरी शती ई० में प्रणीत भरत का नाट्यशास्त्र भी सरस्वती, लक्ष्मी, श्रद्धा मेधा, मती आदि देवियों तथा नाट्य एवं कुबेर की माताओं का उल्लेख करता है ।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में कुछ देवियों का उल्लेख मिलता है । इनमें इन्द्राणी, वरुणानि,[1] आग्नायी, वृषाकयायी,[2] पृथ्वी और उषा[3] उल्लेखनीय है । ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनी के प्रदेश में उनके समय तक उषा के लिए पृथक प्रथा प्रचलित थी। पृथ्वी का उल्लेख द्यौस् के साथ मिलता है । इसके अतिरिक्त अष्टाध्यायी में शिवपत्नी भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी, मृणानी नामों का विवरण मिलता है ।[4]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्तियों को मन्दिरों में प्रतिष्ठापित किया जाता था, कौटिल्य ने उनमें से कई नाम दिये हैं । उसके अनुसार नगर के मध्य में अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त और वैजयन्त के कोष्ठक तथा शिव, वैश्रवण, अश्विन, श्री और मदिरा के गृह बनवाये जाने चाहिए ।[5]

वैदिक काल के पश्चात् और आधुनिक पुराणों की रचना के बीच में सूत्रों और स्मृतियों के अतिरिक्त प्राचीनतम बौद्ध साहित्य एवं

---

[1] अष्टाध्यायी - 4/1, 49 ।
[2] अष्टाध्यायी - 4/1, 37 ।
[3] अष्टाध्यायी - 4/2, 31 ।
[4] अष्टाध्यायी - 4/1, 49 तथा पाणिनीकालिन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 347 ।
[5] "अपराजिता प्रतिहत जयन्त वैजयन्त कोष्ठ कान् शैव वैश्रवणाश्विश्री मरिदा गृहं च पुरमध्ये कारयेत्" कौटिल्य, अर्थशास्त्र 2/4 ।

रामायण तथा महाभारत महाकाव्य की रचना हुई। रामायण तथा महाभारत की रचना की निश्चित तिथियाँ विवादित हैं। फिर भी इतना तो साफ है कि रामायण महाभारत से पूर्व की है। अतः अब रामायण तथा महाभारत के आलोक में शक्ति उपासना के बीज पर एक विहंगम दृष्टिपात किया जा रहा है।

भारत में मन्दिरों तथा मूर्तियों का निर्माण भक्तिवाद के साथ-2 हुआ, अतः यह माना जा सकता है कि रामायण के समय तक मन्दिरों में पूजा करने की प्रथा प्रचलित थी। रामायण में देव मन्दिरों का स्थान-स्थान पर उल्लेख है। इन मन्दिरों को देवायतन, देवागार, देवतागार, देवस्थान, देवतायतन आदि कहा गया है।[1] राम के अभिषेक के अवसर पर राजपुरोहित वशिष्ठ ने भी देव-मन्दिरों और चैत्यों में अन्न, द्रव्य, दक्षिणा और पूजा सामग्री की व्यवस्था करने के लिए मंत्रियों को आदेश दिया था।[2] कौसल्या ने राम के वन जाते वक्त आशीर्वाद दिया था कि "चैत्यों तथा मन्दिरों में जाकर तुम जिन देवताओं को प्रणाम करते हो, वे महर्षियों के साथ वन में तुम्हारी रक्षा करें।[3] अगस्त्य के आश्रम में भी विभिन्न देवताओं के लिए पृथक-2 स्थान बने थे।[4] उत्तरकाण्ड में रावण द्वारा शिवलिंग की पूजा का वर्णन

[1] रामायणकालिन संस्कृति, एस. एन. व्यास, पृ. 254।
[2] रामायण - 2/3-18-19।
[3] रामायण - 2/25/4।
[4] रामायण - 3/12/17-20।

है ।[1] जिससे यह बात प्रमाणित होती है कि उस समय लिंग-पूजा का प्रचलन था । लक्ष्मी की कमलासीना देवी के रूप में कल्पना की जाती थी तथा विष्णु शंख, चक्र, गदा, पद्म और शारंग धनुषधारी के रूप में कल्पित हो गये थे ।[2]

रामायण-काल में देवी-उपासना का रूप बदलने लगा था । देवी के स्वतंत्र उपासना का उल्लेख नहीं मिलता किन्तु रूद्र-शिव के पत्नी के रूप में निरन्तर वर्णन मिलता है । उनके नाम- उमा, गिरजा, भवानी, पार्वती आदि है ।[3]

शिव की पत्नी 'उमा' के अलावा रामयण में अन्य देवियों का वर्णन उपलब्ध होता है । 'सुरसा' नामक देवी जिसका स्थान 'मेनाक पर्वत' तथा समुद्र के मध्य बतलाया गया है जिसे नागमाता और कामरूपिणी कहा गया है ।[4]

रामायण में इस बात का भी प्रमाण है कि लंका की रक्षा करने वाली एक लंका देवी थी ।[5]

---

[1] रामायण उत्तरकाण्ड - 31/42 ।
[2] रामायण उत्तरकाण्ड - 6/65 ।
[3] रामायण बालकाण्ड - 35/16/31, । 36/14-20 ।
उत्तरकाण्ड - 4/28-30 । 13/12 । 87/12-16 ।
[4] रामायण - 5/11/145-168 । 5/58/21-31 ।
[5] रामायण - 5/3/21-30 । 5/58/48-49 ।

रामायण में एक जगह स्वयं सीता का चित्रण कालरात्रि के रूप में किया गया है। उनकी यह उपाधि उनके विनाशकारी तथा भयंकर रूप को प्रकट करती है।[1]

रामायण में गौ को भी वैदिक काल के समान ही देवपद प्राप्त था। गौ की हत्या राजा तथा ब्राह्मण के समान ही निन्दनीय थी।[2] राज्यभिषेक में गौओं को भी सम्मिलित किया जाता था।[3] इस प्रकार रामायण में 'गौ' को अत्यन्त सम्मानजनक तथा आदरपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह प्रमाणित है कि रामायण काल में देवी उपासना का प्रचलन था।

रामायण के समान महाभारत में भी शक्ति पूजा का घनिष्ठ सम्बन्ध शिवोपासना के साथ दिखायी देता है। शिव अवधारणा के साथ महाभारत में देवी की अवधारणा जुड़ी हुई थी। दोनों की उपासना साथ-2 होती थी। दयानिधान, कल्याणकर शिव की पत्नी भी वैसी ही दयामती और सौम्या मानी जाती थी। ऐसा माना जाता था कि दोनों कैलाश पर्वत पर अनन्त और परम आनन्द की अवस्था में रहते हैं। वे मनुष्यों के लिए विवाहित प्रेम के आदर्श माने जाते थे।[4]

---

[1] रामायण - 5/51/34-35।
[2] रामायण - 4/17/26।
[3] रामायण - 2/14/40-41।
[4] महाभारत, द्रोणपर्व - 74/35।

महाभारत काल तक देवी-उपासना शैव धर्म का एक अंग बन गयी थी। एक स्थान पर शिव की सहचरी[1] के रूप में, स्पष्ट रूप से शिव की शक्ति कहा गया है।

विभिन्न स्थानों पर पार्वती के उल्लेख के अतिरिक्त दो[2] स्थलों पर दुर्गा की स्तुति में पूरे दो स्तोत्र दिये गये हैं, जिनमें उनके व्यक्तित्व का भक्तों की रक्षिका तथा शत्रुओं की संहारिका वाला पक्ष अधिक मुखर हुआ है। महाभारत के भीष्मपर्व के प्रारम्भ में दुर्गा-पूजा का उल्लेख है। इसके अनुसार कृष्ण की मंत्रणा पर अर्जुन ने भावी युद्ध में विजय प्राप्ति के निमित्त दुर्गा की आराधना की थी। यहाँ पर दुर्गा को सिद्धों की सेनानेत्री, कालशक्ति, कपालधरिणी, कुमारी, काली, कपाली, कृष्णपिंगला आदि कहा गया है।[3] उन्हें श्रुति, अत्यन्त पवित्र स्वरूप वाली, वेद तथा ब्राह्मणों का चाहने वाली, जातवेदा अग्नि की शक्ति, जम्बू, कटक और चैत्य वृक्षों में निवास करने वाली कहा गया है।[4] इस स्तोत्र में देवी के विभिन्न नामों की चर्चा की गयी है।[5] इस प्रकार अर्जुन के द्वारा स्तुति करनेके पश्चात् दुर्गा ने अर्जुन को युद्ध में विजयी होने का वर दिया।[6]

---

[1] महाभारत के अनुशासनपर्व - 22/146।
[2] महाभारत, अनुशासनपर्व 4/6। 6/23।
[3] "कुमारी कालि कपालि कपिले कृष्णपिंगले" महाभारत भीष्मपर्व 23/4-6।
[4] वेदश्रुति महापुण्ये ब्रह्मण्ते जातवेदासि। जम्बूकटक चैत्येषु नित्यं सन्निहितालये।।
म. भी. 23/10।
[5] महाभारत भीष्मपर्व 23/8-9।
[6] महाभारत भीष्मपर्व 23/17-20।

महाभारत के विराट पर्व में युधिष्ठिर द्वारा दुर्गा की स्तुति तथा देवी द्वारा प्रकट होकर उन्हें वर देने का उल्लेख मिलता है। इसमें कहा गया है कि विराट नगर में प्रवेश करते समय युधिष्ठिर ने त्रिभुवन अधीश्वरी दुर्गा की स्तुति की थी।[1] स्तुति में भगवती के विभिन्न नामों, सर्वशक्तिमयी, सर्वाभरणभूषिता, सर्वशस्त्रधारिणी, इत्यादि विशेषणों से विभूषित किया गया है।[2]

महाभारत के शल्यपर्व में मातृकाओं वर्णन मिलता है। इनको शत्रुओं का संहार करने वाली और कुमार कार्तिकेय की अनुचरी बताया गया है। कहा गया है कि इन्होनें तीनों लोकों को व्याप्त कर रखा है।[3] इस स्थल मातृकाओं के विभिन्न नामों का उल्लेख है।[4]

वनपर्व में स्कन्द के पार्षदों का वर्णन करते समय काकी, हलिमा, मालिनी, वृहन्ता, पलाला, वैमित्रा आदि मातृकाओं का उल्लेख है।[5]

महाभारत के वनपर्व में देवी तीर्थों का वर्णन उपलब्ध होता है। कुरुक्षेत्र की सीमा में देवी के तीन स्थान है। तीनों तीर्थस्थलों में जाकर स्नान करने से विभिन्न प्रकार का पुण्यलाभ होता है।[6]

---

[1] महाभारत विराटपर्व 6/1।
[2] महाभारत विराटपर्व 6/2-35।
[3] महाभारत शल्यपर्व 46/1-2।
[4] महाभारत शल्यपर्व 46/3-29।
[5] महाभारत वनपर्व 228/10।
[6] महाभारत वनपर्व 83/51, 94-95, 102।

शाकम्भरी देवी का जहाँ निवास है, उस तीर्थ में तीन दिन शाकाहार करने से बारह वर्षों तक शाकाहार करने का पुण्यलाभ होता है।[1] इसके अतिरिक्त कामाख्या[2] श्रीपर्वत[3], भीमादेवी का स्थान[4], कालिका संगम[5], गौरी शिखर[6], धूमावती देवी का स्थान[7] और मातृतीर्थ[8] उल्लेखनीय है।

हरिवंश पुराण महाभारत का खिल पर्व है। महाभारत के प्रारम्भ में पर्व-संग्रह पर्व के अन्तर्गत हरिवंश को महाभारत के अन्तर्गत माना गया है।[9] हरिवंश पुराण में पाँच स्थलों पर देवी-वर्णन उपलब्ध होता है। इसके विष्णु पर्व के द्वितीय अध्याय में कालरूपिणी निद्रा, तृतीय एवं चतुर्थ अध्यायों में आर्या, 107 वें अध्याय में प्रद्युम्न द्वारा पार्वती की स्तुति एवं 120 वें अध्याय में अनिरुद्ध के द्वारा आर्या देवी की स्तुति मिलती है।

भारतीय शाक्त तंत्राचार के विकास पर दृष्टिपात करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इसके निर्माण में कई महत्वपूर्ण स्रोतों की देन है,

---

[1] महाभारत वनपर्व 83/13-18।
[2] महाभारत वनपर्व 3/82-105।
[3] महाभारत वनपर्व 3/85/119।
[4] महाभारत वनपर्व 3/82।
[5] महाभारत वनपर्व 3/84/85।
[6] महाभारत वनपर्व 3/84/51।
[7] महाभारत वनपर्व 3/84//1-22।
[8] महाभारत वनपर्व 3/83/58।

[9] महाभारत वनपर्व 1/2/82।

जैसे - वेद, उपनिषद और योगादि दर्शनों से वाक् की ओर समाधि की अवधारणा और वैष्णवों से शरणागति एवं भक्ति, पाशुपतों से पशुपाश की कल्पना तथाशिवतत्त्व, महायानी बौद्धों से महाकरुणा तथा आदिम विश्वासों और आदिवासियों के मूल अनुष्ठानों से स्त्री, मद्यादि श्मशान आदि की क्रियाओं की अनिवार्यता। महाशक्ति नित्यता को आदर्श मानकर तर्कपूर्ण तरीके से इस रहस्यमय विचारधारा ने सभी प्रकार के तत्व मिलाकर ऐसे दर्शन की सृष्टि की जिसका क्रियानुष्ठानों एवं गुरुतत्व में अविभाजनीय सम्बन्ध था। शाक्ताचार्यों के मत में सूक्ष्म की ओर जाने के लिए स्थूल की कल्पना नितांत जरुरी है। यही कारण है कि मणिद्वीप आदि के रूप में प्रत्येक महाविद्या देवी के अपने लोक की सृष्टि की गयी। इतना ही नहीं साधना की आरम्भिक अवस्थाओं में इन सभी स्थूल अवधारणाओं का ध्यान भी आवश्यक है ऐसा उल्लिखित है।

पुराणों में भी शक्ति की प्रबल विशिष्टताएँ परिलक्षित है। सौर पुराण में देवी-तत्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह शिव की ज्ञानमयीशक्ति है, जिसके द्वारा शिव सृष्टि का सर्जन ओर संहार करते हैं।[1] शक्ति को त्रिगुणात्मिका तथा शिव के कार्य पूरे करने के लिए विभिन्न अवसरों पर विभिन्न रूप धारण करती है।[2] एक अन्य स्थल पर उसको 'परा' या 'परम शक्ति' माना गया है, जो सर्वत्र व्याप्त है और

[1] सौरपुराण - 2/16।
[2] सौरपुराण - 2/18।

'मायिन्' महेश्वर की माया है।[1] शिव की शक्ति या माया के रूप में वह शिव से अभिन्न है।[2] अज्ञानी लोग ही भेद करते है, उसका वैसे ही सम्बन्ध है जैसे अग्नि का ज्वलन शक्ति से।[3]

ब्रह्मवैवर्त पुराण में प्रतिपादित है कि दुर्गा की उपासना अनेक ग्रामों में होती थी जिसके कारण उन्हें ग्राम देवता कहा गया है।[4] वराह पुराण में बताया गया है कि मातृकाएँ महादेवी के अट्टहास से उत्पन्न हुई है।[5] मत्स्य पुराण में वर्णित 'अन्धक-वध'[6] की कथा में शिव का मातृकाओं से साहचर्य मिलता है। वे संभवतः स्थानीय स्त्री-देवता थीं। अन्धक मात्र देवताओं से द्रोह ही नहीं करता था अपितु एक बार पार्वती को हरण करने की कुचेष्टा की थी। परिणाम स्वरूप युद्ध हुआ। अन्धक के गिरे रक्त से एक नया अन्धक का जन्म, प्रतिउत्तर में शिव ने मातृकाओं को उत्पन्न किया जो अन्धक के रक्त गिरने के पूर्व ही रक्त को चाट जाती थी। फलतः अन्धक वध हुआ। पद्मपुराण के सृष्टि खण्ड में देवी का वर्णन किया गया है। स्कन्दपुराण के इकसठवें अध्याय में देवी-आराधना का उपदेश प्रतिपादित है। पैसठवें अध्याय में युधिष्ठिर द्वारा देवी की स्तुति का वर्णन है। माक्रण्डेय पुराण देवी

---

[1] सौरपुराण - 2/14, 19।
[2] सौरपुराण - 2/17।
[3] सौरपुराण - 2/18-19।
[4] ब्रह्मवैवर्तपुराण, भाग 1, 6.4।
[5] वराहपुराण - अध्याय 96।
[6] मत्स्यपुराण - 179/2 और आगे।

माहात्म्य के लिए जगजाहिर ही है। अग्निपुराण में श्री लक्ष्मी को विष्णु की पत्नी माना गया है तथा उनकी मूर्ति को विष्णु की मूर्ति के साथ बनाने का विधान है।[1] स्कन्दपुराण के अनुसार शुभ कार्यों में लक्ष्मी पूजन का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।[2] कूर्मपुराण में श्री की उत्पत्ति क्षीरसागर से बतायी गयी है। देवी को नारायण की पत्नी माना गया है।[3] उनके स्वरूप का वर्णन करते हुए उन्हें विशालाक्षी पद्मवासिनी कहा गया है।[4] विष्णुधर्मोत्तर पुराण में लक्ष्मी को प्रकृति तथा विष्णु को पुरुष कहा गया है।[5]

ब्रह्माण्ड एवं मत्स्य पुराणों में शक्ति की अनुचरियों का उल्लेख हुआ है। ब्रह्माण्ड पुराण में निम्नलिखित शक्ति-अनुचरियाँ वर्णित हैं - अनुमती, अमावस्यिका, उपरागा, कल्पा, कलि, कलिनी, काली, कुछू, कौलिनी, जयिनी, तामिस्रा आदि।[6]

मत्स्य पुराण में जिन शक्ति-अनुचरियों का नामोल्लेख हुआ है वे हैं- अश्वत्था, अपराजिता, आकर्णनी, कमलहस्तिका, चक्रहृदया,

---

[1] अग्निपुराण - 25/13।

[2] स्कन्दपुराण - धर्मारण्य माहात्म्य, 17/11-14।

[3] कूर्मपुराण, पूर्वभाग 1/30।

[4] कूर्मपुराण, पूर्वभाग 1/32, 38।

[5] "प्रकृतिः सशुभा लक्ष्मीः विष्णुः पुरुष उच्यते"। विष्णुधर्मोत्तर - 1/41/10/3/129/2-3।

[6] ब्रह्माण्ड पुराण - 4/36/57-58। 4/37/3-7। 4/32/9-13।

ज्वालामुखी, पदमकरा, बीजभावा, भीषणिका, सूक्ष्महृदया तथा संभरा आदि ।[1]

पुराणों में योग माया का भी वर्णन मिलता है। इस प्रकार पुराणों में शक्ति की सत्ता सर्वथा बनी रही।

लौकिक साहित्य तथा पुरातत्व में शक्ति की अवधारणा पर एक विहंगम दृष्टिपात का प्रयत्न हो रहा है। भारतीय इतिहास में प्रथम बार मौर्य काल में मूर्तिकला के दर्शन होते है। ये मूर्तियाँ भूरे बलुआ पत्थर की है तथा इन पर शीशे की तरह चमकने वाली पालिश है। इस काल की नारी मूर्तियों को जो मथुरा, पाटलिपुत्र, कौशाम्बी, वाराणसी तथा विदिशा आदि स्थानों से प्राप्त हुई हैं, दास गुप्ता ने दो भागों में विभाजित किया है - धार्मिक तथा लौकिक।[2] धार्मिक मूर्तियों को मातृदेवी तथा यक्षिणियों की मूर्तियाँ यह दो भागों में देखा है।

मौर्यकाल की मातृ देवी की मृण्मूर्तियाँ प्रागैतिहासिक मूर्तियों की अपेक्षा अधिक विकसित है। इस काल की मूर्तियों के चेहरे हाथ से न बनाकर साँचों से ढाले हुए है। इनकी आकृति भी पशु-पक्षी न होकर मानव की है। शरीर का शेष भाग साँचों के बजाय हाथों से बनाया हुआ है। इस दृष्टि से मथुरा संग्रहालय की मातृ देवी की मृण्मूर्तियाँ (सं. 19. 1592) विशेष उल्लेखनीय है।

---

[1] मत्स्य पुराण - 179/68-73 ।

[2] ओरिजिन एण्ड एवोल्युशन आफ इण्डियन क्ले स्कल्पचर, सी. सी. दास गुप्त पृ. 149 ।

मौर्यकालिन यक्षिणी मूर्तियों में मथुरा जिले में झींग-का-नागरा से प्राप्त यक्षिणी मूर्ति तथा पटना से प्राप्त दोंमुही यक्षिणी मूर्ति उल्लेखनीय है ।[1] द्वितिय शताब्दी ई० पू०में भरहुत के वेदिका स्तम्भ पर उत्कीर्ण यक्षिणी मूर्ति भी विशेषतःउल्लेखनीय है ।[2]

शुंगकालिन मृण्मूर्तियाँ मौर्यकालीन मूर्तियों की अपेक्षा अत्यधिक विकसित एवं कलापूर्ण है। इस समय मृण्मूर्ति कला में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ जिसके कारण इनके स्वरूपों में निखार आया। इस समय में मृण्मूर्तियाँ पूरी तरह साँचे में ढालकर बनाया गया। अलग से किसी अंग अथवा अलंकरण की आवश्यकता नहीं रहीं ।

शुंगकाल के कला में गजलक्ष्मी का अंकन खूब मिलता है। इस काल में गजलक्ष्मी 'पद्म' या श्री के नाम से प्रसिद्ध है। वह प्रायः कमल पर खड़ी या बैठी अवस्था में गजों के द्वारा अभिषिक्त होती हुई पुष्करिणी (तालाब) में स्थित देवी के रूप में मिलती है। यह स्वरूप भरहुत, साँची, बोधगया के प्राचीन 'रिलीफ' चित्रों में मिलता है। कहीं-2 लक्ष्मी कमल के फूल पर खड़ी है तथा दो हाथी उसे घटों से स्नान करा रहे हैं ।[3]

---

[1] भारतीय कला, वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ. 122-23 ।
[2] भारतीय कला, वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ. 127 ।
[3] A. भारतीय कला, वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ. 147 ।
B. मौर्य तथा मौर्योत्तर कला, एन. आर. राय, पृ. 80 ।

शुंगकाल के उपरान्त भारतीय-यूनानी एवं शक पहलव शासकों के सिक्के पर देवी का अंकन मिलता है। बैक्ट्रिया के राजा डियोडोटस, डिमेट्रियस, आर्तिमिडोरस तथा पिकोलस की मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर यूनानी देवी 'अर्तेमिस' का अंकन है।[1] रजत सिक्कों पर भी यूनान की विजय देवी 'नीके' का अंकन है।[2]

शक शासकों के सिक्कों पर विभिन्न देवियों का अंकन मिलता है। शक राजा 'मोअ' के सिक्कों के मुख भाग पर अर्तेमिस का अंकन प्राप्त होता है।[3] 'मोअ' के सिक्कों के पुरोभाग पर यूनान की चन्द्रमा देवी 'सलीन' का अंकन है।[4]

अभिषेक लक्ष्मी तथा गजलक्ष्मी के अंकन के शक शासकों को भी प्रभावित किया। अजिलिसेस के सिक्कों पर गजलक्ष्मी का अंकन है। इनमें गज लक्ष्मी पर जल वर्षण कर रहे है।[5] अजेज द्वितीय तथा हगामष के सिक्कों पर भी लक्ष्मी का चित्रण प्राप्त होता है।[6]

विशाखादेव, शिवदत्त तथा वायुदेव (प्रथमशती ई० पू०) नामक भारतीय नरेशों के सिक्कों पर गजलक्ष्मी का अंकन मिलता है। ये

---

[1] क्वांयन्स एण्ड आइकन्स ए स्टडी आफ मिथ्स एण्ड सिम्बल्स इन इण्डियन न्यूमिस्मेटिक आर्ट, बी. चट्टोपाध्याय, पृ. 89।

[2] तत्रैव - पृ. 92।

[3] तत्रैव - पृ. 89, वी. चट्टोपाध्याय।

[4] तत्रैव - पृ. 111, वी. चट्टोपाध्याय।

[5] तत्रैव - पृ. 199, वी. चट्टोपाध्याय।

[6] वैष्णव धर्म का उद्‌भव और विकास, सुवीरा जायसवाल, पृ. 82।

सिक्के ई0 पू0 प्रथम शताब्दी के माने गये है ।[1] विशाखदत्त के सिक्कों पर लक्ष्मी के साथ गज का अंकन है ।[2]

कुषाण काल में शक्तिवाद पर प्रकाश देने वाली साहित्यिक कृतियों में सर्वप्रथम अश्वघोष जो कनिष्क प्रथम के समकालीन थे, अपने ग्रन्थ बुद्धचरित में शिव तथा पार्वती का कई बार उल्लेख किया है । इसमें एक स्थल पर पार्वती को स्कन्द की माता कहा गया है ।[3]

कुषाणकालिन सिक्कों से शाक्त धर्म सम्बन्धी सूचनाएँ मिलती है । कनिष्क के शासन काल में अनेक प्रकार की मुद्रएँ प्रचलित थी । इन पर 'नाना' तथा 'ओरदोक्षो' नामक देवियों का अंकन है ।[4] प्रो. रोजन फील्ड ने अपने ग्रन्थ में 'नाना' देवी के सम्प्रदाय तथा उसके मूर्ति विज्ञान की विस्तृत चर्चा की है ।[5]

कुषाण काल में सप्त मातृकाओं या माताओं की पूजा का भी पर्याप्त प्रचार था ।[6] सात देवताओं से पृथक-2 सम्बन्ध जोड़ने वाले विभेदक लक्षणों के साथ सप्त मातृकाओं के जो प्राचीनतम चित्रण मिलते हैं, वे कुषाणकाल के ही हैं ।[7]

---

[1] दी एज आफ इम्पीरियल यूनीटी, पृ. 173-74 ।
[2] वी चट्टोपाध्याय, पृ. 199 ।
[3] बुद्धचरित 1/66 ।
[4] वी. चट्टोपाध्याय, 145, 46 ।
[5] दी डायनेस्टिक आर्ट आफ दि कुषाणाज, जे. एम. रोजनफील्ड, पृ. 85-90 ।
[6] प्राचीन भारतीय लोक धर्म, डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ. 7, 141 ।
[7] ब्राह्मणिकल इमेजेज आव दि मथुरा, म्यूजियम, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 59 ।

गुप्तकाल में शक्तिवाद की लोकप्रियता अत्यन्त स्पष्ट है। कलिदास की कृतियों से, जिन्हे प्रायः चन्द्रगुप्त द्वितीय कालीन माना जाता है, शाक्त धर्म की प्रगति प्रमाणित है।[1] उनके काव्यों में मंगल श्लोकों और नाटकों की नान्दियों में विभिन्न देवियाँ की स्तुति की गयी है। इन पद्यों से देवी के स्वरूप का ज्ञान होता है। जैसे रघुवंश के मंगल श्लोक में शिव पार्वती की एक साथ स्तुति की गयी है। कहा गया है कि जगत् के माता-पिता हैं और परस्पर ऐसे संपृक्त हैं जैसे शब्द और अर्थ।[2] देवी के लोक प्रचलित रूप का चित्र कुमारसंभव और मेघदूत में प्राप्त होते है। पार्वती के कई नाम उमा[3], अम्बिका[4], भवानी[5] और गौरी[6] मिलते हैं। रघुवंश में पार्वती की सवारी सिंह को भी देवत्व प्रदान किया गया है।[7] कुमारसंभव में महाकाल शिव की संहारकारिणी शक्ति भद्रकाली का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह मनुष्य की खोपड़ियों की मुण्डमाला धारण करती है।[8]

---

[1] कालिदास की तिथि निर्विवादित नहीं है।

[2] रघुवंश 1/1 ।

[3] कुमारसंभव 1/43 । 3/58, 62 ।

[4] तत्रैव - 8/18, 78 ।

[5] मेघदूत पूर्व 36, 44 ।

[6] कुमारसंभव 5, 50 ।

[7] रघुवंश - 2/35 ।

[8] कुमारसंभव 7/39 ।

कुमारसंभव में सप्त अम्बिकाओं का उल्लेख है।[1] पुराणों में इन्हीं को सप्त मातृकाएँ कहा गया है।

शूद्रक के मृच्छकटिक में महादेवी के रूप में पार्वती का एक स्थान पर उल्लेख है और उनके द्वारा शुम्भ-निशुम्भ के वध की कथा का संकेत है।[2] एक स्थल पर मातृकाओं का उल्लेख हुआ है, जिनकी जनसाधारण द्वारा चतुष्पदों पर पूजा की जाती थी।[3]

गुप्तकालीन नाटक कौमुदी महोत्सव से ज्ञात होता है कि एकानंशा विन्ध्यवासिनी के नाम से प्रसिद्ध थी।[4]

गुप्तकालीन सिक्कों से भी शाक्त धर्म सम्बन्धी अनेक सूचनाएँ मिलती है।

---

[1] कुमारसंभव 7/38-39।

[2] मृच्छकटिक 6/27।

[3] मृच्छकटिक 2/25 एवं आगे।

[4] 'ए नोट आन एकानंश' इण्डियन कल्चर, अंक 4, नं. 2, पृ. 271-72, ए. घोष।

चतुर्थ अध्याय

पुराण साहित्य तथा देवीपुराण रचना काल तथा रचना स्थल

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति है। इस संस्कृति के सांगोपाड्. परिचय के लिए वैदिक साहित्य के अध्ययन का महत्व तो असंदिग्ध है ही, साथ ही पुराण साहित्य का अध्ययन भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। छान्दोग्योपनिषद् ने पुराण को पञ्चम वेद की संज्ञा देकर विशिष्ट कोटि में स्थापित किया है।[1]

वेदों में प्रतिपादित ज्ञान के गूढतम रहस्यों को पुराणों के द्वारा सर्व साधारण के लिए सरल एवं स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित एवं सरस तथा उपयोगी कथानकों के माध्यम से प्रकट किया गया है। निस्सन्देह वैदिक संस्कृति की परम्परा को स्थायी एवं जीवित रखने का श्रेय पुराणों को ही है।

भारतीय संस्कृति के मेरुदण्ड और हिन्दू धर्म के आधारभूत पुराणों के सम्यग ज्ञान के बिना वैदिक ज्ञान दुष्प्राप्य बतलाया गया है।[2] पुराणों का धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक, राजनैतिक, भौगोलिक आदि अनेक दृष्टियों से महत्व आका जा सकता है। अतः सांस्कृतिक विधि होने के कारण पुराणों का विशेष महत्व है। कई परवर्ती साहित्यकारों ने अपने कृतियों में पुराणों से श्लोक उद्धृत किये हैं। भास्कर राय ने

---

[1] "पुराण पंचम वेदानां वेदम्" छान्दोग्य उपनिषद् - 7.1 ।

[2] वायुपुराण - 1.20.1 ।

ललितासहस्रनाम पर सौभाग्य भास्कर नामक भाष्य लिखते हुए देवीभागवत पुराण के कुछ पद्य उद्धृत किये है ।[1]

पुराण शब्द की व्युत्पत्ति

पुराण साहित्य अति प्राचीन साहित्य है । सबसे पहले हमें पुराण शब्द ऋग्वेद में मिला है ।[2] इसमें 'पुराण' शब्द की प्राचीनता के अर्थ को द्योतित करता है । इसके पश्चात् अर्थववेद में भी पुराण शब्द विद्यमान है ।[3] किन्तु यहाँ यह किसी विद्या विशेष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

पद्म पुराण के अनुसार "पुरा परम्परा वष्टि कामयेत" अर्थात जो परम्परा की कामना हो, वही पुराण है ।[4] अथर्ववेद के अनुसार राजाओं और ऋषियों की कहानियाँ ही पुराण है ।[5]

पुराण शब्द से यह स्पष्ट होता है कि 'पुराण' का विषय प्राचीन काल से सम्बद्ध था ।

---

[1] स्टडीज इन देवी भागवत, पी. जी. लैले, पृ. 105 ।

[2] "अन्यं पन्था अनुवित्तः·पुराणः" ऋग्वेद, 4.18.1 ।

[3] अथर्ववेद - 11.7.24 ।

[4] पद्मपुराण - 5.2.53 ।

[5] अथर्ववेद - 15.6.10.11 ।

पुराण का लक्षण

पुराणों में पुराण के पाँच लक्षण बताये गये हैं - सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, वंशानुचरित तथा मन्वन्तर।[1] परन्तु इन पाँचों विषयों के अतिरिक्त चार प्रधान विषय और थे - आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्प शुद्धि।[2]

पुराण लेखकों ने पुराणों में वर्तमान विषयों का समावेश करने के लिए ही पुराणे के लक्षणों को और अधिक विस्तृत बना दिया। पुराणकारों का यही प्रयत्न था कि वे सब सांसारिक विषयों को पुराण में समाहित करें। पुराणकारों ने पुराण के दस लक्षण - सर्ग, प्रतिसर्ग, वंशानुचरित तथा मन्वन्तर के अतिरिक्त वृत्ति, रक्षा, विसर्ग हेतु तथा अपश्रय[3] - ये पाँच लक्षण अधिक गिनाये गये।

परन्तु ये दस लक्षण भी पुराणों के वर्ण्य - विषय को समाहित करने में असमर्थ रहे। इनके अतिरिक्त प्रत्येक पुराण में व्रत, तीर्थ-यात्रा का महत्व आदि अनेक विषय है जो प्राचीन लक्षणों के अन्तर्गत नहीं आ सकते।

---

[1] विष्णु पुराण - 3.6.24।

[2] अख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः। पुराणसंहिता चक्रे पुराणार्थ विशारद। इतिहास पुराण साहित्य का इतिहास, कुंवर लाल जैन, पृ. 103।

[3] सर्गों स्याथ विसर्गाश्च वृत्ति रक्षान्तराणि च। वंशो वंशनुचरितं सस्थां हेतु पाश्रय।। भागवत पुराण 12.7.9-10।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि कोई भी प्राचीन घटना पुराणों का विषय हो सकती है।[1]

पुराणों का रचना काल

उपलब्ध प्राचीन भारतीय साहित्यिक रचनाओं का रचना काल निर्धारित करना कठिन कार्य है। क्योंकि प्राचीन रचनाकारों, विशेषकर साहित्य के रचनाकारों ने अपने कृतियों में रचनाकाल के विषय में बहुत स्पष्ट संकेत नहीं दिये। इतना होने पर भी अन्तः साक्ष्य तथा बाह्य साक्ष्य का आश्रय लेकर काल क्रम निर्धारण करने का यत्न किया गया है। पुराण साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है।

अथर्ववेद और वृहदारण्यकोपनिषद के अनुसार पुराणों का आरम्भ वेदों और पुराणों का आविर्भाव 'यज्ञ के अंश' से हुआ।[2] वृहदारण्यकोपनिषद के अनुसार चारों वेद, पुराण, इतिहास आदि आदि की उत्पत्ति महाभूतों से हुई।[3] गोपथ ब्राह्मण[4], तैत्तिरीय आरण्यक[5], छान्दोग्योपनिषद[6], गौतमधर्म सूत्र[7], तथा शतपथ ब्राह्मण[8] इसी का समर्थन करते हैं।

---

[1] यस्मात पुरा हननतीवं तेन हिमृतम्" वायुपुराण - 1/203।
[2] अथर्ववेद 11.7.24।
[3] वृहदारण्यकोपनिषद् 11.4.10।
[4] गोपथ ब्राह्मण - 1.10।
[5] तै. आ. 11/9-10।
[6] छा. उ. - 3.4/10-12।
[7] गौ. ध. सू. - 7.6.11.19।
[8] शतपथ ब्राह्मण - 13.4.3-13।

ये कृतियां पुराणों की पवित्रता में विश्वास करती हैं। मत्स्य पुराण में तो यहाँ तक कहा गया है कि ब्रह्मा जी ने वेदों का ज्ञान प्राप्त करके सबसे पहले 'पुराण' का ही स्मरण किया।[1]

इन स्थलों को देखने से पता चलता है कि 'पुराण' शब्द एक वचन में प्रयुक्त हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि इस काल तक केवल एक ही पुराण की रचना हुई थी। यह पुराण ईसवीं के आरम्भ तक प्रकाश में आया।[2]

इसके अनन्तर पुराण शब्द का प्रयोग मनुस्मृति,[3] याज्ञवल्क्यस्मृति[4] में बहुवचन में मिलता है। महाभारत में एक स्थान पर वायुपुराण का उल्लेख किया गया है।[5] आपस्तम्बधर्मसूत्र में एक स्थान पर भविष्य पुराण के श्लोक को उद्धृत किया गया है।[6] इससे स्पष्ट होता है कि पुराणों की संख्या आपस्तम्ब धर्म सूत्र की रचना से पहले बढ़नी आरम्भ हो गयी थी।

इस सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि ईसा से एक शताब्दी पूर्व ये पुराण वैदिक साहित्य की एक शाखा के रूप में वर्तमान थे। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि ये पुराण वहीं हैं जिनका उल्लेख हमें शतपथ

---

[1] मत्स्य पुराण - 2.24.17।

[2] शक्ति कल्ट इन एंशियेण्ट इण्डिया, पुष्पेन्द्र कुमार, पृ. 42।

[3] मनुस्मृति - 3/232।

[4] याज्ञवल्क्यस्मृति - 3/189।

[5] महाभारत - 18.6.97।

[6] आपस्तम्बधर्मसूत्र 2.9.24.6।

ब्राह्मण, उपनिषदों, श्रुतियों तथा धर्मसूत्रों में मिलता है। उपलब्ध पुराणों की वहीं विशेषताएँ हैं जो उन प्राचीन पुराणों की थी।[1]

महाभारत की रचना काल तक विस्तृत पुराण वर्तमान रूप तथा आकार में अस्तित्व में नहीं आये थे। इसलिए उपलब्ध पुराण ईसवीं के आरम्भिक समय के हैं।[2]

इन पुराणों की पुनः रचना तब हुई जब जैन धर्म तथा बुद्ध धर्म भारत में बहुत फैल रहे थे। जिस समय हिन्दू धर्म अपनी अन्तिम साँसे गिन रहा था, तब इन पुराणों के रचनाकारों ने हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार किया। इन्होंने इन नए पुराणों के द्वारा लोगों के विचारों तथा जीवन में शान्तिपूर्ण क्रान्ति को जन्म दिया।[3] इसका फल यह हुआ कि बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म की ओर आकर्षित होने वाले ब्राह्मणों को पुनः हिन्दू धर्म की ओर आकर्षित होने लगे।[4]

पुराणों के रचना काल पर भिन्न-2 विद्वानों ने अपने-2 मत प्रकट किए हैं -

1. एस. डी. ज्ञानी क अनुसार उपलब्ध पुराणों का काल सातवीं शताब्दी माना जा सकता है।[5]

---

[1] शक्ति कल्ट इन एंशियेण्ट इण्डिया, पुष्पेन्द्र कुमार शर्मा, पृ. 40।

[2] शक्ति कल्ट इन एंशियेण्ट इण्डिया, पुष्पेन्द्र कुमार शर्मा, पृ. 40।

[3] शक्ति कल्ट इन एंशियेण्ट इण्डिया, पुष्पेन्द्र कुमार शर्मा, पृ. 41।

[4] स्टडीज इनदेवी भागवत, पी. जी. लैले, पृ. 21।

[5] न्यू इण्डियन एण्टीक्वैरी - भाग 5, 1942-43, पृ. 135।

2. प्रसिद्ध विद्वान् पार्जिटर महोदय पुराणों की रचना चार सौ वर्ष ई० पू० तथा एक हजार ईसवी के बीच हुई मानते है ।[1]

3. सी. वी. वैद्य के अनुसार पुराणों को रूप चौथी शताब्दी में दिया गया ।

4. भण्डारकर तथा स्मिथ पुराणों का रचना काल गुप्त युग को मानते है ।[2]

5. काणे महोदय इनके विषय में स्वीकार करते हैं कि पुराणों को वर्तमान रूप प्रदान करना ईसा की पहली शताब्दी से आरम्भ किया तथा सारे पुराणों को सातवीं शताब्दी तक अन्तिम रूप दे दिया ।[3]

6. डॉ. हाजरा पुराणों का रचना-काल 'दान और धर्म' आदि विषयों के अनुसार तीसरी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के बीच निर्धारित करते हैं ।

7. आर. सी. मजूमदार पुराणों का रचना काल तीसरी शताब्दी से सातवीं के मध्य स्वीकार करते हैं ।[4] इसका समर्थन प्रसिद्ध विद्वान के डब्ल्यू मोरगन करते है ।[5]

---

[1] जे. आर. ए. एस., 1914, पृ. 74 जे ।
[2] आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, स्मिथ, पृ. 60 ।
[3] हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग 1, पृ. 162 ।
[4] दी क्लासिक एज, भाग 3, पृ. 291, आर. सी. मजूमदार ।
[5] दी रिलीजन ऑफ हिन्दू, मोरगन, पृ. 35 ।

8. फर्कुहर महोदय इन उपलब्ध पुराणों का रचना काल गुप्त युग को मानते है ।[1] डॉ. लैले भी इसी का समर्थन करते है ।[2]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि पुराणों का विकास ईसा की प्रथम शताब्दी तक होता रहा है ।

पुराणों की संख्या तथा विभाजन

पुराणों के अन्य विषयों की तरह ही इनकी संख्या के विषय में भी मतभेद है । पुराण शब्द और महापुराण शब्द दोनों पर्यायवाची शब्द है । आरम्भ में पुराण शब्द ही प्रचलित था । पुराण के लिए महापुराण शब्द सर्वप्रथम भागवतपुराण में प्रयुक्त हुआ डॉ. हाजरा के अनुसार - The name Mahapurana for the eighteen principal purans is very late origin and being found only in Bhagwat.[3]

पुराणों की संख्या के बारे में कई पुराण ही संकेत देते है । विष्णु पुराण के अनुसार अठ्ठारह पुराणों की रचना की गई थी ।[4] इसी प्रकार देवी भागवत में भी अठारह पुराणों की रचना का वर्णन किया गया है ।[5] इस प्रकार पुराण परम्परा के अनुसार अठारह पुराणों का ही निर्माण किया गया है ।

---

[1] एन आउट लाइन ऑफ दी रिलिजियस लिट. आफ इण्डिया, जे. एन. फर्कुहर, पृ. 13 ।

[2] स्टडीज इन दी देवी भागवत, डॉ. पी. जी. लैले, पृ. 21 ।

[3] स्टडीज इन द पुराण, हाजरा, भाग 1, पृ. 16 ।

[4] विष्णु पुराण - 3.6.20 ।

[5] देवीभागवत - 1.3.2 ।

देवी भागवत में जिन अठारह पुराणों का उल्लेख है, उनके नाम वर्णन करने का ढंग सूत्रात्मक है। मत्स्य पुराण और मारकण्डेय पुराण, भागवत तथा भविष्य पुराण, ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त तथा ब्रह्माण्ड पुराण है। इसे पश्चात क्रमशः वामन, विष्णु, वायु, वाराह, अग्नि, नारद, पद्म, लिंग, गरुड़, कूर्म तथा स्कन्दादि पुराणों के नाम आते हैं।[1]

इस विभाजन के अतिरिक्त दूसरा विभाजन हमें स्कन्द पुराण में मिलता है। यह विभाजन पुराण में वर्णित मुख्य देवता पर आधारित है। इनके अन्तर्गत दस शैव, चार वैष्णव, दो ब्रह्म, एक अग्नि-पुराण तथा एक सूर्य विषय पुराणों को स्थान दिया गया है।[2]

पद्मपुराण में पुराणों का वर्गीकरण गुणों के आधार पर किया गया है। इस प्रकार तीन भागों में विभाजित किया गया सात्त्विकी पुराण, राजसी पुराण तथा तामसी पुराण।[3]

मत्स्य पुराण में इनका विभाजन चार भागों में किया गया है। जिसका आधार महात्म्य है। इन पुराण में कहा गया है कि सात्विक पुराणों में विष्णु का, राजस में ब्रह्मा का अथवा अग्नि का, तामस में शिव का तथा संकीर्ण पुराणों में सरस्वती एवं पितरों के महात्म्य का वर्णन है।[4]

---

[1] मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्। अनापद लिंग-कू-स्कानि पुराणानि पृथक् पृथक्। देवीभागवत

[2] स्कन्द पुराण, 2.30.38।

[3] पद्मपुराणा, उत्तरखण्ड, 6.263. 81-84।

[4] मत्स्य पुराण, 53, 68-69।

अतः पुराणों की अष्टादश संख्या पर पुराण एकमत है। परन्तु पुराण की नामावली पर मतभेद है। कहीं अठारह महापुराणों में वायुपुराण को गिना जाता है, कहीं शिव को। इसी प्रकार कहीं भागवतपुराण तथा देवीभागवत पुराण के बारे में मतभेद है।[1]

देवी पुराण शास्त्र या उपपुराण -

देवीपुराण शास्त्र अथवा पुराण तो कहा जाता है किन्तु इसे उपपुराण कभी नहीं कहा गया है। अठ्ठारह प्रसिद्ध पुराणों तथा उपपुराणों में इसकी गणना नहीं है। इसका कारण यह समझ में आता है कि इसमें तन्त्राशास्त्र सम्बन्धी तत्व अधिक है।[2] इतना होने पर भी इसकी रचना बहुत परवर्ती नहीं प्रतीत होती क्योंकि अनेक पूर्ववर्ती तथा परवर्ती नहीं प्रतीत होती क्योंकि अनेक पूर्ववर्ती तथा परवर्ती निबन्धकारों ने इसक उल्लेख किया है। इनके विवरण निम्नलिखित है।

	नाम पुस्तक	नाम लेखक	उदाहरण देवीपुराण के (अध्यायों से)
1.	हरिभक्ति विलास	गोपालभट्ट	देवी पुराण अध्याय 51, 61, 118
2.	कालसार	गदाधर	देवी पुराण अध्याय 21, 22,

---

[1] शक्ति कल्ट इन ऐंशियेण्ट इण्डिया, पुष्पेन्द्र कुमार शर्मा, पृ. 42।

[2] दानसंग्रह, पृ. 7, बल्लालसेन।

			24, 59
3.	विधान परिजात	अनन्त भट्ट	देवी पुराण अध्याय 54
4.	नित्याचार प्रदीप	नरसिंह वाजपेयी	देवी पुराण अध्याय 52, 34, 50, 51
5.	स्मृति तत्व	रघुनन्दन	देवी पुराण अध्याय 21-24, 50, 24
	दुर्गापूजा तत्व		देवी पुराण अध्याय 21-23, 123
6.	वर्ष कौमुदी	गोविन्दानन्द	देवी पुराण अध्याय 21, 24, 61, 78
	दान कौमुदी		देवी पुराण अध्याय 60
7.	कृत्यतत्वार्णव	श्रीनाथ आचार्य चूड़ामणि	देवी पुराण अध्याय 22, 24, 59, 61
8.	तीर्थचिन्तामणि	वाचस्पति मिश्र	देवी पुराण अध्याय 54
9.	श्राद्ध	वाचस्पति मिश्र	देवी पुराण अध्याय 59

	चिन्तामणि		
10.	कृत्य चिन्तामणि	वाचस्पति मिश्र	देवी पुराण अध्याय 48, 49
11	वर्ष कृत्य श्राद्धविवेक	रूद्रधर	देवी पुराण अध्याय 24, 59
12.	दुर्गोत्सव विवेक	शूलपाणि	देवी पुराण अध्याय 21, 23, 61
13.	प्रायश्चित विवेक	शूलपाणि	देवी पुराण अध्याय 97
14.	श्राद्ध विवेक	शूलपाणि	देवी पुराण अध्याय 59
15.	कृत्यरत्नाकर	चक्रेश्वर	देवी पुराण अध्याय 12, 21, 22, 24, 61, 74
16.	गृहस्थरत्नाकर, दानवाक्यावली	चक्रश्वर	देवी पुराण अध्याय 89, 99, 102, 117, 127
17.	मदन परिजात	मदनपाल	देवी पुराण अध्याय 51, 59, 99
18.	काल निर्णय	माधवाचार्य	देवी पुराण अध्याय 24, 74,

			104
19.	दुर्गाभक्ति तरंगिणी	विद्यापति	देवी पुराण अध्याय 21, 23, 50, 54, 89, 91
	गंगाभक्ति तरंगिणी		देवी पुराण अध्याय 117, 123, 124
20.	आचारादर्श	श्रीदत्त उपाध्याय	देवी पुराण अध्याय 50, 51
	समयप्रदीप		देवी पुराण अध्याय 24, 45, 59, 61, 79
	चतुर्वर्ग चिन्तामणि	हेमाद्रि	देवी पुराण अध्याय 11, 12, 21, 24, 27, 31, 45, 50, 56, 58, 62, 64, 67, 77, 79, 107, 121
	अद्भुत सागर	बल्लालसेन	देवी पुराण अध्याय 100 (तांत्रिक विवरण के कारण पुराणों से परित्यक्त)
	क्तयकल्पतरु	लक्ष्मीधर	देवी पुराण अध्याय 12, 23, 27, 59, 74, 79, 89,-91, 101-106, 127

काल विवेक	जीमूतवाहन	देवी पुराण अध्याय 22, 48, 61, 74, 73
उपरार्थ-याज्ञवक्यस्मृति	व्याख्या	देवी पुराण अध्याय 62, 51, 74, 97, 102, 104

इस प्रकार पञ्चम शताब्दी इस पुराण की पूर्वसीमा स्वीकार की जा सकती है, जबकि नवम शताब्दी-अवरसीमा के रूप में निर्धारित की जा सकती है।

उपरोक्त विवरणों के अतिरिक्त भी कुछ और प्रमाण देवीपुराण की प्राचीनता को प्रमाणित करते है जिनके विवरण इस प्रकार है -

भारतवर्ष में ब्रह्मा की पूजा समाज में प्रचलित नहीं तो अप्रसिद्ध हो गयी। देवीपुराण में इस पूजा वर्णन उपलब्ध होता है।[1] अतएवं छठी शताब्दी के पूर्व इस पुराण की रचना हो गयी होगी। बाणभट्ट की प्रसिद्ध रचना कादम्बरी में वर्णित शूद्रक का वर्णन देवीपुराण में वर्णित घोरासुर के वर्णन से अद्भूत साम्य रखता है।[2] वृहत्संहिता जो वराहमिहिर द्वारा विरचित है उससे देवीपुराण एक श्लोक का उद्धरण पेश किया गया है। चरकसंहिता के प्रथम सूत्र स्थान से देवीपुराण का अध्याय 108-110 गृहीत है। बौद्धधर्म के ह्रास का उल्लेख भी

[1] देवीपुराण - 2/13, 35/18-19, 118/2।
[2] देवीपुराण - 16/3-11 तथा कादम्बरी पृष्ठ 10-11।

देवीपुराण में चित्रित है ।[1] दो शैव सम्प्रदायों शैव और पाशुपत का वर्णन उपलब्ध होता है ।[2] दक्षिण तथा वाम दो शाक्त सम्प्रदायों का उल्लेख इस पुराण में मिलता है ।[3] म्लेच्छों, हूणों तथा विदेशीयों द्वारा मंत्र विद्याओं का प्रयोग दिखलाया गया है ।[4] साम्बपुराण का अध्याय 18, 22-23 हूबहू देवीपुराण के अध्याय 46-49 से मिलते है । डॉ. मुनीशचन्द्र जोशी ने देवीपुराण में वर्णित नन्दादेवी के उपाख्यान को आधार मानते हुए कतयूरी वंशी राजाओं के वर्णन कों ध्यान में रखकर इसकी रचना आठवीं शताब्दी मानते है ।[5] किन्तु मात्र नन्दादेवी के उपाख्यान पर आठवीं शती की रचना मानना समीचीन नहीं लगता क्योंकि इस पुराण में अन्य बहुत से वर्णन उपलब्ध होते हैं जो उसकी प्राचीनता को सिद्ध करते है ।

इस प्रकार देवीपुराण ग्यारहवीं शताब्दी तक के लोगों को ज्ञात था । अतः इसका काल 850 ई0 के बाद नहीं रखा जा सकता । यद्यपि अद्भुतसागर में सौवें अध्याय का उद्धरण विवादास्पद है किन्तु बल्लासेन यह कहते है कि देवीपुराण में तन्त्र सम्बन्धी विवेचनों के प्राचुर्य होने के कारण इसका समावेश पुराणों तथा उपपुराणों में नही किया गया । यह बात इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि उपराक्त के

---

[1] देवीपुराण 9/32, 33/61 ।

[2] स्टडीज इन दी उपपुराणस्, वाल्यू. 2, डॉ. हाजरा, पृ. 75 ।

[3] Puranic Rechards by Hazra, P. 41-42.

[4] देवीपुराण 39/143, 13/51-52 ।

[5] ऐतिहासिक सन्दर्भ में शाक्ततन्त्र - पृ. 46 ।

काल देवीपुराण में तान्त्रिक सामग्री थी। जो वर्तमान देवीपुराणा में भी उपलब्ध होती है। अपने दानसागर में बल्लालसेन ने आलोचनात्मक दृष्टि से यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि ताक्ष्र्य, ब्राह्म, आग्नेय, वैष्णव आदि पुराणों में तेइस हजार श्लोक है। यह तथ्य विश्वसनीय नहीं है। किन्तु उन्होंने देवीपुराण के विषय में इस तरह का कोई विचार व्यक्त नहीं किया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पुराणों तथा उपपुराणों के समान ही देवीपुराण की प्राचीनता पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि देवीपुराण की ख्याति तथा इसके प्रमाणिकता के विषय में कोई विवाद नहीं है। अतः गरुड़, अग्नि, ताक्ष्र्य आदि पुराणों से इसकी प्राचीनता अधिक है। गरुड़ तथा अग्निपुराण नवीं तथा दशवीं शताब्दी के माने जाते है। अतः देवीपुराण का पूर्वभावी होना आवश्यक है। अतः देवीपुराण 700 ई० के बाद का नहीं होना चाहिए। दुर्गोत्सव विवेक में शूलपाणि ने देवीपुराण का एक वाक्य उद्धृत किया है जिसकी व्याख्या श्रीकर ने की है। इनका काल 800 से 1050 ई० है। संभवतः यह काल नवीं शताब्दी है।

देवीपुराण का यह न्यूनतम समय कुछ और आगे बढ़ाया जा सकता है जिसका आधार देवीपुराण में वर्णित ब्रह्मा की स्वतंत्रपूजा है। विद्वानों के विचार से 200 से लेकर 600 ई० तक प्रचलित मानी जाती है। इस आधार पर देवीपुराण की रचना 600 ई० के बाद की नहीं हो सकती। देवीपुराण में जैन तथा बौद्ध साधकों का उल्लेख है। इसके

साथ ही शैव तथा पाशुपत मतों का भी उल्लेख है। इसमें बुद्ध का विष्णु का दशवाँ अवतार माना गया है। हूणों द्वारा रहस्यमयी विद्या के अभ्यास का निरुपण भी देवीपुराण का यह सामान्य काल निर्धारित किया गया है किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इसके कुछ श्लोक छठीं शताब्दी के पूर्व रचित नहीं है।

इस पुराण की भाषा संस्कृत है तथा छनदोबद्ध है। एक दो स्थानों पर गद्य भाग भी प्राप्त होते है। भाषा में व्याकरण की व्यापक त्रुटियां है, जो प्रायः सभी पुराणों की भाषाओं में प्राप्त होती है। इनके अतिरिक्त भाषा सम्बन्धी त्रुटियाँ बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों भी मिलती है। महावस्तु, ललितविस्तर आदि बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर आधुनिक विद्वानों ने ऐसी भाषा को हाइब्रिड संस्कृत के नाम से समलंकृत किया है। जयाख्यसंहिता आदि वैष्णवागमों भी इसी तरह की भाषागत त्रुटियाँ प्राप्त होती है। रामायण और महाभारत की भाषा भी इससे काँफी साम्य रखते है। भाषा का यह स्वरूप काफी पुराना है तथा ज्यादातर ख्यातिलब्ध धर्मग्रन्थ ऐसे ही लिखे गये हैं। भाषागत त्रुटियाँ जो देवीपुराण में उपलब्ध है उसे कुछ नमूने के तौर पर पेश किये जा रहे हैं -

1. मातृ के स्थान पर माता, मातरा आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।

2. चटकारान्त शब्दों को प्रायः आकारान्त प्रयोग है। - भूतिकर्तय नमः।[1] हलन्त शब्दों को भी आकारान्त प्रयोग है- सम्पदा धर्मभोगा हि[2]

3. शब्दों का लिंग परिवर्तन सम्बन्धी उदाहरण - पुलिंग शब्द नपुंसक में - योगमन्त्रं विशिष्यते[3]

4. बहुत सार स्थलों पर वचन या संख्या, विशेषणों भी वचनों का गलत प्रयोग प्राप्त होता है - यथा - अष्टमी नवमीषु[4]। देवी देवी तवान्तकै।[5]

5. शब्द रूपों का निर्माण भी नियमपूर्वक नहीं है - यथा -

(क) पथिम[6] = पन्थानम् के स्थान पर

(ख) पुष्यान्[7] = पुष्पाणि होना चाहिए

6. कर्मवाच्य तथा कर्त्तृवाच्य का प्रयोग भी त्रुटिपूर्ण है - यथा - विघ्नसे[8] (विहन्यसे होना चाहिए)।

---

[1] देवीपुराण 26/34।
[2] देवीपुराण 8/25।
[3] देवीपुराण 10/3।
[4] देवीपुराण 27/29।
[5] देवीपुराण 13/7।
[6] देवीपुराण 5/12।
[7] देवीपुराण 98/17।
[8] देवीपुराण 2/31-32।

कथ्यसे[1] (कथयसि होना चाहिए)।

7. छनदोभंग भी अनेक स्थलों पर मिलता है - यथा - सनकः सनत्कुमारश्च[2] (यहाँ अधिक अक्षर का प्रयोग है)।
तमायान्तं तु श्रुत्वा[3] (पाद में कम अक्षर प्राप्त है)।

भाषागत इन प्रवृत्तियों का पड़ताल करने पर यह पता चलता है कि प्राकृत एवं अपभ्रंश आदि भाषाओं का देवीपुराण की भाषा पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इस कारण यह पुराण भाषा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण है। गद्यांश भी अधिकतर प्राकृत से प्रभावित है एवं बौद्ध ग्रन्थ महावस्तु की भाषा साम्य रखाता है जो इसकी भाषा साम्य रखाता है जो इसी भाषा की दृष्टि से प्राचीन सिद्ध करता है। इसकी भाषा पाञ्चरात्र आगम की पौष्कर संहिता (चतुर्थ शताब्दी) एवं जयाख्यसंहिता की भाषा से भी अद्भूत मेल खाती है।[4] भाषा विज्ञान की दृष्टि से इसका अलग से अध्ययन करने भी जरुरत है। इस प्रकार के अध्ययन से देवीपुराण के महत्व को और भी अधिक स्पष्ट करेगा।

देवीपुराण की गणना यों तो विद्वानों ने उपपुराणों में की है जिनके नाम - रघुनन्दन, नरसिंह वाजपेयी[5] मित्र मिश्र[6] तथा शैवनी

---

[1] देवीपुराण 83/2।
[2] देवीपुराण 2/7।
[3] देवीपुराण 5/12।
[4] Studies in the up Puranas, vol II, P. 175 by R. C. Hazra.
[5] नित्याचार प्रदीपिका - पृ. 18-19।
[6] वीरमित्रोदय, परिभाषा प्रकाश, पृ. 15।

कण्ठ[1] है। चण्डेश्वर ने देवीपुराण को वास्तविक भागवत माना है।[2] यह मत पूर्णतया असमीचीन है क्योंकि परवर्ती किसी विद्वान् ने इसके विषय में कुछ उद्धरण नही दिया है।

देवीपुराण की संरचना तथा प्रचार बंगाल में ही था। यह एक सुविचारित तथ्य है। इसमें उल्लिखित नगरों, प्रदेशों, नदियों तथा पवित्र स्थानों पर विचार करने पर वे सभी उत्तर भारत के ही प्रतीत होते है। उत्तरी भारत से सम्बन्ध रखने के साथ ही साथ इसका मूल स्थान बंगाल था। इस सम्बन्ध निम्नलिखित प्रमाण दिये जा सकते है:-

1. देवीपुराण अन्य पुराणों के विपरीत अशुद्ध संस्कृत में लिखा हुआ है। एडजर्टन ने इसका नाम ही ब्रिड संस्कृत रखा है। इस प्रकार की संस्कृत बौद्धो के ग्रन्थ महावस्तु तथा ललित विस्तर आदि में प्राप्त होती है। जिनका मूल पौरवात्य भारतवर्ष है। इससे यह सिद्ध होता है कि देवीपुराण का मूल भी पूर्वी भारतवर्ष ही है।

2. अनेक उपपुराणों के उद्धरणों से भिन्न इस उपपुराण के सन्दर्भ उड़ीसा के एकाम्रपुराण तथा रघुनन्दन के मलमासतत्व में ही पाया जाता है। इससे भी देवीपुराण का पूर्वी होना सिद्ध होता है।

---

[1] शैवनील कण्ठ, तिलकटीका, देवीभागवत, पृ. 3।

[2] बंगाल शिवपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय 23 - भगवताश्च दुर्गायाः चरितंयत्र वर्तते। तत्तुभागवतं प्रोक्तं नतु देवीपुराण।।

3. यद्यपि देवीपुराण में कामरुप तथा कामाख्या को देवीपूजा का स्थल बताया गया है किन्तु इन स्थानों के प्रचलित पूजा पद्धति का महत्व प्रतिपादित नहीं किया है जबकि दूसरी ओर विंध्यवासिनी की पूजा की प्रशंसा की गयी है और कामरुप को शक्तिपीठ के रुप में प्रतिपादित किया गया है, जिसका प्रभाव बंगाल में अधिक है। इस तथ्य के प्रमाणभूत कालिका पुराण, महाभागवतपुराण तथा वृहद्धर्म पुराण है। इससे भी इसका मूल बंगाल होना सिद्ध होता है।

4. देवीपुराण की अधिकांश हस्तलिखित प्रतियाँ बंगाल में ही प्राप्त हुई, इन सबकी लिपि बंगाली है, जो प्रतियाँ बनारस के आस-पास प्राप्त हुई, वे प्रतियाँ मूल बंगाली की प्रतिलिपि है। पूरे भारत के अन्य भाग में इस पुराण का कोई हस्तलेख उपलब्ध नहीं होता। इससे भी इसकी बंगालमूलकता सिद्ध होती है।

5. इस पुराण में दुर्गापूजा में शत्रुबलि का विधान वर्णित है।[1] आश्चर्य की बात यह है कि बंगाल में यह बलिप्रथा आज भी प्रचलित है। इससे भी इसका बंगाल में मूल होना सिद्ध है।

उपर्युक्त विवेचन से इस पुराण का काल पञ्चम शताब्दी के मध्य माना जा सकता है तथा इसकी रचना बंगाल में हुई यह भी उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है।

[1] देवीपुराण 22/16।

"शक्ति उपपुराण"

"देवीपुराण का संक्षिप्त परिचय"

हड़प्पा मोहन जोदड़ो की खुदाईयों से तथा वैदिक काल के ग्रन्थों के अध्ययन काल से यह निर्विवाद सिद्ध है कि भारतवर्ष में शक्ति पूजा का प्रारम्भ अत्यन्त प्राचीन काल से था। शक्ति के विभिन्न स्वरूपों अथवा अवतारों का विस्तृत विवरण जो पुराणों में उपलब्ध होता है वह निश्चय ही परवर्ती काल का विवरण है। वास्तव में ईसवी सन् के बहुत पहले महापुराणों की रचनायें हुई जिनमें ब्राह्म पाञ्चरात्र तथा पाशुपत संस्कारों, परम्पराओं तथा मतों का प्रतिपादन किया गया किन्तु इनमें से किसी भी ग्रन्थ में प्रधान रूप से या पूर्ण रूप से शक्ति पूजा का उल्लेख नहीं किया गया है। यद्यपि कुछ अध्यायों में देवी की पूजा तथा प्रशंसा परक अनेक उद्धरण मिलते है। प्रधान रूप से मारण्डेय पुराण, वामन पुराण, वाराह पुराण तथा कूर्म पुराण आदि। परवर्ती काल में अनेक उप पुराणों की रचनाएँ हुई जैसे - देवी पुराण, कालिका पुराण, महा भागवत, देवी भागवत, भगवती पुराण, चण्डी पुराण तथा दूसरा कालिका पुराण। इनमें से प्रथम चार छपे हुए उपलब्ध है शेष अभी तक हस्तलिखित उपलब्ध है।

प्रस्तुत शोध का विषय देवीपुराण है। अतः उपलब्ध देवी सम्बन्धी उप पुराणों में प्राप्त सामग्री पर भी सामान्य रूप से एक विहंगम दृष्टिपात किया जाना समुचित लगता है। इन उप पुराणों में

देवी को एक स्वरूप प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि इनके प्रसिद्ध स्वरूपों को प्रधानता देते हुए इनका विवरण प्राप्त होता है। जैसे - दुर्गा, काली (कालिका), चण्डी आदि। भारतवर्ष में उपासना के क्षेत्र में शक्ति पूजा के अविर्भाव ने शक्तिमान का संयोग मिलाया। अतः ये देवियां विभिन्न देवों के पत्नी के रूप में चित्रित हुई। इन पुराणों के अतिरिक्त भी, वृहदर्य पुराण तथा भविष्योत्तर पुराण में देवी पूजा सम्बन्धी अनेक अध्याय मिलते है। निबन्धकारों ने भी इस विषय में कार्य किया है। जिनमें बंगाली निबन्धकार विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इन पुराणों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उन लोगों ने देवी की उत्पत्ति के विषय में अधिक विचार नहीं किया है। यद्यपि उनमें देवी के सम्बन्धों के विषय में विचार आते हैं। देवी की उत्पत्ति का प्रश्न निश्चित रूप से उनके सम्बन्धों के स्वभाव के निश्चित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा। डॉ. हाजरा का कथन है कि देवी के विषय में यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि देवी का उल्लेख वेदों में है जैसे - पृथ्वी किन्तु उनका वर्तमान स्वरूप यह स्पष्ट करता है कि उनका मूल अवैदिक हे।[1] आधुनिक आविष्कारों से यह सिद्ध हो चुका है कि आर्य तथा अनार्य दोनों प्रकार की जातियों में जिनका विस्तार यूनान से लेकर भारतवर्ष तक था मातृपूजा अत्यन्त

[1] Studies in Upi Purvana v-II, पृ. 16।

प्राचीन काल से प्रचलित थी। यूनान में प्राग्‌ऐतिहासिक देवी का एक मात्र मूल पर्वत माँ (माउण्टेन मदर) के रूप में मिलता है जिसका काल 1500 B. C. माना जाता है।[1] इस देवी का चित्र पर्वत के शिखर पर दोनों पार्श्वों में दो सिंहों के साथ प्राप्त होता है।

सर जान मार्शल ने उल्लेख किया है कि सिन्धु घाटी तथा बलूचिस्तान में पायी गयी अनेक देवी मूर्तियों के अनुरूप देवी मूत्रियाँपर शिया, एजियन, एलम, मेसोपोटामियां, एशिया माइनर, सिरिया, पेलेस्टाइन, बालकन तथा मिस्र में प्रचुर मात्रा में गिलती है।[2] महाभारत[3] हरिवंश[4] तथा अन्य पुराण[5] इस बात को प्रमाणित करते है कि भारतवर्ष के विभिन्न भागों में वदानुयायियों के अतिरिक्त शवर, किरात, वर्वर, पुलिन्द तथा अन्य अनार्थ जातियों में भी देवी के रूप में मान्य थी जिनका आवास हिमालय माना जाता है। तैत्तिरीय आरण्यक[6] और महाभारत[7] में देवी कुमारी के रूप में चित्रित है। यहाँ तक की विन्ध्यवासिनी भी कुमारी क रूप में मान्य हैं। इतना ही नहीं मारकण्डेय, देवी तथा अन्य पुराणों में इन्हे उमा का स्वरूप माना गया है किन्तु दानवों का इन्होने कुमारिका के रूप में ही किया है।

---

[1] तत्रैव।

[2] मोहन जोदड़ो एण्ड इण्डस सिविलाइजेशन, vol. I, पृ. 53। सर जान मार्शल

[3] महाभारत IV विराट पर्व अध्याय 6, भीष्म पर्व अध्याय 23।

[4] II विष्णु पर्व, अध्याय 2-4 तथा 22।

[5] मारक्रण्डेय पुराण, अध्याय 81-93, भविष्य पुराण, अध्याय IV 138।

[6] तैत्तिरीय आरण्यक 10।

[7] महाभारत IV, 6-7, 14।

आदिवासियों में शक्ति की पूजा का मूल कारण सुरक्षा भावना थी। ये लोग भयंकर जंगली जानवरों तथा भूत प्रेतों से अपनी रक्षा के लिए शक्ति की उपासना किया करते थे।[1] तैत्तिरीय आरण्यक तथा केन उपनिषद में 'उमा' का उल्लेख सर्वप्रथम प्राप्त होता है। वहाँ इन्हे उमा तथा अम्बिका कहा गया है और इनका सम्बन्ध रूद्र से बताते हुए उन्हे अम्बिका पति या उमापति की संज्ञा दी गयी है।[2] बाद में इनका नाम हैमवती भी उपलब्ध होता है।[3] तैत्तिरीय आरण्यक में इन्हे दुर्गी अर्थात दुर्गा कहा गया है किन्तु वहाँ ये कन्या कुमारी के रूप में प्रतिष्ठित है। डॉ. हाजरा के मत में उमा तथा दुर्गी भिन्न-2 है। उनका कहना है कि यह भी संभव है कि दुर्गी भी उमा की भाँति पर्वत पुत्री थी जिनका सम्बन्ध हिमालय से था।[4] भुण्डकोपनिषद में प्राप्त काली-कराली से हाजरा महोदय का अभिमत हे कि अनार्य देवियाँ क्रमशः आर्य देवताओं के साथ संयुक्त होने लगी थी जिसमें सर्वप्रथम उमा का सम्बन्ध रूद्र से होने लगा था।[5]

इस प्रकार हम देखते है कि प्राग्ऐतिहासिक काल से लेकर आधुनिक काल तक शक्ति की उपासना विभिन्न रूपों से प्रचलित रही

---

[1] A हरिवंश पुराण - II, 3/7-8।
B देवी पुराण - 17/26।

[2] तैत्तिरीय आरण्यक -

[3] केन उपनिषद -

[4] Studies in up Purana vol II, पृ. 24।

[5] तत्रैव।

है । पुराणों में इनका उल्लेख विभिन्न कथानकों और इनके चरित्रों को लेकर किया गया है । भारतीय शास्त्रों में ईश्वर को विभिन्न नामों में उल्लिखित करते हुए भी उसे एक ही स्वरूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास हुआ है शक्ति का स्वरूप भी इसका अपवाद नहीं हे । अतः हम देखते है कि पौराणिक साहित्य में जिस किसी भी देव का नाम लेकर प्रारम्भ किया जाता है उसे ही सृष्टि, उसका पालन तथा संहार का कार्य आरोपित किया जाता है । शक्तियों के साथ भी शक्ति पुराणों में इसी प्रकार की व्यवस्था दी गयी है ।

शोध का विषय देवी पुराण है अतः उसका संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है । देवी उपपुराणों में यह सबसे प्रसिद्ध उप पुराण है जिसमें 128 अध्याय है । यद्यपि कि कई पाण्डुलिपियों में 138 अध्याय उपलब्ध होते है ।[1] किन्तु विषय के प्रतिपाद्य तथा श्लोकों की संख्या के गणना की दृष्टि से ये सभी पाण्डुलिपियाँ समान ही लगती है । पुराण का प्रारम्भ उद्‌भुत ढंग रीति से होता हे तथा बिना किसी प्रस्तावना के देवी के नमस्कार के पश्चात पुराण शुरु हो जाता है । इसका प्रतिपाद्य विषय देवी का विंध्यपर्वत पर स्वयं अवतार ग्रहण तथा अपने कार्यों का सम्पादन है । इनका नाम विन्ध्यवासिनी है । इस पुराण में देवी को केवल आद्या, पराशक्ति या योग निद्रा ही नहीं कहा गया है बल्कि इन्हे उमा, शिव की पत्नी के रूप में भी चित्रित किया गया है । ये अन्य

[1] Hazra, vol II, पृ. 35 ।

देवताओं के शक्तियों के रूप में भी प्रतिष्ठित हैं। जैसे - मातृ, दाक्षायिणी, काली, चण्डी आदि जो देवी के विभिन्न स्वरूप माने गये हैं। इस पुराण में देवी के प्रसिद्ध अवतारों का उल्लेख है। इनका शिव से तथा अन्य देवताओं के आदि सम्बन्धो की चर्चा है इसमें योग तथा अभ्यास के नियम, शाक्त मूर्ति-मुद्रा आदि, शाक्त प्रतिज्ञायें तथा पूजा, शैव तथा वैष्णव सम्बन्धी शक्ति पूजा, ब्रह्मा तथा गणेश सम्बन्धी शक्ति पूजा, युद्ध कला, नगर तथा दुर्ग निर्माण और उसके सुरक्षा की व्यवस्था, विभिन्न वैदिक संस्थाओं, उपवेदों, अंगों, उपांगों का विवरण, आयुर्वेद, हस्तलिपियों, उनके नकल करने की विधि, लेखन सामग्री तथा उसका उपयोग, लेखक के गुण तथा उसको दी जाने वाली राशि, पवित्र स्थलों, देशों तथा ऐतिहासिक रुचि के नगरों का वर्णन, विभिन्न प्रकार के दानों, पाम्पराओं तथा रिवाजों आदि का विशद वर्णन है।

देवी पुराण का प्रारम्भ एक मंगल श्लोक से होता है जिसमें किसी व्यक्ति का नाम नहीं है किन्तु सत्ताइसवें श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराण कथा के श्रवण करने के लिए वशिष्ठ के आश्रम में अनेक ऋषि लोग उपस्थित थे और उन्हीं के प्रश्नों के उत्तर के फलस्वरूप महर्षि वशिष्ठ ने आद्याशक्ति का स्मरण करके यह पुराण का आरम्भ किया है।[1] डॉ हाजरा महोदय को सन्देह है कि यह व्यक्ति अज्ञात हैं किन्तु प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार व्यास, वेशम्पायन तथा

[1] देवीपुराण, अध्याय 1/27-28।

शुकदेव ही पुराणों के प्रवक्ता माने गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कथानक की प्रक्रिया का प्रारम्भ उन्ही में से किसी ने किया। महर्षि वशिष्ठ से उपस्थित ऋषियों ने यह प्रश्न किया कि भूत, वर्तमान तथा भविष्य में जिन-2 दानवों का नाश देवी ने किया है, इन्द्र को दानवों द्वारा अपहृत राज्य वापस हुआ है, देवी के साठ अवतार आदि तथा राजा पृथु द्वारा पूजा का जो विधान किया गया है उन सभी को कृपा पूर्वक बतावें।[1] फलतः वशिष्ठ ने चारों युगों में होने वाले देवी के अवतारों का वर्णन किया है।[2] महर्षि वशिष्ठ ने उपस्थित महर्षियों को इस पुराण के सम्प्रदाय के विषय में यह उल्लेख किया है कि महर्षि अगस्त्य इस विषय का प्रतिपादन करेंगे और उन्हीं से राज-महाराजाओं के माध्यम से इस पुराण का प्रचार होगा इसे शिव से विष्णु ने, ब्रह्मा से मातरिश्वा तथा मनु, अत्रि तथा भृगु के द्वारा हम लोगों को ज्ञात हुआ।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि यह पुराण शिव से विष्णु, विष्णु से ब्रह्मा, ब्रह्मा से मातरिश्वा, मातरिश्वा से मनु, आत्रि, भृगु आदि ऋषियों से होकर वह वशिष्ठ को प्राप्त हुआ। वशिष्ठ पुनः इसके विषय सामग्री को चार पादों में विभक्त करते है :-

[1] देवीपुराण, 1/1-26।
[2] देवीपुराण, 1/30।
[3] देवीपुराण, 1/36।

1. प्रथम पाद जिसे त्रैलोक्य विजय या विजय कहा जाता है इसमें सृष्टि के आदि में देवी के उत्पत्ति का वर्णन किया गया है ।[1]

2. द्वितीय पाद जिसे त्रैलोक्याभ्युदय पाद कहा जाता है इसमें देवराज इन्द्र की कथा, दुन्दुभि का वध, घोरासुर का अभ्युदय, एवं विंध्याचल में देवी का अवतार तथा उसके विभिन्न स्वरूपों का चित्रण किया गया है ।[2] तृतीय पाद को शुम्भ मद्रन के नाम से अभिहित किया गया है । इसमें दोनों असुर भ्राताओं का देवी द्वारा सर्वनाश का वर्णन किया गया है ।[3]

चतुर्थपाद का कोई नाम नहीं मिलता है । इस पाद में अन्धकासुर के साथ युद्ध, देवासुर संग्राम और तारकासुर का कार्तिकेय के साथ युद्ध, उमा और काली की उद्भव कथा और मातृकाओं का वर्णन किया गया है । कुमार का जन्म, शंकर की आराधना, उमा द्वारा पति की प्राप्ति, ग्रह योग आदि का वर्णन है ।[4]

इसके पश्चात महर्षि ने पुराण के अध्ययन का उपयुक्त स्थान, उसका नियम तथा पुराण के अध्ययन के फल का वर्णन करने के पश्चात वे पुनः इस पुराण विद्या की ओर एक कथा के माध्यम से इंगित करते हैं, जिसमें नृपवाहन नामक एक शिष्य ने अपने गुरू चित्रा द से

[1] देवीपुराण, 1/36 ।
[2] देवीपुराण, 1/37-42 ।
[3] देवीपुराण, 1/43 ।
[4] देवीपुराण, 1/44-52 ।

यह आग्रह किया है कि तुमने इन्द्र से सभी विद्याओं को प्राप्त किया हे। अतः सभी प्राणियों के हित के लिए तुम खड्ग, माला, अञ्जन और गुटिका आदि विद्याओं को प्रकाशित करो। उत्तर में चित्रा ने वशिष्ठ से कहा गया है कि आप सभी विद्याओं के स्वतः ज्ञाता है अतः इस विद्या के ज्ञान के लिए महर्षि अगस्त्य के पास जाइए। गुरू के इस अनुरोध पर नृपवाहन ब्रह्म विशारद महर्षि अगस्त्य के आश्रम में जाता है। जहाँ महर्षि अगस्त्य उसे विष्णु, शिव, ब्रह्मा तथा इन्द्र के द्वारा प्रकाशित विद्या का उपदेश करते है इस तरह प्रथम अध्याय समाप्त होता है।

द्वितीय अध्याय का आरम्भ नृपवाहन के कामिका विद्या का आश्रय लेकर महर्षि के अगस्त्य के आश्रम में प्रवेश करने से प्रारम्भ होता है। श्लोक एक से लेकर बारह तक आश्रम का वर्णन है।[1] जहाँ ऋर्षि लोग वेदाभ्यास में रत है, जहाँ रोग का विचरण करते है, जहाँ घोड़े महिषों के साथ क्रीडा करते हैं तथा जहाँ सतन्कुमा नारद गौतम, पुलस्त्य, पुलस्त्य, पुलह, भृगु, अंगिरा, वशिष्ठ तथा शाण्डिल्य आदि महर्षि कन्दमूल फल खाकर ब्रह्मा, विष्णु, शिव, स्कन्द, उमा तथा दुर्गा के पूजा में निरत हैं। ऐसे स्थल पर पहुँच कर नृपवाहन ने इस विद्या के विषय में पूछा जो अत्यन्त शक्ति प्रदान करने वाली तथा मोक्ष फल को देने वाली है। परिणामतः महर्षि अगस्त्य ने ब्रह्मा द्वारा इन्द्र को प्राप्त तथा क्रमशः शिव द्वारा प्रदत्त इस विद्या का वर्णन प्रारम्भ किया।

---

[1] देवीपुराण 2/2-12।

उन्होनें बताया कि जब इन्द्र ने इस विद्या की प्रशंसा की जो ब्रह्मा ने उन्हे आद्याशक्ति की पूजा करने का आदेश दिया और 'घोर' नामक दानव की कथा सुनायी।

घोर ने विष्णु से यह वरदान प्राप्त किया कि 'शिवा' देवी के अतिरिक्त उसे कोई परास्त न कर सके। वह अपनी राजधानी कुशद्वीप में स्थित चन्द्रशोभापुर में वापस लौटकर आया। राज्य के कार्यों का सम्पादन किया जिसमें राज्यशास्त्र के सिद्धान्तों को आश्रय बनाया और अपने पुत्र वज्रदण्ड की सहायता से उसने दिशाओं में विजय प्राप्त किया। अध्याय के अन्त में सुषेण नाम एक व्यवित ने उसे सभी पापों का नाश करने वाले द्वादशी व्रत का उपदेश किया और उसके द्वारा उसने पिताम्बरधारी भगवान विष्णु का दर्शन करके उनसे प्रार्थना किया। इस प्रार्थना के साथ द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।[1]

तृतीय अध्याय में असुर घोर के विजय का वर्णन है, जिसमें उसने सत्पद्वीपा पृथ्वी को समुद्र के साथ अपने अधीनस्थ कर लिया था। इसके पश्चात काल तथा वज्रदण्ड द्वारा पातातल और रसातल पर आक्रमण किये जाने का उल्लेख है, वहाँ इन लोगों ने वहाँ के रहने वाले नागों और राक्षसों को पराभूत कर पृथ्वी लोक पर वापस आ गये। वे लोग पृथ्वी पर मध्य देश के उडम्बरपुर नगर में पहुँचे जहाँ

[1] देवीपुराण, 2/87-103।

भार्गव शुक्राचार्य का स्थायी आवास था। इस प्रकार अध्याय परिपूर्ण होता है।

चतुर्थ अध्याय में वज्र तथा काल के द्वारा स्वर्गलोक पर आक्रमण करने का उल्लेख है। यद्यपि कि इस आक्रमण के लिए शुक्राचार्य ने इन्हें मना किया था। इसके आक्रमण से क्षुब्ध होकर इन्द्र ने भगवान विष्णु से सहायता माँगी। भगवान विष्णु ने इन्द्र से असुर दुन्दुभी की कथा बतायी। उन्होंने बताया यह असुर भगवान शिव की पत्नी उमा को प्राप्त करना चाहता था। जिससे क्रोधित होकर भगवान शिव ने उसे जला दिया। वह जलकर राख हो गया और उसी के राख से असुर घोर की उत्पत्ति हुई। यह कुशद्वीप पर राज्य करने का अधिकारी बना और इसके विषय में यह निर्धारित हुआ कि जब यह देवी को अपनी पत्नी बनाने का प्रयास करेगा तब सिंहवाहिनी के द्वारा इसका विनाश किया जायेगा। फलतः विष्णु तथा बृहस्पति दोनों ने यह राय दिया कि इस असुर के साथ युद्ध करना व्यर्थ है। उन्होंने इस युद्ध को नेवले के साथ साँप का युद्ध बताया। इस प्रकार चतुर्थ अध्याय भी समाप्त हो जाता है।

पञ्चम अध्याय का प्रारम्भ भगवान द्वारा बृहस्पति से प्रार्थना के साथ प्रारम्भ होता है। बृहस्पति, शम्भु, उशना, विष्णु तथा बृहस्पति द्वारा प्रणीत सम्पूर्ण न्यायों के ज्ञाता हैं। अतः भगवान ने उनसे इस विषय में अपना मत प्रकट करने की प्रार्थना की। उन्होंने यह सलाह

दिया कि नारद को वज्रदण्ड तथा काल के पास दूत बनाकर भेजा जाय और उन्हे यह संवाद दिया जाय कि देवता स्वर्ग पर भी तुम्हारा आधिपत्य तब तक के लिए स्वीकार करते है जब तक कि देवी विन्ध्याचल निवासिनी तथा शिव पृथ्वी पर अवतरित होकर तुम्हारा विनाश नहीं कर देते। यह सुनाने के पश्चात् विष्णु तथा बृहस्पत ब्रह्मा के पास गये। इस प्रकार पञ्चम अध्याय पूर्णता को प्राप्त हुआ।

षष्ठ अध्याय का आरम्भ ब्रह्मा द्वारा विष्णु की स्तुति से होता है। ब्रह्मा ने कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि[1] सहित विष्णु की प्रार्थना दशवतारों के रूप में किया है। बुद्ध को गैरिक वस्त्राधारी तथा काल्कि को नग्न रूप में प्रदर्शित किया गया है। ब्रह्मा ने इनसे सहायता के लिए प्राथना की। उन्होनें स्मरण दिलाया कि शिव द्वारा प्रेषित चामुण्डा ने किस प्रकार कालाग्नि रूद्र तथा हलाहल से विष्णु की रक्षा की। उन्होंने यह भी स्मरण दिलाया कि आप यह जानते है कि चामुण्डा सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय करने में समर्थ देवी है और स्वतः तथा आपकी प्रार्थना पर चामुण्डा ने यह प्रतिज्ञा की थी कि जब कभी भी मेरी आवश्यकता होगी मैं सहायतार्थ उपस्थित हो जाऊँगी। फलश्रुति के साथ यह अध्याय समाप्त किया गया है।

सप्तम अध्याय का प्रारम्भ उस समय होता है जब ब्रह्मा विष्णु को शिव के पास जाने का आग्रह करते हैं। विष्णु ब्रह्मा को लेकर शिव के

[1] देवीपुराण, 6/6-7।

पास जाते है और उनकी भावमयी स्तुति करते हैं। वे शिव से प्रार्थना करते हैं कि घोर तथा वज्रदण्ड का विनाश करने के लिए आप प्रयत्नशील हो। शिव जिनका वामभाग शक्ति द्वारा व्याप्त है, उन्हें सान्त्वाना देते है कि इन असुरों के विनाश के लिए पराशक्ति का अवतार विन्ध्याचल पर्वत होगा और सिंह उनका वाहन होगा। उन्होंने यह भी बताया कि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव उनके दास होंगे, चारों वेद उनके द्वारपाल होंगे, अनेक कुमारी देवीयाँ उनकी सेविकाएँ होंगी।[1] तथा उनका वाहन सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के देवी देवताओं तथा नक्षत्रों से निर्मित होगा। देवी रक्षा मंत्र से अभिमंत्रित होंगी। यह शिव का मंत्र होगा जिसे विष्णु उच्चारित करेंगे। इतना कहकर शिव ने देवी को अपने वाहन के साथ विन्ध्याचल पर भेज दिया। इस अध्याय का अन्त शंकर गीता रक्षा से होता है और ब्रह्मा ने इस देवी के अवतार का निरूपण किया है।

आठवें अध्याय में वज्रदण्ड द्वारा स्वर्ग को अधिगत करने की इच्छा का अभ्युदय होता है। इसलिए नारद को कुशद्वीप भेजा जाता है जिससे वे घोर तथा उसकी पत्नी तथा उसकी प्रजा को धर्म पथ से च्युत करने का प्रयास करते हैं। नारद अपने कर्तव्य में सफल होते है क्योंकि उन्होंने उस असुर को कामाभिभूत कर यह बताने का सफल प्रयास किया है कि एक अत्यन्त सुन्दरी युवती विन्ध्यपर्वत पर है तुम उसे प्राप्त

---

[1] देवीपुराण, 7/23।

करो। इस भावना को जगाने में नारद सफल होते है साथ ही अध्याय समाप्त हो जाता है।

नवें अध्याय का शुरुआत इस संकेत के साथ होता है कि घोर धर्म पथ से च्युत होकर कामासक्त हो गया। उसकी पत्नी चन्द्रमती ने उसे आगाह किया कि राजनीतिज्ञ लोग बड़े धूर्त होते है, वे अपने कार्य के लिए विषकन्या का भी प्रयोग करते है और इससे अनेक लोग उनके जाल में फँसे और नष्ट हुए हैं उसमें जैननग्न साधु, राजकी, कैवर्ती तथा सुमेधस का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सुमेधस क्रौञ्चद्वीप का रहने वाला था। उसने पुष्कर द्वीप के ऋषिकन्या का शीलहरण किया जिससे उसे नरक जाना पड़ा। नारद ने उसकी उक्तियों को सुनकर तथा उसका प्रभाव घोर अधर्म मार्ग पर चलने से विचलित न हो जाय अतः उन्होंने "पदमाला विद्या" का प्रयोग प्रारम्भ किया। यह विद्या नन्दिकेश्वर ने शिव से प्राप्त किया था। इस विद्या के अभ्यास से जिसमें वीरव्रत धारण करना आवश्यक है, एक सौ आठ से अधिक कार्यों का सम्पादन होता है।

इस सम्बन्ध में यह कथा भी बतायी गयी है कि पदमाला विद्या को प्राप्त करने के लिए शुक्राचार्य ने शिव के शरीर में प्रवेश किया था और असफल होकर उनके लिंग के रास्ते से बाहर आये थे। इसीलिए उन्हे शुक्र कहा जाता है। इस विद्या के उच्चारण करने, हवन आदिकर

ने, महामांस के हवन का भी प्रयोग बताया गया है। इसी के साथ पदमालिनी मंत्र विद्या नामक अध्याय समाप्त हो जाता है।

दसवें अध्याय का प्रारम्भ इन्द्र के इस प्रश्न के साथ होता है कि नारद ने यह पदमालाविद्या कैसे प्राप्त की? इसके उत्तर में ब्रह्मा ने बताया कि नारद ने यह विद्या सनत्कुमार से प्राप्त की। जिसे सनत्कुमा ने नन्दिकेश्वर से प्राप्त किया था जिस योग के अभ्यास से इस विद्या की प्राप्ति में अद्भूत सहायता मिलती है। इस अध्याय में शैव योग दश परिच्छेदों में निरूपित किया गया है। प्रधान रूप से शैव योग का स्वभाव, सांख्यगत प्रकृति पुरूष का निरूपण, शैव योग के अभ्यास का समय पाल करने वाले नियम, इसके अभ्यास का प्रकार जिनमें पद्मक, स्वास्तिक, सीलिक, जालिक, पीठार्ध, चन्द्रदण्ड तथा सर्वतोभद्र आदि आसनों का निरूपण किया गया है। सभी प्रकार की भोग लिप्सा को छोड़कर शब्द ब्रह्म तथा परब्रह्म प्राप्ति को मुख्य बताया गया है। ओंकार साधना का स्वरूप तथा परिणाम, योगद्वार दर्शन, उपसर्ग जय धारण का चित्राण भी किया गया है। यह भी बताया गया है कि सिद्धि चाहने वाले योगी को ज्ञान की लिप्सा नहीं करनी चाहिए।[1] शब्द ब्रह्म का निरूपण करते हुए उसे अन्तः शरीर से प्रादुर्भूत बताया गया है।[2]

---

[1] देवीपुराण 10/1.16 अतिप्रसंगे ज्ञानेषु न कार्यः सिद्धिमिच्छता, 1/16।

[2] अन्तः शरीर प्रभव मुदान प्रेरितञ्च यत्। वागुच्चार्थ श्रोत्रवृत्ति शब्द ब्रह्म तदुच्यते देवीपुराण, 10/6/8।

इसी प्रकार धारण के विषय में उनका मत है कि मन का हृदय में स्थिर होना ही धारणा है ।[1]

एकादश अध्याय के आरम्भ में ब्रह्मा द्वारा शिव से अपराजिता तथा पदमाला विद्या की प्राप्ति बतायी गयी है । पदमाला विद्या का पृथ्वी पर प्रचार द्वैपायन व्यास ने किया था, जिन्होने इसे क्रमशः शिव, ब्रह्मा, अंगिरस, बृहस्पति, सूर्य, यम, पुरा इन्द्र, वशिष्ठ, सारस्वत, त्रिधमन, त्रिवर्ष, भरद्वाज, अन्तरिक्ष, बह्रीच, अरुण, चलज, कृत्यञ्जय तथा अन्य लोगों से प्राप्त किया था। इस सूची में शक्ति, पराशर तथा जातकर्ण का नाम भी उल्लेखनीय है इसके पश्चात अपराजिता विद्या की प्रशंसा की गयी है । इसकी प्रशंसा में एक कथा का उल्लेख है । प्राचीन काल में हुतांगी नाम का एक असुर था। उसने ब्रह्मा से वरदान प्राप्त कर लिया और शकद्वीप में रहने लगा। उसने अपने पुत्र चण्ड की सहायता से स्वर्ग पर अधिकार जमा लिया। उसे विष्णु ने पराजित किया तथा चण्ड को मार डाला। उनके इस पराक्रम के पीछे ब्रह्मा द्वारा अपराजिता विद्या के माध्यम से शिव से एक ध्वज प्राप्त करना था जिसे उन्होंने विष्णु को दिया था। जिसके अन्तर्गत दुर्गा, महादेव, विष्णु, यम, इन्द्र, अग्नि तथा और देवताओं के साथ नवग्रह का भी वास था। भौत्य मन्वन्तर में सुबल नामक एक असुर ने उस मन्वन्तर के इन्द्र को पराभूत कर दिया था। इन्द्र के विजय के लिए विष्णु ने उसे यह ध्वज प्रदान

[1] मनसो हृच्यवस्थानं धारणेत्य किधीयते । देवीपुराण, 10/10/1 ।

किया था। इसके पश्चात राजाओं द्वारा इस ध्वज के फहराने की प्रशंसा क गयी है।

द्वादश अध्याय का प्रारम्भ नृपवाहन के प्रश्न से होता है। नृपवाहन के प्रश्न से होता है। नृपवाहन जानना चाहता है कि इन्द्रध्वज बनाने की प्रक्रिया क्या है? भाद्र तथा आश्विन मास में शत ऋतु या इन्द्रध्वज महोत्सव मनाया जाता है।[1] सर्वप्रथम ध्वज बनाने के लिए धव, अर्जुन, प्रियंग, उडुम्बर, अश्वकर्ण, चन्दन, आम्र शाल याशाल का वृक्ष चुना जाता है। इससे स्तम्भ तैयार किया जाता है। इस अध्याय में इस स्तम्भ की लम्बाई और उन स्थानों की लम्बाई जिन्हे इन्द्र की पुत्रियाँ कहा जाता है, बतायी गयी है। वृक्ष काटने के पूर्व, कुछ संस्कार किये जाते है। शुभ-अशुभ स्वप्नों पर विचार किया जाता है तथा वृक्ष काटने का एक अलग विधान है। इन बातों के उल्लेख के साथ ही साथ इस बात का भी उल्लेख है कि पेड़ के गिरने की दिशा से राजा के शुभ-अशुभ का संकेत मिलता है। वृक्ष से स्तम्भ बनाने की प्रक्रिया का उल्लेख, उसे एक जुलूस के रूप में पूजा स्थल तक ले आना, जूलूस में स्त्रियों के समूह द्वारा गायन तथा ढोल पिटना, अनेक रंग के कपड़ो द्वारा स्तम्भ को ओवष्ठित करना तथा उसके लिए एक ध्वज की तैयारी करना, मशीन के द्वारा स्तम्भ को सीधा खड़ा करना, खड़ा करते समय विष्णु, शिव तथा इन्द्र के मंत्रो का उच्चारण तथा ध्वज के पूजा का

[1] स्मरणीय है कि यह परम्परा आज भी नेपाल में जीवित है।

विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। ध्वज फहराने का यह उत्सव राजा, नगर, ग्राम तथा खेट में रहने वाली उसकी प्रजा के द्वारा सम्पादित किया जाना चाहिए। अध्याय के अन्त में इस बात का भी उल्लेख है कि तभी से लेकर आज तक राजा यह ध्वज पूजा करता है और जो राजा इस विजयकारक ध्वज की पूजा करता है सम्पूर्ण पृथ्वी उसक वश में रहती है।[1]

त्रयोदश अध्याय में नारद ने पदमाला विद्या के प्रयोग से घोर तथा उसकी पत्नी को अत्यन्त अभिभूत कर दिया है। यहाँ तक उसकी पत्नी दिगम्बरों की भक्त बन जाती है और पाषण्डों के व्रत आदि अनेक धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करने लगती है। ठीक इसी समय पर्वतीय बालिका को प्राप्त करने के लिए घोर अपनी सेना के साथ प्रयाण करता है। मार्ग में उसे रक्त वस्त्रधारी पुरुष तथा अन्य अशुभ सूचक शकुन दिखायी देते हैं। नारद की बात मानकर घोर उस विन्ध्य पर्वत पर पहुँचता है। जिसको नर्मदा अभिसिंचित करती है और विद्वान ऋषि तथा बर्वर, पुलिन्द, शवर, टंक तथा कापालिक आदि म्लेच्छ जाति के लोग भी निवास करते हैं। ये सभी निषाद वेण की संतति है। ये कन्दमूल, फल खाकर जीवन व्यतीत करते हैं, वृक्षों की छाल पहनते है। अपने काले शरीर को गुञ्जा के फल, माला तथा तोते के पंख से सजाते है और अपने कमर के चारो तरफ सूखे पत्ते लपेट कर रहते है। इस पर्वत पर घोर ने देवी को एक कुमारी के रूप में देखा और उसे

---

[1] देवीपुराण, 12/60-61।

प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ा। सर्वप्रथम उसने दुर्मुख को भेजा जिसे विजय ने मार डाला। रात्रि के अन्तिम प्रहर में घोर ने अनेक भयानक स्वप्न देखे। इसी के साथ अध्याय समाप्त हो जाता है।

चतुद्रश अध्याय में असुरों के साथ देवी के युद्ध का विशद वर्णन है। इसमें देवी की सहायिकाओं, जया, विजया, अजिता तथा अपराजिता के पराक्रम का वर्णन है। इसमें जया ने काल तथा भैव आदि असुरों का संहार किया था।

पन्द्रहवें अध्याय का प्रारम्भ ब्रह्मा के कथन से होता है। इन्द्र के काल आदि असुरों के युद्ध में जया द्वारा वज्रदण्ड तथा यमान्तक का संहार दिखाया गया है।

सोलहवाँ अध्याय ब्रह्मा के कथन द्वारा प्रारम्भ किया जाता है। वे बताते हैं कि सुषेण ने घोर की बड़ी प्रशंसा की और कहा कि तुम सर्वशक्तिमान और अपराजेय शासक हो। घोर अपनी प्रशंसा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने देवी के विरुद्ध युद्ध की तैयारी की घोषणा की। इसी बीच महर्षि नारद ने देवी की स्तुति की। वह देवी यद्यपि रुद्र से प्रादुर्भूत है किन्तु वह ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव को उत्पन्न करने वाली तथा उनकी रक्षा करने वाली है। उसके अनेक नाम है जैसे - दुर्गा, शाकम्भरी, गौरी, विंध्यवासनी, कात्यायनी, कौशिकी, कैटभेश्वरी, महादेवी, महाभागा, महाश्वेता, अपर्णा, कपाला, एक पटला, सावित्री, गायत्री, लक्ष्मी, सर्वतोभद्रा, योगनिद्रा, जया, विजया, अजिता,

अपराजिता, भद्रकाली, चामुण्डा, चण्डी, चण्डिनी, पार्वती, दाक्षायणि, नारायणी, रेवती, सिंह वाहिनी, वेदमाता, सरस्वती, भोगवती, सती, सत्यवती, भीमा, धूम्रा तथा अम्बिका आदि। देवी ने प्रसन्न होकर अपना स्वरूप प्रकट किया। वे सिंह वाहिनी थी। तथा उन्होंने चर्मन, तलवार, धनुष, नाराच, शूल, खटांग वंशी तथा घण्टा आदि अपने हाथों में धारण किया था। उनका सम्पूर्ण शरीर मगर के चर्म से ढका हुआ था और उन्होंने घोर के संहार की प्रतिज्ञा की। इस प्रकार अध्याय सोलह समाप्त हो जाता है।

सप्तदश अध्याय का प्रारम्भ इन्द्र के प्रश्न से होता है। ब्रह्मा बताते है कि घोर ने सम्पूर्ण देवों को आतंकित किया था और वह देवीयों के संहार के लिए भी उद्यत था। भगवान शिव ने महादण्डक छनद में देवी की स्तुति की और उन्हे शिवक्त्रोदवा, प्रथमलक्षवृता, हेमवर्णा, श्मशान प्रिया, कुमारी, सांख्य योगो, दवा वेताली, कपालिनी, भद्रकाली, महाकाली, काली, महारुक्षघण्टाखोद्दीति, कर्णोत्सवा आदि कहा। इस छनद में देवी को ब्राह्मी, कुमारी, माहेन्द्री माहेश्वरी, वैष्णवी, वाराही, सरस्वती, अरुन्धती, जाह्नवी आदि का स्वरूप माना गया है। इनका निवास स्थान हेमकूट, महेन्द्र,हिमाद्रि, विन्ध्य, सह्य तथा श्रडि.रि पर्वतों उनकी चोटियों तथा गुफाओं में माना जाता है।

अठारहवें अध्याय में अपनी स्तुति से प्रसन्न होकर देवी ने असुरों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया है और जया ने सुषेण का वध कर दिया।

उन्नीसवें अध्याय में जयाा, अजिता तथा अपराजिता द्वारा असुरों के विनाश का प्रारम्भ वर्णित है ।

बीसवें अध्याय में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि पूर्व जन्म के कर्म तथा इस जन्म के पुरुषार्थ ही मनुष्य के भाग्य का विधान करते हैं । इस अध्याय में घोर ने महिष का रूप धारण करके देवी से युद्ध किया है । देवी ने घोर तथा उसके शरीर से उत्पन्न होने वाले अन्य असुरों का संहार किया है ।

इक्कीसवें अध्याय में महिषासुर के वध के बाद देवी के पूजा का वर्णन है । इसमें देवी को महिष तथा बकरे की बलि दी जाती है । उन्हे महिषासुर मद्रिनी कहकर उनकी प्रशंसा की जाती है तथा आश्विन शुक्ल अष्टमी तथा नवमी तिथियों को मध्यरात्रि में इन पशुओं की बलि दी जाती है । इसीलिए इन तिथियों को महाष्टमी तथा महानवमी कहते है ।

बाइसवें अध्याय का प्रारम्भ इन्द्र द्वारा देवी की पूजा सम्बन्धी जिज्ञासा के साथ होता है जिसका उत्तर ब्रह्मा ने दिया है । ब्रह्मा ने देवी के वार्षिक पूजा का विशद वर्णन किया है । सर्वप्रथम प्रतिमा निर्माण का विधान है । ये प्रतिमाएँ स्वर्ण, रजत, मृत्रिका तथा लकड़ी की हो सकती है । देवी के हाथ में कृपाण अथवा त्रिशुल का होना आवश्यक है । चारों वर्णों के लोग तथा स्त्री भी इनकी पूजा कर सकती है । अनेक विधि विधानों में विशेष प्रक्रियाएँ उल्लेखनीय है - देवी पूजा का प्रारम्भ आश्विन शुक्ल प्रतिपद से किया जाना चाहिए। प्रतिदिन होम,

शिवपूजा तथा कुमारी भोजन का क्रम रखना चाहिए। देवी पूजा के लिए नव गृहों का निर्माण किया जाना चाहिए जिसमें एक का निर्माण अत्यन्त आवश्यक है। अष्टमी के दिन व्रत रख कर पशुबलि देनी चाहिए। चाल के आटे से निर्मित शत्रु प्रतिमा का अवच्छेदन कर देना चाहिए तथा महानवमी तिथि को रथयात्रा निकालनी चाहिए।

त्रयोविंश अध्याय में आश्विन शुक्ल प्रतिपद से लेकर नवमी तक की गयी देवी की पूजा के फलों का विस्तृत वर्णन किया गया है साथ ही यह बताया गया हे कि देवीध्वज का निर्माण करना चाहिए जिस पर सिंहवाहिनी देवी के साथ ही बन्दर, बैल, हंस, मोर, गरुड़, महिष, गज, कमल अथवा मृतक के शरीर का चित्रण होना चाहिए।

चौबीसवें अध्याय में विभिन्न प्रकार के संक्रान्तियों के निर्णय का विधान ह, जैसे - मन्दा, मन्दाकिनी आदि। इनके साथ ही इनके धार्मिक महत्व का भी विवेचन है। इस अध्याय में यह भी बताया गया है कि चारों वर्णों के साथ ही चोरों, दुष्टों, चाण्डालों, पुक्कासों, पिशाच, नट, नर्तक तथा अन्य लोगों के लिए संक्रान्ति शुभकारिणी होती है।

पच्चीसवें अध्याय में बसुधारा दान की प्रशंसा की गयी है। वसु का अभिप्राय घी से है तथा धारा का अभिप्राय प्रवाह से है। यह कार्य नित्य, पाक्षिक, मासिक अथवा लम्बे व्यवधान के बाद भी किया जा सकता है।

छबबीसवें अध्याय में वसुधारा दान की प्रक्रिया बतायी गयी है। यज्ञकुण्ड का निर्माण करना सर्वप्रथम आवश्यक है, उसके चारों ओर मेखला बनानी चाहिए। विभिन्न प्रकार के सामग्रीयों का निर्माण भी आवश्यक जैसे - घी रखने का स्वर्ण, रजत तथा पीतल का पात्र। इसके अतिरिक्त स्रुवा जिसमें छिद्र हो, आदि-2। नवग्रहों को उद्देश्य करके हवन करना चाहिए। अथर्ववेद में निद्रिष्ट मूलमंत्र, हृदयमंत्र तथा अस्त्रमंत्र आदि का उच्चारण करते हुए दशलोक पालों तथा मातृकाओं के नाम से हवन करना चाहिए। इसके पश्चात अग्नि, ब्राह्मण भोजन, नट, नर्तक, वेश्या, कुमारियाँ, विधवायें दरिद्र लोग तथा अन्य लोगों के विषय में प्रशंसा परक स्तुतियाँ की जानी चाहिए।

अध्याय सत्ताइस में इस बात का निर्देश है कि हुताग्नि के रंग, स्वर, गन्ध तथा सामान्य रूप से यज्ञकर्ता के अच्छे या बुरे कर्मों का ज्ञान हो जाता है। इसी हवन के विभिन्न सामग्रीयों का तथा उनके प्रयोग से होने वाले फलों का वर्णन किया गया है। इसमें यह भी प्रतिपादित है कि यज्ञकर्ता को पाषण्ड, विकलांग आदि लोगों से पूजा के मध्य बात नहीं करनी चाहिए। इसके पश्चात वसुधारा के विभिन्न अवसरों का उल्लेख किया गया है जिसमें आश्विन महाष्टमी, आश्विन महानवमी, कार्तिकी पूर्णिमा, स्कन्दषष्ठी, शक्रध्वजोत्सव, पुष्य स्नान आदि का उल्लेख है।

अट्ठाइसवें अध्याय में देवी के पूजा स्थलों का उल्लेख हे जिनमें प्रासाद, चारागाह, पर्वत आदि का उल्लेख किया गया है। इसमें यह भी बताया गया है कि देवी महात्म्य का पाठ करने वाले तथा देवी भक्त ब्रह्मणों को स्वर्ण तथा वस्त्र आदि का दान तथा कुमारी भोजन भी कराना चाहिए। ये सारे कृत्य देवीव्रत, वसुधारा दान तथा ध्वजोच्चिय आदि में करना चाहिए।

उन्तीसवें अध्याय में दृश्य जगत् देवताओं, विद्याओं, मंत्रों, तन्त्रों तथा मुद्राओं आदि की मूल उत्पत्ति के विषय में चर्चा की गयी है जिसमें यह कहा गया है कि इनकी उत्पत्ति देवी से ही होती है जिसकी उत्पत्ति पराशक्ति से ही होती है।

तीसवें अध्याय में पत्थर, सुवर्ण, रजत, ताँबा, मिट्टी, मोती आदि की बनी हुई देवी प्रतिमाओं की पूजा से होने फलों का विशद वर्णन है साथ ही अध्याय समाप्त हो जाता है।

एकतीसवें अध्याय में देवी की रथयात्रा का वर्णन है। इसमें देवी की विभिन्न नामों से पूजा की जाती है जैसे - दुर्गा, कात्यायनी, विंध्यवासिनी आदि। इस अवसर पर महिलाएँ रथ के पीछे-2 मंगल गीत गाती हुई चलती हैं। वे रथ पर फूल, दूर्वा, अक्षत आदि फेंकती चलती हैं। देवी के रथयात्रा के अवसर पर सामान्य रूप से सौहाद्र देखा जाता है।

अध्याय बत्तीस के विभिन्न अवसरों पर तथा विभिन्न स्थानों पर की गयी देवी के पूजा के फलों का विस्तृत वर्णन है यथा - नदी के तट पर, दुर्ग में तथा चिता आदि स्थलों में। ऐसा माना जाता है कि गंगा नर्मदा, विंध्य पर्वत, उज्जयिनी, अरबूद, हिमालय, निषध तथा द्रोण पर्वतों पर देवी का नित्य निवास माना जाता है। इसी में देवी की प्रतिमाओं के निर्माण का भी वर्णन है, जिनमें उनकी दश, दो तथा अट्ठाइस भुजाओं का समावेश बताया गया है तथा उनहे सिंहवाहिनी के रूप में चित्रित किया गया है। इन मूर्तियों में देवी को सर्पो से धिरा हुआ दिखाया जाना चाहिए तथा महिषासुर के कटे सिर से असुर को निकलता हुआ चित्रित किया जाना चाहिए जो देशीशास्त्र में निष्णात हों तथा मातृमण्डल, भूततंत्र, ग्रह, व्याल तथा गरुड़ विद्या को अच्छी तरह से जानते हों।

तैतीसवें अध्याय में शुक्र द्वारा भगवान शंकर की स्तुति की गयी है। भगवान शंकर कैलाश पर विराजमान है और उनकी विभिन्न प्रकार की पूजाओं तथा स्तुतियों का स्वरूप बताते हुए शुक्र ने यह भी बताया है कि शिव से ज्ञान केसे प्राप्त किया जाता है। इसी में शैवमत के अनुसार, भ्रमणशील साधुओं की दीक्षा का तथा उनके नित्य र्यिम का प्रतिपादन किया गया है। इसमें भगवान शिव के द्वारा प्रत्येक मास के शुक्लाष्टमी तिथि को देवी व्रत या दुर्गाव्रत का विधान बताया गया है। इस व्रत का आरम्भ श्रावण मास के शुरु किया जाना चाहिए। इस व्रत का विधान तंत्रो से प्राप्त है। इसमें देवी के प्रतिमा को स्नान कराकर

उसके विभिन्न नामों से पूजा की जाती है जैसे - कात्यायनी, उमा, नारायणी, जया, विजया, आदि। इन्हें विभिन्न प्रकार के नैवेद्य तथा गन्ध समप्रित किये जाते है, जिनमें तुरुष्क धूज के जलाने का विधान है। इसके पश्चात कुमारीयों तथा ब्राह्मणों के भोजन की व्यवस्था दी गयी है। यह स्पष्ट निर्देश है कि पूजा करने वाले याजक को पाषण्डों से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। श्लोक चार में यह बताया गया है कि इस अवसर पर पुष्पदन्त द्वारा प्रणीत श्लोक का सस्वर पाठ किया जाना चाहिए।[1] श्लोक 15 तथा 19 में महिलाओं द्वारा इस अवसर पर चीनांशुक वस्त्र धारण करने का विधान है।

चौतीसवें अध्याय में यह बताया गया है कि जिस घर में देवी की पूजा करनी हो उसको साफ - स्वच्छ करके अच्छी तरह सजाना चाहिए। वहाँ देवी शास्त्र में पारंगत ब्राह्मण का सम्मान करना चाहिए। इस अवसर पर कैवर्त की कथा कहनी चाहिए जिसे ध्वज दान से सफलता प्राप्त हुई थी। उसने विध्ंय पर्वत पर देवी मन्दिर में प्रवेश के पूर्व मछली मारने वाले जाल को एक वृक्ष से लटका दिया था।

पैंतीसवाँ अध्याय ध्वजा को बनाने तथा देवी - मन्दिर को सजाने का विधान वर्णित है। इसी में यह भी प्रतिपादित है कि देवी पूजा तथा ब्राह्मण और कुमारीयों को भोजन कराना चाहिए।

---

[1] देवीपुराण, 33/4।

छततीसवें अध्याय में शुक्र के आग्रह से भगवान शिव ने देवी के स्त्रोत का पाठ किया है जिसके अन्तर्गत देवी को नाद बिन्दु स्वरूपिणी, शिवशक्ति पर स्वरूपिणि आदि नामों से अभिहित किया गया है।

सैतीसवें अध्याय में देवी के विभिन्न नामों का कारण बताया गया है, जैसे - गौरी, नारायणी, दुर्गा, कात्यायनी, रौद्री, विंध्यवासिनी, जयन्ती, अजिता, विजया, अपराजिता महिषघ्नी, काली, कपाली, कपालिनी, चामुण्डा, नन्दा, कौशिकी कैटभेश्वरी, महाश्वेता, महाभागा, भवानी, भवानी, ज्येष्ठा, ब्रह्मचाणिनी, अपर्णा, एकपर्णा, पाटला, तारा, वामा चिति, रेवती, एकांशा, लक्ष्मी, काण्डवारिणी, माया, गंगा, यमुना, रजनी, हिंसा, बला, शंकुवेणी आदि। देवी यद्यपि एक है किन्तु गुणों के कारण इनके नाम अनेक हैं।

अध्याय अड़तीस में देवी के विभिन्न स्थानों पर पूजे जाने वाले विभिन्न स्वरूपों का वर्णन है, जैसे - मंगला के रूप में देवी की पूजा विंध्य तथा मलय पर्वत के बीच के मार्ग में होती है। जयन्ती की पूजा विंध्य तथा कुरुक्षेत्र के मध्य समुद्र तट पर होती है। नन्दा की पूजा कुरुक्षेत्र तथा हिमालय क मध्य में होती है। कालिका, तारा और उमा की पूजा पर्वतों में होती है। भैरवी की पूजा किकिन्धा, रुद्राणी की पूजा कुशस्थली, भद्रकाली की पूजा जलन्धर, महालक्ष्मी की पूजा कोल पर्वत पर, कालरात्रि कीपूजा सह्य पर्वत पर, अम्बिका की पूजा

गन्धमाद्रन पर, उज्जेनी की पूजा उज्जयिनी में तथा भद्रकालिका की पूजा वैदेह में होती है।

उनतालिसवें अध्याय में देवी के प्राकटय द्वारा प्रवित्र हुए विभिन्न स्थलों के पूजा का वर्णन है। देव, ऋषि तथा राजा आदि इन स्थलों की विशेष पूजा करते थे। राजाओं में जामदग्नेय, भौम का पुत्र, विभिषण तथा राजसेन का नाम उल्लेखनीय है। स्थानों में पुष्कर, हिमालय, नैमिष, मलय पर्वत, किष्किन्धा पर्वत, काशिकाश्रम, वेद पर्वत, कामाख्या गिरिकन्दर, सरस्वती तटा, पूर्व सिन्धु, लंका, कैलाश, कण्वाश्रम, धर्मारण्य, महाकाल, कोटितीर्थ, भद्रवट, कावेरी संगम, गोकर्ण, दण्डक संगम, गण्डकी संगम, महाशोण, महोदय, मुण्डीपीठ, मलय पर्वत, शाकद्वीप, कुशद्वीप तथा कौञ्चद्वीप आदि। भगवती के मंत्रशक्ति की भी प्रशसा की गयी है। इसमें असुर 'बल' की कथा का उल्लेख है। उसने सभी को आतंकित कर रखा था। विष्णु ने शिव से मोहिनी विद्या प्राप्त कर उसे अभिभूत किया था और उसने (बल) ने देवताओं के यज्ञ के लिए अपने को समप्रित कर दिया था। इसके पश्चात 'सुबल' नाम असुर तथा दुन्दुभि आदि अन्य असुरों का संहार परमाशक्ति के द्वारा किया गया है। इस शक्ति को महाविद्याा भी कहते है। इन्होंने अत्यन्त वृद्धा का स्वरूप धारण कर तथा अष्ट विद्याओं से समन्वित होकर उसका संहार किया था। उस समय इनका नाम संमांकिनी था। ऐसा कहा जाता है कि ये विद्यायें शत भागों में विभक्त हुई, जिसे राजाओं तथा स्त्रियों ने दक्षिणचारमार्ग से तथा पुलिन तथा शवर आदि जातियों

ने वामाचारमार्ग से इनका पूजन किया। मुख्य रूप से ये देवियां वैश्याओं, चरवाहिनों, तुड्ड, हूण, खश, हिमवतपीठ, जालन्धर, विदिशा, महोदय, वरेन्द्र, राधा, कोशल, भट्टोदेश, कामाख्या, किष्किन्धा, मलय, कोलु, काञ्ची, हस्तिनापुर तथा उज्जयिनी में प्रसिद्ध है। इन्हे मछली, मांस, मदिरा का नैवेद्य चढ़ाया जाता है। क्षेमांकरी की इस पूजा में दमनी, पदमाला, श्रृघोष वज्रशासना तथा प्रत्यंगिरा देवी का नाम लिया जाता है। इसकी पूजा के लिए नैष्ठिक ब्रह्मचारी पुजारी नहीं होता। इस देवी की पूजा कुलमार्ग से की जाती है। इसमें स्वयं को अपनी पत्नी को तथा सम्पूर्ण अपनी सम्पत्ति को देवी की प्रतिमा को प्रतिष्ठित करने वाले को समप्रित किया जाता है। इसमें चौसठ विद्याओं की प्रशंसा की गयी है।

चालीसवें तथा इकतालिसवें अध्याय में महाधर्मासुरा द्वारा देवताओं के साथ युद्ध का वर्णन किया गया है तथा ब्रह्मा के आह्वान पर देवी का अवतरण और उनके द्वारा (देवी के द्वारा) इस महासुर का नाश दिखलाया गया है।

बयालिसवें अध्याय में देवताओं ने देवी का प्रशस्ति गान किया है और उन स्थानों तथा नामों की चर्चा की है, जहाँ उनका सतत निवास रहता है जैसे - जबन्धपीठ, मलय, सह्य, विंध्य, हिमालयय, चित्र गोप, नारकाल, निचाक्ष पर्वत, लंका, उड्रदेश, स्त्रिराज्य, काशिकावन, कामरूप, काञ्ची, चम्पा, वैदिश, वरेन्द्र, उड्डियान, मनाक्ष, कुशस्थल, चोल,

सिंहल, वेणुदण्ड, कान्यकुब्ज, नवदुर्गास्थल आदि। वैदिश में देवी का स्थान मध्य में है और वे सिंहवाहिनी है। उर्ध्वजयावहा महाकाली के नाम से इनकी ख्याति है। जम्बुकनाथ में ये भद्रकाली के नाम से विख्यात है।

अध्याय तैंतालिस मे पुष्पाख्य विद्या का उल्लेख तथा उसकी प्रशंसा की गयी है। इसमें अमयासुर की कथा वर्णित है। यह असुर गजानन की प्रेयसी सुमति के शारीरिक सौन्दर्य से मुग्ध हो गया था। इसीलिए गजानन ने उसे अपने मित्र परशुराम की सहायता से मार डाला। इस अध्याय में तैंतालिस प्रकार के व्यूहों का उल्लेख है। इस क्रम में गजानन ने परशुराम की सेना का व्यूहन किया था।[1]

चौवालिसवें अध्याय में गजानन अपने निवास स्थान मालव्य पर्वत पर चला जाता है और परशुराम अयोध्या में कालिका की स्थापना करते हैं। इसमें महोदय में नव दुर्गा की पूजा के फल का वर्णन किया गया है इसके साथ ही अन्य रूपों में, अन्य स्थानों पर वर्णित देवियों के पूजा का फल भी प्रतिपादित है, जैसे - देवियों में कामिका, तारा, अम्बिका, विंध्यावती तथा स्थानों में मलय पर्वत, मन्दाक्ष पर्वत, चन्द्र पर्वत तथा किष्किन्धा पर्वत आदि।

---

[1] देवीपुराण, 43/22-24।

अध्याय पैंतालिस में स्कन्द, भानु, विष्णु, उमा, विनायक तथा अन्य देवों और ग्रहों की पूजा का शुभ दिन तथा मुहूर्त प्रतिपादित है। इसी अध्याय में इनके प्रति बलि तथा पूजा के फलों का वर्णन है।

छियालिसवें अध्याय में देवी से अखिल ब्रह्माण्ड तथा देवताओं के उत्पत्ति का विशद वर्णन है। इनमें एकादश रूद्र, द्वादश आदित्य, अष्ट वसु, दो अश्विन, दस विश्वेदेव, चौदह मनु, चौदह इन्द्र, सात मरुत, तीन अग्नि, पाँच प्रकार के वर्ष, साठ प्रकार के संवत्सर आदि के नामों का विस्तृत वर्णन है। ज्योतिषशास्त्र का भी अध्याय के अन्त में उल्लेख है। कूर्म विभाग के अनुसार विभिन्न ग्रहों का स्वभाव तथा उनके भारत के विभिन्न भागों पर पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन है। इस सम्बन्ध में कूर्म विभाग से सम्बन्धित तीर भक्ति, अंग, बंग, समतट, वर्द्धमान, कामरूप, नेपाल आदि नाम उल्लखित है और नर्मदा को पृथ्वी का मध्य भाग माना गया है।

सैतालिसवें अध्याय में काल को त्रुटि तथा दिन आदि के रूप में विभक्त दिखाया गया है। इनमें ग्रहों के नाम, उनका वर्गीकरण बताते हुए मण्डल ग्रह (सूर्य और चन्द्रमा), छायाग्रह (राहु) तथा ताराग्रह, नक्षत्रों तथा ग्रहों का विसतार उनके कुल का वर्णन तथा उनका अन्य वस्तुओं से सम्बन्ध बताया गया है। इनमें साता लोकों का विवरण, उनके अभिमानी देवताओं के साथ विवरण उपलब्ध है। इन लोकों के स्थिति का विस्तृत वर्णन है।

अड़तालिसवें अध्याय में राका तथा अनुमति नामक दो पूर्णिमाओं का विचार किया गया है। इसी में सिनीवाली तथा कुहु नाम दो अमावस्याओं का भी वर्णन है। इसमें चन्द्रमा का वर्णन है जिसकी पन्द्रह कलाएँ अमावस्या के दिन देव तथा पितर खा जाते हैं।

उन्चासवें अध्याय में सूर्यग्रहण तथा चन्द्रग्रहण का उल्लेख है।इसका कारण राहु को बताया गया है जो चन्द्रमा तथा पृथ्वी की छाया के रूप में वर्णित है।

पचासवं अध्याय में देवी के साठ स्वरूपों का तीन भागों में वर्णन है। प्रथम खण्ड में स्वास्तिक स्वरूपों का वर्णन है जैसे - मंगला, विजया, भद्र, शिवा, शान्ति, धृति, क्षमा, ऋद्धि, वृद्धि, उन्नति, सिद्धि, तुष्टि, पुष्टि, श्री, उमा, दीप्ति, कान्ति, यक्षा, लक्ष्मी तथा ईश्वर। दूसरे में राजस् स्वरूप का वर्णन है जैसे - ब्राह्मी, जयावती, शक्ति, अजिता, अपराजिता, जयन्ती, मानसी, माया, दीति, श्वेता, विमोहिनी, शरण्या कौशिकी, गौरी, विमला, रति, लालसा, अरुन्धती, क्रिया और दुर्गा। इसी प्रकार तीसरे खण्ड में तामस स्वरूप का वर्णन है जिनके नाम अधोलिखित है - काली, रौद्री, कपाली, घण्टाकर्णा, मयूरिका, बहुरूप, सुरूपा, त्रिनेत्रा, रिपुहा अम्बिका, माहेश्वरी, कुमारी वैष्णवी, सुरपूजिता, वैवस्वती, घोरा, कराली, विकटा, अदिति और चर्चिका।

इसी में विभिन्न स्थानों पर तथा स्वगृह में पूजे जाने वाली महादेवी की प्रतिमाओं के माप का उल्लेख है। स्वर्ग रजत तथा ताम्र

प्रतिमाओं के बनवाने से विशेष पुण्य प्राप्त होता है इसका भी उल्लेख है। इसके पश्चात देवी के मन्दिर के निर्माण के विषय में कुछ निर्देश उल्लिखित है जैसे - मन्दिर को सजाना, उसमें चित्रकारी करना, ध्वजारोपण आदि। यहीं देवी की प्रतिमा प्रतिष्ठा तथा देवी के पूजा आदि का भी वर्णन है। उपर्युक्त साठ प्रकार के देवियाँ के प्रतिमाओं का विशद वर्णन करते हुए यह बताया गया है कि कौन सी देवी किस वर्ष में और किस रूप में पूजी जानी चाहिए।

यहीं पर गणेश, मातृकाएँ, आठ विद्यायें, षड्ऋतुएँ, एकादश रूद्र, कुष्माण्डा, जो मनुष्य के शव पर विराजमान है तथा 'वरवरा' आदि देवियों के पूजा तथा प्रतिमा का विधान बताया गया है। यही सूर्य की पूजा, मण्डल तथा प्रतिमा निर्माण का विधान भी वर्णित है। यह भी उल्लेख सूर्य है कि किन-2 राशियों में, किन-2 सामग्रियों से पूजा की जायेगी तथा प्रतिमाएँ बनेगी। देवताओं के प्रतीक चिन्हों का उल्लेख है। शिव, दुर्गा, सूर्य, गणेश, ब्रह्मा तथा हरि के मण्डलों में पूजे जाने का विधान है। पूजा के मध्य घण्टा बजाने का उल्लेख है तथा इसी में देवी पूजा तथा होम का भी विधान वर्णित है। साथ ही अध्याय भी समाप्त हो जाता है।

इक्यावन अध्याय में यह प्रतिपादित है कि एक व्यक्ति जो देवी शास्त्र में पारंतगत है तथा जिसे मातृमण्डल का ज्ञान है किन्तु जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी नहीं है वह भी देवी के पूजा करने का अधिकारी है।

इसमें जाति का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कोई भी हो सकता है। देवी के पूजारी को शिव सिद्धान्त के अनुसार शिव की पूजा करनी चाहिए। माथरोक्त विधि से सूर्य की पूजा करनी चाहिए। तथा वैदिक विधि से ब्रह्मा और विष्णु कीपूजा करनी चाहिए। इसी अध्याय में पूजा के लिए आवश्यक पात्रों के निर्माण के विषय में भी बताया गा है। यहाँ इनके निर्माण का फल भी प्रतिपादित है। ये पात्र स्वर्ण, रजत्, ताम्र टिन, शीशा, लोहा तथा पत्थर और लकड़ी के हो सकते है। विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न द्रव्यों के पात्र प्रयोग में लाये जाते है।

बावन से चौवन अध्याय तक ग्रह पूजा तथा मण्डलों में मातृका पूजान का विधान बताया गया है। ये पूजाएँ वर्ष भर विभिन्न मासों में की जाती हैं।

पचपनवें अध्याय में विभिन्न प्रकार के उत्पातों का वर्णन है जैसे - दिव्य, आन्तरिक्ष और भौम और उनके दुष्प्रभावों को रोकने के लिए विभिन्न प्रकार के पूजाओं का उल्लेख है जैसे - मातृ का पूजा, ग्रह पूजा, सूर्य पूजा लक्षहोम, कोटिहोम, दान, ब्राह्मणादि भोजन आदि।

छपपनवें अध्याय में हवन करने का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है।

सत्तावनवें अध्याय में देवी के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन है जिनकी विधि पूर्वक मातृकाओं, कार्तिक, गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, लोकपाल आदि देवताओं के साथ पूजा करने पर तात्कालिक फल प्राप्त होता है। इसी में देवी तथा शिव के एकत्व का भी प्रदर्शन है।

अठावनवें अध्याय में राजा भाग्य का उल्लेख है जिन्होंने भाग्य द्वादशी तिथि को हरि-हर तथा उमा-महेश्वर की प्रतिमा बनाकर पूजा करके सुरोत्तम कल्प में महाभाग्यशाली व्यक्ति बना।

उनसठवें अध्याय में विभिन्न मासों में होने वाली देवी की पूजा के फलों का विस्तृत उल्लेख है। इसी में ब्रह्मा, अग्नि, उमा, गणेश, नाग, स्कन्द, सूर्य, मातृकाएँ, यम, शिव, विष्णु, काम, रूद्र, इन्द्र आदि की पूजा श्रावण में तथा देवी पूजा तथा देवी रथयात्रा अश्विन शुक्लाष्टमी को, दीपदान, गजाश्वादि नीराजन कार्तिक कृष्ण चतुद्रशी तथा अमावस्या को और फाल्गुन में चण्डिका की पूजा आदि का विशद वर्णन किया गया है।

साठवें अध्याय में वृषोत्सर्ग, गो विवाह, तथा साथ-साथ की जाने वाली पूजा के स्वरूपों का वर्णन है। इसी में प्राचीन मन्दिरों का जिर्णोद्धार उमा-शंकर, हरि-हर, अर्द्धनारीश्वर तथा त्रिमूर्ति की पूजा से उत्पन्न होने वाले पुण्यों का वर्णन है।

इकसठवें अध्याय में ब्रह्मा, उमा, शिव, अग्नि, देवी तथा शंकर को झूले में रखकर इनकी पूजा उपयुक्त तिथियों पर साटोप करने से उत्पन्न होने वाले पुण्य फलों का विस्तृत निरूपण किया गया है। इनके साथ ही गणेश, नाग, स्कन्द, भाष्कर, मातृकाओं, देवी महिष मद्रिनी, धर्मराज, वृष, विष्णु, कामदेव-रति, शिव तथा इन्द्र और शची की पूजाओं तथा उनसे प्राप्त होने वाले फलों का उल्लेख है। उपयुक्त तिथियों का भी इसमें निर्देश है।

अध्याय बासठ में वर्ष के विभिन्न मासों में विभिन्न प्रकार के पुष्पों से शिव की पूजा तथा उससे प्राप्त फल का विवरण है।

तिरसठवें अध्याय में अड़सठ विभिन्न पुण्य स्थलों का उल्लेख है, जहाँ शिव अपने अड़सठ नामों के साथ सदा विराजमान रहते है। उदाहरण स्वरूप पुष्कर, उज्जयिनी, गोकर्ण, रूद्रमहालय, देवदारुवन, तुरण्ड, सुकलान्त, एकाग्र, दीप्तचक्रेश्वर, काश्मीर, नेपाल, गंगासागर आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

अध्याय चौंसठ में गोरत्न व्रत का उल्लेख है। इस व्रत में गाय तथा बैलों को सजाकर शिव के भक्तों को अप्रित किया जाता है। यह कार्य तब किया जाता है जब वे (भक्त) शिव और उमा की पूजा कर चुके हों।

पैसठवें अध्याय में शुक्ल तृतीया तिथि को शिव तथा उमा की पूजा का विधान बताया गया है। इस तिथि पर कपड़ों के दो टुकड़ों पर गोरोचन तथा केशर से शिव तथा उमा की प्रतिमाएँ बनायी जाती हैं। प्रतिपद नवमी व्रत तथा गुग्गुल व्रत में देवी के पूजा के विधान का भी उल्लेख है। इसके अतिरिक्त राजाओं के लिए विहित पुष्य स्नान, उसके लिए हिमालय, सह्य पर्वत, विंध्याचल, समुद्र तट जहाँ जलपोत सुरक्षापूर्वक रह सके आदि, उपयुक्त स्थानों का चुनाव, भले-बुरे स्वपनों का विवरण, विहित रूप से पद्म मण्डल के निर्माण का विवरण, विभिन्न देवताओं की उन मण्डलों में स्थापना तथा विभिन्न देवताओं के पूजा के साथ ही पिशाच, असुर तथा राक्षसों के भी पूजा का भी विधान है। इनकी पूजा में माँस तथा मदिरा का भी विधान बताया गया है।

छियासठवें अध्याय में भी पुष्य स्नान विधि का वर्णन प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में इस बात का उल्लेख है कि समुद्र मन्थन के समय प्रयुक्त घड़े का मूल क्या था? नव प्रकार के घटों का उल्लेख किया गया है जो राजा के स्नान के लिए प्रयोग में लाया जाता था यह मान्यता थी कि इसमें सात समुद्र तथा सात द्वीपों के साथ ही साथ सभी ग्रहों, नक्षत्रों, सभी कुल पर्वतों, गंगा, सरस्वती, सुभगा, सिन्धु आदि पवित्र नदियों, एकहंस पुण्डरीक गंगा सागर सभी पवित्र स्थानों, इन घंटों के अभिमानी देवों का नाम तथा इनके विभिन्न दिशाओं में स्थानों पर रखने का विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है।

सड़सठवें अध्याय में भी पुष्य स्नान के ही विधि का विधान बताया गया है। इसके अन्तर्गत कुम्भों में पवित्र वस्तुओं को छोड़ना, सिंहासन को सजाना, राजकिय अतिथियों के लिए बिस्तर आदि की व्यवस्था करना, ब्राह्मणों द्वारा राजा को स्नान कराना विभिन्न देवताओं की पूजा के साथ ही साथ मातृकाओं की पूजा करना ब्राह्मण आदि को दान देना तथा कैदियों को मुक्त करने का भी विधान वर्णित है।

अड़सठवें अध्याय में विभिन्न कामनाओं की पूर्ति के लिए स्थान विशेषों पर स्नान करना विहित है, जैसे - औरतों के बाँझपन को दूर करने के लिए स्नान। मंत्रो के सिद्धि के योग्य स्थानों का भी उल्लेख किया गया है। इसी अध्याय में मण्डल निर्माण के लिए उपयुक्त स्थान का उल्लेख है।

उनहत्तरवें अध्याय में राजा द्वारा विघ्न-विनाश के लिए विनायक याग का उल्लेख किया गया है। इस भाग से दुःस्वप्नों के प्रभाव का निराकरण किया जाता है। इस गण याग में सूर्य तथा अम्बिका के पूजा का भी विधान है।

अध्याय सत्तर में रक्षामंत्र की विधि बतायी गयी है। इसे विनायक कवच कहते हैं। इसके धारण करने से प्राप्त करने वाले फलों का भी विधान बताया गया है। इसका निर्माण स्वर्ण रजत, कपड़े के टुकड़े अथवा भूर्जपत्र पर किया जाता है। इन पर मण्डल का निर्माण कर पूजोपरान्त धारण किया जाता है।

इकहत्तरवें अध्याय में बीज के साथ रक्षा की शक्ति का उल्लेख है। किसी देवता विशेष के बीज को बरगद के पटरे पर या ताम्रपत्र पर लिखकर उसे विशेष प्रकार के रंगवाले पुष्प से अभ्यर्चित कर धारण करना चाहिए। इस अध्याय के अन्तिम श्लोक में चतुर्व्यूह के साथ मधुसूदन का भी उल्लेख है।[1]

बहत्तरवें अध्याय में दुर्ग निर्माण का विधान प्रतिपादित है। यह उल्लेख है कि सर्वप्रथम ब्रह्मा के निद्रेश में विश्वकर्मा ने एक दुर्ग का निर्माण किया था। इसके पश्चात् दुर्ग के निर्माण हेतु उपयुक्त भूमि, विभिन्न प्रकार के मापों का पारस्परिक समन्वय जिससे दूरी का निर्णय किया जा सके, जैसे - त्रसरेणु, लिक्षा, राजसर्षप, गौरसर्षप, यव, अंगुली, प्रादेश, ताल, गोकर्ण, वितस्ति, अरति, हस्त, किष्कु, धनुष, दण्ड, नालिका, युग, क्रोष, गव्युटि, योजन आदि। इसके पश्चात खाई, परिखा, झाड़ियां आदि विभिन्न प्रकार के दुर्ग के सुरक्षा की सामग्रियों का भी उल्लेख है। यही विभिन्न प्रकार के दुर्गों का भी वर्णन है, जो पार्वत या गिरि दुर्ग, औदक या जलदुर्ग, धान्वन या मरु दुर्ग, वनज या वन दुर्ग, पुनः इन चार प्रकार के दुर्गों के दो-2 विभाग और उपलब्ध होते हैं - 1. गुहा दुर्ग और प्रान्तर दुर्ग, 2. नदी दुर्ग या अन्तर द्वीप दुर्ग तथा स्थल दुर्ग, 3. निरुदक दुर्ग तथा ईरिण दुर्ग, 4. खंजन दुर्ग तथा स्तम्ब गहन दुर्ग। राजा के लिए इनके तुनात्मक महत्व का प्रतिपादन है। इन दुर्गों के रख-रखाव तथा व्यवस्था का उल्लेख है।

[1] चतुर्व्यूह सभायुक्तः पूजितो मधुसूदनः। देवीपुराण 71/10।

दुर्ग में पर्यापत भोजन-सामग्री, अस्त्र-शस्त्र तथा यंत्रों का समुचित ढंग से स्थापन। दुर्ग की सुरक्षा का प्रबन्ध, लोगों के दुर्ग में प्रवेश पर नियंत्रण, वैद्य, बढ़ई, ज्योतिषि, विषविद्या, भूतविद्या, गारुणिक आदि विद्याओं के लोगों की दुर्ग में व्यवस्था तथा गोपुर बनाने का विधान बताया गया है जिसके दोनों ओर देवी महिषासुर मद्रिनी, गणेश, कुबेर या ब्रह्मा के मूर्तियों के स्थापना का विधान है। गणेश आदि की मूर्तियों का नामकरण देवी के नाम से सम्बद्ध होना चाहिए।

नगर-निर्माण, उसका आकर, जैसे - गोल, चौकोर, त्रिभुजाकार तथा आयताकार आदि हो। प्रत्येक पुर का नाम उसके विस्तार के आधार पर रखा जाना चाहिए जैसे - ऐन्द्र, वैष्णव, शांकर, ब्राह्म तथा सार्वभौमिक। राजा के निवास की दिश के साथ ही साथ चारों वर्णों के लोगों के निवास योग्य स्थान तथा घर का उल्लेख। निम्न जाति के लोगों का घर नगर के बाहर होना चाहिए जिससे वर्णसांकर्य रोका जा सके। यहीं पर विभिन्न प्रकार के नगरों का भी उल्लेख है जैसे - सर्वतोभद्र, रुचक, स्वास्तिक, छिन्नकर्ण, विनाश, दुस्थित, कृश तथा दुर्बल। गाँव तथा खेट के माप की स्थिति का भी वर्णन के साथ ही साथ राजमार्ग के विभिन्न प्रकारों, मापों तथा नामों का उल्लेख है जैसे - सीमामार्ग, राजपथ, शाखारथ्या उपरथ्या, अपरथ्या तथा जंघापथ।

अध्याय तिहत्तर में अधो दुर्ग तथा कृत्रिम दुर्ग के बनाने का उल्लेख है, जिन्हे मिलाकर विजयाख्यपुर का निर्माण किया जाता है।

इस प्रकार के दुर्गों में विभिन्न वर्णों के लोगों का आवास कहाँ और कैसे होगा इसका उल्लेख है। शूद्र, नट, वेश्या पुत्र आदि को कभी दुर्ग का संरक्षक नहीं नियुक्त किया जाना चाहिए। दुर्ग बनाने के लिए शुभमुहूर्त का निश्चच करना आवश्यक है। इस अवसर पर शिव, दुर्गा, मातृकाएँ, ग्रह, विनायक, आदि के पूजा का विधान है।

चौहत्तरवे अध्याय में ग्रहण आदि अवसरों पर पवित्र माने जाने वाले नदियों, पर्वतों तथा वनों का उल्लेख किया गया है।

अध्याय पचहत्तर में उन पवित्र स्थानों, पर्वतों तथा नदियों का उल्लेख है, जहाँ नदियों का उल्लेख है, जहाँ धाराहोम करने से अत्यधिक पुण्य उत्पन्न होता है।

छिहत्तरवें अध्याय में विभिन्न पवित्र स्थानों का उल्लेख है। इसमें कपोत तीर्थ की प्रशंसा की गयी है। कपोत तीर्थ के कुण्ड के जल से शिवलिंग, देवी, मातृकाओं, सूर्य, नारायण तथा अन्य देवताओं के स्नान कराने से उत्पन्न होने वाले पुण्य का वर्णन किया गया है। उस कथा का भी उल्लेख है जब एक कपोत उस कुण्ड का भी उल्लेख है जब एक कपोत उस कुण्ड पर भर जाने के कारण पवित्र ऋषि शुक के रूप में पुनः उत्पन्न हुआ।

सतहत्तरवें अध्याय में पुनः कपोत कुण्ड की प्रशंसा की गयी है तथा कपोत तीर्थ में तांत्रिक मंत्रों के अनुसार शिव-पार्वती के पूजा का

विस्तृत वर्णन है। यहाँ यह भी बताया गया है कि पूजोपरान्त योनिमुद्रा, लिंगमुद्रा, व्यापिनी मुद्र, छत्र मुद्रा आदि सोलह प्रकार की मुद्राओं का प्रयोग अपेक्षित है।

उन्यासीवें अध्याय में देवी के बारह स्वरूपों के पूजा का फल प्रतिपादित है। इनके नाम क्रमशः गौरी, काली, उमा, भद्रा, दुर्गा, कान्ति, सरस्वती, मंगला, वैष्णवी, लक्ष्मी, शिवा तथा नारायणी है। इसी में अर्द्धनारीश्वर उमा-शंकर, हरि-हर तथा नारायण के पूजा का फल भी उल्लिखित है। इसमें उमा-महेश्वर व्रत, विष्णु-शंकर व्रत, लक्ष्मीपर्णा व्रत और ब्रह्म सावित्री व्रत तथा चन्द्र रोहिणी व्रत के करने के विधान तथा फल का भी वर्णन है। इन व्रतों में मूर्तियों तथा वेदिकाओं की पूजा को माध्यम माना गया है। देवी के मन्दिर में झाड़ू-बहारु करने का महाफल होता है। इसे प्रमाणित करने के लिए चन्द्रमिन्द्र राजा की रानी कुंकुमा की कथा कही गयी है। जो अपने पूर्व जन्म में एक हत्यारिन थी किन्तु देवी के मन्दिर की सफाई करने से तथा देवी के चढ़ाये गये नैवेद्य प्रसाद ग्रहण करने से वह हत्या के प्रभाव से मुक्त हो गयी।

अध्याय अस्सी में इस बात का उल्लेख किया गया है कि देवी की उपस्थिति प्रत्येक पदार्थ में निहित है। उसकी पूजा के लिए गृह त्याग आवश्यक नहीं है। इसमें महामाया के शक्ति का भी निरुपण किया गया है।

अध्याय इक्यासी में कालाग्नि रूद्र का वर्णन है जो कालिका से अभिन्न है। यहीं उसके आवास कालाग्नि रूद्रपुर का भी उल्लेख किया गया है जो चतुद्रिक अग्नि ज्वालाओं से घिरा हुआ है। यहीं पर उन रूद्रों का भी वर्णन है जो कालाग्निरूद्र के साथ-2 रहते हैं तथा जिनके द्वारा संसार का विनाश होता है।

अध्याय बयासी में कालपुर के ऊपर अग्नि ज्वालाओं से आवृत अनेक नरकों का वर्णन है और यहाँ उन कारणों अथवा पापों का भी निरूपण है जिनके करने से मनुष्य इन नरकों में आता है। सात पातालों तथा वहाँ के निवासियों का विस्तृत वर्णन भी यहाँ प्राप्त होता है। आठवें पाताल का भी वर्णन है जिसका उल्लेख किसी आगम में या कहीं नहीं है और जिसमें अर्द्धनारीश्वर का निवास है। यहाँ पर तस्कर वल्लभ नामक एक ब्राह्मण की कथा का वर्णन है जो महाराष्ट्र के कुलदेव नामक एक ब्राह्मण का पुत्र था। वह देवी के मन्दिर में चोरी करने गया और वस्तुओं को देखने के लिए दीपक जलया और जलाकर छोड़ दिया। पुजारी के जग जाने तथा वहाँ के राजा के समक्ष पेश किया गया। राजा के खड्ग निकाल लेने पर वह भयभीत हुआ किन्तु दीपक के प्रभाव से वह बच गया। इस प्रकार वह दुष्ट स्वभाव का होते हुए भी भगवती के दीपक जलाने के प्रभाव से शक्रा अधिपति हुआ और अन्त में ब्रह्मलोक को प्राप्त हुआ।

अध्याय तिरासी से सत्तासी तक 'रुरु' नामक दैत्य की उत्पत्ति का वर्णन है। इसका प्रादुर्भाव कार्तिकेय के मयूर के मुख से हुआ था। उसेन देवताओं से भयानक युद्ध किया और ब्रह्मा, शिव, विष्णु, कार्तिकेय, यम, इन्द्र तथा अग्नि से प्रादुर्भूत शक्तियों द्वारा इसे युद्ध में मार डाला गया। इन अध्यायों में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, देवी तथा मातृकाओं की प्रशंसा या स्तुति की गयी है। शिव की भूरि-2 प्रशंसा की गयी है तथा देवी के साथ उनका सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया है। इसमें मातृकाओं के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन है तथा युद्ध में इनके द्वारा प्रयुक्त शस्त्रों का भी विशद वर्णन किया गया है। अध्याय छियासी के अन्त में विष्णु द्वारा चार श्लोकों में देवी की स्तुति की गयी है। स्तुति में प्रयुक्त छनद जयदेव के गीतगोविन्द के मूल रूप जैसे प्रतीत होते हैं। इसका अन्त "जय जय देवं चण्ड शिवम्"[1] से हुआ है।

अध्याय अठासी में मातृकाओं की स्तुति तथा पूजा का विधान वर्णित है। इसमें यह भी निरुपित किया गया है कि अन्त्यज, पाषण्ड, बौद्ध, गारुडवादियों द्वारा भी शिवागम के अनुसार शक्ति की पूजा की जा सकती है। इसमें देवी को अखिल ब्रह्माण्ड का स्रोत बताया गया है।

नवासीवें अध्याय में आश्विन कृष्णाष्टमी से शुक्ल नवमी तक मण्डल में की जाने वाली सर्वमंगला की पूजा का स्वरूप निरुपित है।

---

[1] देवीपुराण, 86/35।

इस अवसर पर देवी की पूजा मंगला, भैरवी, दुर्गा, कन्या, कपालिनी, कटभेश्वरी, काली तथा चर्चा आदि अनेक नामों से की जाती है। इस प्रकार पूजा सभी वर्णों, स्त्रीयों तथा बच्चों के लिए भी विहित है।

अध्याय नब्बें में उन स्थानों का विवरण है जहाँ देवी की पूजा की जानी चाहिए। जैसे - पुर, ग्राम, नगर, खेटक, हट्ट, गंगातट, विन्ध्यपर्वत, वेदपर्वत, श्रीशैल, किष्किन्धा पर्वत आदि। इनमें मूर्ति सीापना तथा मन्दिर निर्माण का भी वर्णन है। इन मन्दिरों के समीप कुएँ, तालाब, उपवन, वेश्या, घण्टा, दप्रण, घटिकायन्त्रा का निर्माण करना आवश्यक है। मूर्ति की स्थापना में वैदिक मंत्रो का उच्चारण, महिलाओं का संगीत अपेक्षित है। देवी की पूजा के विधान में सुहागिनीयों, कुमारियाँ तथा ब्राह्मणों के सम्मान का भी विधान वर्णित है।

अध्याय इक्यानवें में इस बात का उल्लेख किया गया हे कि देवी की पूजा शूद्र तथा स्त्रियाँ भी कर सकती है। इसमें देवी की प्रशंसा, विद्या की प्रशंसा, विद्या (पुस्तक) तथा छाता आदि का देवी को समप्रण करने का विशेष रूप से उल्लिखित है। ऐसी स्थिति में देवी की पूजा मिट्टी की मूर्ति बनाकर की जानी चाहिए। विद्यादान का विधान[1] विशद रूप से वर्णन करते हुए इस बात का उल्लेख है कि निम्नलिखित पुस्तकों का दान करना जरुरी है। जैसे - सिद्धान्त शास्त्र, मोक्ष शास्त्र, वेद,

---

[1] देवीपुराण, 91/30।

वेदांग, इतिहास, गारुडतंत्र, बालतंत्र, भूततंत्र, भैरवतंत्र, ज्योतिशास्त्र, वैद्यशास्त्र, कलाशास्त्र, काव्य तथा आगम आदि। इन पुस्तकों को ताडपत्र पर लिखवाकर तथा चमड़े से ढककर देवी को समर्पित करना चाहिए। इसके लिए लकड़ी के दो पटरे जिनके द्वारा उपर तथा नीचे से पुस्तक को सुरक्षित किया जा सके लगाना आवश्यक है। इन्हे काले या लाल तागे से अच्छी तरह बांधना चाहिए। यन्त्र और मण्डल बनाना चाहिए। प्रयास यह हो कि यन्त्र में आराध्य देव तथा ताडपत्र का चित्र अंकित हो। पुष्पादि से इनकी पूजा की जानी चाहिए। लेखक को जो शास्त्रपारग, छनदोलक्षणतत्वज्ञ शतकवि तथा मधुर स्वर वाला हो उसका सम्मान करना चाहिए। पवित्र पुस्तकों के सम्बन्ध में यह विशेष ध्यान रखने योग्य है कि इनकी प्रतिलिपि नन्दीनागर लिपि में की जानी चाहिए। इस लिखित पुस्तक की पूजा इसी के निमित्त बनाये काष्ठ पीठ पर रखकर की जानी चाहिए जो घण्टी, दप्रण, चुंदरी आदि के द्वारा सुसज्जित किया गया हो। इस अवसर पर मातृकाओं तथा अन्य देवी देवताओं की पूजा अपेक्षित है। इस प्रकार हस्तलिखित प्रति को पालकी में रखकर शिव अथावा मातृ मन्दिर में ले जाना चाहिए तथा प्रसन्न चित्त होकर विद्वान ब्रह्माण को दान देना चाहिए। इसी अवसर पर अन्य छात्रों तथा विद्वानों को कपड़ा, छाता, तेल, दीपक, भोजन, लेखनी, स्याही, स्याही का पात्र, तेज चाकू, पुस्तको वेष्ठन, पुस्तक रखने के लिए काष्ठपीठ आदि का दान करना चाहिए।

अध्याय बावनवें में यह प्रतिपादित है कि विन्ध्य पर्वत पर जहाँ घोर नामक राक्षस का वध करने के लिए देवी ने अवतार लिया था तथा नन्दा जो हिमालय पर्वत में स्थित है इन स्थानों पर देवी का सतत निवास रहता है। इसी स्थल पर देवी की मंत्र, द्रव्य, क्रिया तथा ध्यान के द्वारा स्तुति और पूजा की प्रशंसा की गयी है।

तिरानवें अध्याय में भगवान शिव द्वारा हिमालय स्थित नन्दा तीर्थ की प्रशंसा की गयी है और यह कहा गया है कि यह पवित्रतम तीर्थ है। इसी हिमालय में अन्य तीन पवित्र स्थानों का नामोल्लेखन है जिन्हें क्रमशः भैरव, केदार तथा रुद्रमहालय कहते हैं। इस अध्याय में कुमारिों के साथ नन्दातीर्थ पर सदा उपस्थित रहने वाली नन्दा देवी के ऐश्वर्यों का भी वर्णन है। नन्दातीर्थ की यात्रा के लिए आषाढ़, सावन तथा भाद्रपद सर्वोत्तम मास माने गये हैं। नन्दापुरी तथा उसके आस-पास के वातावरण का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है। नन्दा की पूजा के माध्यमों में शिवलिंग, स्थण्डिल, पुस्तक, पादुका, प्रतिमा, चित्र, त्रिशिख, खड्ग, जल, अग्नि तथा हृदय का उल्लेख है। यहीं पर अनिवर्तिताधिकार तथा स्वविकार नामक लिंगो का भी उल्लेख है। वैदिक मंत्रों द्वारा पवित्रीकृत तथा कच द्वारा स्तापित शिवलिंग की निन्दा की गयी है तथा शुक्र द्वारा स्थापित शिवलिंग की प्रशंसा वर्णित है। पूजा के अन्य प्रसंगों में प्रतिमा, पादुका तथा चित्र आदि का उल्लेख है और इन माध्यमों से नन्दा की पूजा होती है। महिलाओं के विषय में पूजा के अवसर पर पालन करने वाले का भी उल्लेख है।

मन्दार, त्रिकूट, विन्ध्यपर्वत, शंकरेश्वर, रामेश्वर, अमरेश्वर तीर्थ, हरिश्चन्द्र तीर्थ, गंगा, यमुना, रेवती, वेत्रवती तथा सरस्वती आदि नदियों का तट नन्दा की पूजा के लिए विशेष उपयुक्त स्थान माने गये है। मंत्रोद्धार तथा मुद्राओं का भी इस सन्दर्भ में उल्लेख किया गया है। इस अध्याय में भित्ति चित्र, शिक्षा, मनोरंजन, साजसज्जा तथा लड़कियों के क्रीडाओं का भी वर्णन है।

अध्याय चौरानवें में सुनन्दा से सम्बन्धित मन्दिरों तीर्थस्थानों, उनमें प्राप्त होने वाली नदियों, पवित्र स्थानों तथा मार्ग में पड़ने वाले देवभूतियों का वर्णन किया गया है जैसे - उर्ध्वयान के बायीं तरफ शिलोच्छया नामक नदी के किनारे मरुमुक्तेश्वर शिव के साथ गंगा का वर्णन। कौशिका नदी के तट पर कलहमेश्वर शिव के विशाल मन्दिर के साथ कालकूट तीर्थ, शूलभेदतीर्थ, वसन्तवन, कार्तिकपुर, वैश्वर्णपुर तथा वैतरणी नदी का वर्णन।

अध्याय पञ्चानवें में कन्यका के आवास कन्यकापुर की प्रशंसा की गयी है। यहाँ नन्दा को शिव स्वरूप बताया गया है।

अध्याय छियानवें में वंशानुक्रम से वेद के अध्ययन का विधान जो द्विज लोगों का प्रधान कर्तव्य था, प्रतिपादित है। उन्हें शूद्रों से सम्पक्र तथा उनके भोजन को ग्रहण न करने का विधान है। विष्णु तथा सूर्य का मन्दिर और नदी का तट आदि पवित्र स्थान वेदाध्ययन के लिए उपयुक्त स्थान बताया गया है। वेद अध्ययन की विद्या का भी प्रतिपादन

है। उनलोगों का भी वर्णन है जिनको वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। वेदाध्ययन के निषिद्ध दिनों का भी प्रतिपादन किया गया है।

अध्याय सत्तानवें में यज्ञ में किये जाने वाले पशुबलि को अपराध नहीं माना गया है। लोगों को यह निर्देश दिया गया है कि वे विधि-निषेध के नियमों का पालन करें।

अध्याय अट्ठानवें में नारायणी, तारा, श्वेता, महाश्वेता आदि देवियों के एकत्व का प्रतिपादन है। चर्चिका, चामुण्डा, नन्दा आदि देवियों के पूजा के उपरान्त पवित्रारोप का विधान बताया गया है। यह पवित्रारोपण कृपाण, क्षूरिका, खडाँऊ, चित्र, पुस्तक, ध्वज, धनुष, मूर्ति अथवा वेदिका पर किया जाता है। नटों के समूह द्वारा, तथा वेश्याओं द्वारा नृत्य तथा गीत आदि का विधान भी वर्णित है। इस अवसर पर दस दिन, पाँच दिन, तीन दिन अथवा एक दिन को पवित्र दिन के रूप में मानने का भी विधान प्रतिपादित है।

अध्याय निन्यानवें से एक सौ एक तक नन्दा व्रत का विधान तथा उसका फल बताया गया है। श्रावण मास से आरम्भ कर बारह महिनों तक नन्दा की विभिन्न नामों से पूजा की जाती है। ये नाम क्रमशः नन्दा, सुनन्दा, कनका, उमा, दुर्गा, क्षमावती, गौरी, योगेश्वरी, श्वेता, नारायणी, सुतारका तथा अम्बिका है। श्रावण पूर्णिमा को जिसे विजया पूर्णिमा भी कहते है, विजया व्रत का विधान भी बताया गया है। विभिन्न नक्षत्रों में देवी के विभिन्न अंगो की पूजा का भी विधान है।

ब्राह्मण भोजन, सुहागिनी भोजन तथा कुमारिका भोजन का विशेष उल्लेख किया गया है।

अध्याय एक सौ दो में ब्राह्मणों, सुहागिनीयों, कुमारियों तथा नन्दातीर्थ के निवासी देवी भक्तों को भूमिदान, स्वर्णदान, गोदान तथा धान्यदान का विशेष महत्व बताया गया है। इन तीर्थों में गया, पुष्कर, काशी, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, जम्बुकेश्वर, केदार, दण्डकारण्य, सोमेश्वर, अमरकण्टक, विंध्याचल, गंगा तथा नर्मदा का तट आदि प्रमुख है। देवी के पदव्रत का विधान भी बताया गया है जिसमें देवी की मूर्ति अथवा देवी के खड़ाऊँ की वेदिका पर पूजा की जाती है।

अध्याय एक सौ तीन में गोदान तथा हेमदान का विधान है। इसमें यह उल्लिखित है कि देवी की पूजा के पश्चात इन गायों को शिव भक्तों को दान देना चाहिए।

अध्याय एक सौ चार में वर्ष के विभिन्न मासों में विभिन्न प्रकार के दानों का विधान है। देवी, ब्रह्मा, शिव, सूर्य तथा विष्णु की पूजा के पश्चात श्रावण मास में विद्वान ब्राह्मण को गोदान करने का विधान है। यहीं तिलधेनु दान का भी विधान है। इस अवसर पर देवी की पूजा अवश्य करनी चाहिए।

अध्याय एक सौ पाँच तथा छः में देवी की पूजा के उपरान्त घृत धेनु तथा तोयधेनु दान का भी विधान प्रतिपादित है।

अध्याय एक सौ सात में देवी को वेद की जननी माना गया है। मूलतः एक वेद का चार भागों में विभाजन भी वर्णित है, जैसे - ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इसमें ऋक् संहिता के दस भेदों का भी वर्णन है यथा - अश्लेषा, संख्या, चर्चा, यावका, चर्चका, श्रावणीया, क्रमा, उटक्रमा, वटक्रमा तथा दण्ड। इसके अतिरिक्त शाकल, ब्रह्म तथा माण्डूक नामक इसकी तीन शाखाओं का भी वर्णन प्राप्त होता है।[1] ऋग्वेद के मण्डल, वर्ग, ऋचा तथा पादों का भी वर्णन है। यहाँ यजुर्वेद की शाखाओं तथा उसके मंत्रो की संख्या, अंग, उपांग तथा परिशिष्टों का भी वर्णन है। शुक्लयजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद की शाखाओं भेदों तथा मंत्रों की संख्या भी बतायी गयी है। ऋक्, यजु, साम तथा अथर्ववेदों से सम्बन्धित उपवेदों, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्वशास्त्र तथा अर्थशास्त्रों का भी वर्णन किया गया है। इनमें आत्रेय, काश्यप, भारद्वाज तथा वैताल नामक गोत्रों के साथ ही साथ ऋक्, यजु, साम तथा अथर्ववेद के क्रमशः साम, रूद्र, इन्द्र तथा ब्रह्मा नामक अधिदेवताओं का भी वर्णन है। इसके साथ ही चारों वेदों के मूर्तरूप उनके विभिन्न उद्देश्यों तथा उनकी पूजा की भी वर्णन है।

अध्याय एक सौ आठ में आयुर्वेद की प्रशंसा की गयी है तथा ऋषियों मं परस्पर इस बात पर चर्चा दिखायी गयी है कि मानव शरीर

[1] अत्र भेदास्तु ऋग्वेदे दश चैव प्रकीर्तिता। आश्लेषाः संख्या चर्चाश्व श्रावकाश्चर्चकारत्थ। श्रावणीया चक्रमा च पुटक्रमवटक्रमाः।। दण्डश्चेति समासेन पुनरेकैव पारगाः।। शाखाश्च विविधा भूयः शाकला ब्रह्ममातृकाः। - देवीपुराण, 107/13b-15।

में रोगोत्पत्ति क्यों होती है? और इसके निर्णय में यह कहा गया है कि आहार का व्यतिक्रम ही इसका मूल कारण है।

एक सौ नवें अध्याय में खाद्य सामग्री का उसके मूल स्रोतों के आधार पर उसका वर्गीकरण किया गया है तथा मानव शरीर पर उसके प्रभाव का उल्लेख है साथ ही उनके सेवन तथा स्वाद आदि का भी वर्णन किया गया है।

एक सा दसवें अध्याय में फल, मूल तथा जड़ी, बूटियों आदि से सम्बन्धित भोजन का विवरण है। मानव शरीर के लिए कौन कितना लाभदायक है तथा कौन कितना हानिकारक है? इसका भी उल्लेख है। दुर्गापूजा क प्रशंसा, तंत्राध्ययन की प्रशंसा के साथ ही साथ आयुर्वेद शास्त्र की भी प्रशंसा की गयी है और यह बताया गया है कि भगवान शिव ने इसको खट्वासुर के वध के लिए इसे प्रकट किया था। अध्याय एक सौ आठ से लेकर एक सौ दस तक चरक संहिता के सूत्र स्थान के साथ-2 पच्चीस अन्य छोटे-मोटे परिवर्तनों तथा बातों का उल्लेख है।

अध्याय एक सौ ग्यारह में विष्णु तथा शिव के क्रोध से खट्वासुर की उत्पत्ति की कथा, देवताओं के साथ उसका युद्ध तथा उसकी तपस्या का वर्णन है।

एक सौ बारहवें अध्याय में विष्णु द्वारा राजस भाव में हथेली मलने के कारण उत्पन्न हुए गजानन का वर्णन है तथा गजानन का

वर्णन है तथा गजानन के शरीर के शरीर के विभिन्न भागों में ईश्वर के स्थान का निरूपण है।

अध्याय एक सौ तेरह में विष्णु ने गजानन की प्रशंसा की है तथा उसके लक्षणों का निरूपण किया है। गजानन का कथन है कि उसे महादेव ने देवताओं की आपत्तियों को दूर करने के लिए भेजा है।

अध्याय एक सौ चौदह में ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव द्वारा गजानन की पूजा का वर्णन है। उन्हें विभिन्न पदार्थों का सनप्रण भी दिखाया गया है जैसे - द्वितीया का चन्द्रमा, मूँगा, शंख, धनुष तथा कशा आदि का वर्णन है जिसे विभिन्न देवताओं ने उन्हें दिया है। भगवान शिव ने गजानन को विनायक नाम से उन्हें देवताओं का नेता नियुक्त किया है।

अध्याय एक सौ पन्द्रह में विनायक के उदयाचल पर्वत पर पहुँचने तथा विघ्नासुर के वध करने की कथा प्रतिपादित है।

अध्याय एक सौ सोलह में विघ्नासुर की उत्पत्ति की कथा है। एक समय जब ब्रह्मा तपस्या कर रहे थे तो उनके मन में यह विचार आया कि एक मात्र देवता मैं ही हूँ। उस समय उनके मुख से निकली अग्नि के द्वारा विघ्नासुर की उत्पत्ति हुई। इसमें विष्णु ने शिव तथा देवी की विघ्नासुर के वध के लिए प्रशंसा की है। शिव ने विष्णु को वरदान दिया है कि मातृकाओं से घिरे हुए विनायक विघ्नासुर, जम्भासुर तथा सुलोमासुर का नाश करेंगे। इस अध्याय में खट्वासुर द्वारा देवी

को अपने अनुकूल करने के लिए की गयी तपस्या का वर्णन है। माण्डव्य ने मातृकाओं की अनुमति से विंध्याचल की देवी की पूजा द्वारा हरिश्चन्द्र का राज्य सुरक्षित किये जाने की कथा है। ये देवीयाँ अम्बिका, रूद्रणी, चामुण्डा, ब्राह्मी तथा वैष्णवी हैं, जिनकी पूजा माण्डव्य ने सरस्वती के तट पर सोमेश में की थी।

अध्याय एक सौ सत्रह में कन्याराशि पर सूर्य की स्थिति के समय देवीयों के पूजा की प्रशंसा की गयी है।

एक सौ अठारहवें अध्याय में नवीन मन्दिर निर्माण तथा प्राचीन मन्दिर से दुर्गा एवं अन्य देवियों को हटाकर इनमें पुर्नस्थापन की फलश्रुति बतायी गयी है। दक्षिणायन में ब्रह्मा, इन्द्र, शिव, विष्णु, सूर्य, देवियों तथा भैरव की मूर्तियों को हटाये जाने का विधान है। देवियों के लिए मांस तथा मदिरा के समप्रण का भी विधान है। इसी स्थल पर प्राचीन मन्दिरों के पुनरोद्धार के पश्चात पुरानी मूर्तियों के स्थान पर नयी मूर्त्रियों के लगाने का भी विधान है।

अध्याय एक सौ उन्नीस में यह वर्णन किया गया है कि भगवान शिव ने खट्वासुर के वध के पश्चात अपना भयावह रूप ग्रहण किया, जिनके वाम हस्त में खटांग तथा दक्षिण हस्त में कपाल था और जिन्होने गले में मुण्डमाल पहन रखी थी। कपाल तथा खट्वांग की उत्पत्ति के विषय में उल्लेख करते हुए शिव कहते है कि वे नित्य तत्व हैं तथा देवी मूल प्रकृति है। उन्होंने यह भी बताया है कि कैसे

सर्वप्रथम जल की उत्पत्ति करने के पश्चात उन्होंने ब्रह्माण्ड देवताओं, मनुष्यों तथा अन्य पदार्थों की उत्पत्ति की। उनहोंने यह भी प्रतिपादित किया है कि मुण्ड तथा अन्य अंग जिनको उन्होंने धारण किया है, अतीत में उनके द्वारा निर्माण किये गये असंख्य ब्रह्माओं तथा विष्णुओं से सम्बन्धित है। खट्वांग की उत्पत्ति क विषय में उनका कहना है कि जब वे योग साधना में लीन थे, योग के विघ्न निवारित होते ही खट्व असुर का रूप ग्रहण कर लिए, जिसे विघ्नेश ने नष्ट किया।

अध्याय एक सौ बीस में शरीर शुद्धि के लिए पद्ममाला अथवा गायत्री मंत्र का जप, ब्रह्मचर्य, दया, क्षान्ति, ध्यान, सत्य, अहिंसा, अस्तेय, माधुर्य तथा दम के साथ यम का अभ्यास, स्नान, स्वाध्याय, उपस्थनिग्रह, गुरूसेवा, शौच, अक्रोध तथा अप्रमाद के साथ नियम का पालन तथा शान्तपनव्रत, महाशान्तपनव्रत, पर्णकृर्च्व्रत, तप्तकृच्द्रव्रत, पराकव्रत, सौम्यकृच्द्रव्रत, तुलापुरूष्झर्दर, चान्द्रायणव्रत तथा कृच्द्रचान्द्रायणव्रत आदि प्रायश्चितों का विशद वर्णन है।

एक सौ इक्कीसवें अध्याय में पवित्र अग्नि के अधान का वर्णन है। इस कार्य में उन्हीं लोगों का अधिकार है जो वाममार्ग और दक्षिणमार्ग के साहित्य के पूर्ण ज्ञाता हैं और जिन्होने वेदान्त तथा गृह्य सूत्रों का विधिवत अध्ययन किया है। चारों वर्णों द्वारा होम का विधान बताया गया है। हवन कार्य में शूद्र, स्त्रियाँ तथा बच्चों को भी सम्मिलित किया गया है। त्रैवर्णिको के लिए अग्नि के तीन नाम -

अग्नि, हुताशन तथा अनल और उनके अभिमानी देवताओं का भी निरूपण है ।

अध्याय एक सौ बाइस में अहवनयी अग्नि उत्पत्ति गार्हपत्य अग्नि से तथा गार्हपत्य अग्नि की उत्पत्ति दक्षिणाग्नि से बतायी गयी है। आहवनयी अग्नि के इक्यावन क्रम है । इनके प्रतिपादन के साथ ही इनके प्रयोग का भी निरूपण है ।

एक सौ तेइसवें अध्याय में देवी की पूजा में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न प्रकार के पुष्प गन्ध तथा धूपादि का निरूपण किया गया है ।

एक सौ चौबीसवें अध्याय में देवी तथा गुरू का विधान बताया गया है । पूजा के उपयुक्त स्नान का चयन, उस स्थान की सफाई तथा सजावट, षडंग्न्यास, देवी तथा गुरू को स्नान कराना तत्पश्चात तथा विभिन्न प्रकार के नैवेद्य जिनमें मांस भी सम्मिलित है निवेदित करना तथा होम आदि का सम्पादन ।

अध्याय एक सौ पच्चीस में गुरू के पूजा की प्रशंसा की गयी है तथा उन्हें शिव स्वरूप माना गया है ।

एक सौ छबबीसवें अध्याय में अग्नि संस्कार तथा हवन करने का विधान बताया गया है जिसके करने से जप तथा अध्ययन की बाधाएँ समाप्त होती है। इस अध्याय में मुद्रा, मंत्र, कवचमंत्र तथा अस्त्रमंत्र आदि का भी वर्णन है ।

अध्याय एक सौ सत्ताइस में राजा द्वारा देवी के पूजा की आवश्यकता पर बल दिया गया है। यह भी प्रतिपादित किया गया है कि राजा को देवी की विधिवत पूजा इसलिए करनी चाहिए कि उसके राज्य में प्रजा सद्गुणों से भूषित होकर सन्मार्ग पर चले। यह भी बताया गया है कि राजा के आचरण का प्रभाव प्रजा पर भी पड़ता है। इसलिए राजा को औषधिमंत्र आदि की सहायता से उत्तम शिक्षा दी जानी चाहिए। इस स्थान पर अध्येता के लिए श्राद्ध पर बल दिया गया है। देवीस्तवराज के अविर्भाव की कथा भी वर्णित है। विंध्यवासिनी देवी की पूजा, शबर, बर्बर तथा पुलिन्दों द्वारा की जानी चाहिए। देवी का अठारह भुजाओं के साथ आकाश में प्रकट होना, तथा शिव और देवी के एकत्व के विषय में अनेक उदाहरण दिये गये है।

पुराण के अन्तिम अध्याय में देवीपुराण के पूजा का वर्णन है। इस पुराण को जनसमूह में पढ़ना चाहिए। पुराणवाचक पूरा सम्मान करना चाहिए। इस पुराण के वाचन के लिए वाचक का घर काशी तथा कामपुर उपयुक्त स्थान माने गये हैं। अन्त में इसके पठन-पाठन से होने वाले फलों का भी निरूपण किया गया है।

पंचम अध्याय

देवी पुराणः विषय सामग्री

वर्णाश्रम व्यवस्था

वैदिक यागों में समाज के तीन वर्णों का ही अधिकार था। उसमें भी यज्ञ करने तथा कराने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को था। स्त्री तथा शूद्र को किसी भी यज्ञ यागादि में अधिकार नहीं था[1] इस श्रेणी में उन लोगों का भी समावेश किया गया था, जिन्हे ब्रह्मबन्धु कहकर उत्तर वैदिक काल में हेय दृष्टि से देखा जाता था। यह स्वाभाविक है कि इस प्रकार के लोगों में भी यज्ञ-यागादि में भाग लेने की प्रबल अभिलाषा जागृत होती है। जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण की कथा द्वारा इस प्रकार की प्रतिक्रिया का ज्ञान होता है। कथा यों है कि कवष नाम का एक व्यक्ति सरस्वती के तट पर यज्ञ करने वाले, ऋषियों के पास पहुँचता है जिसे शूद्र कहकर यज्ञ में भाग लेने से वंचित कर दिया जाता है। दुःखी मन से वह कुछ दूर जाकर बैठता है और सूर्य की किरणों से जलाकर्षक की क्रिया का साक्षात्कार कर सरस्वती नदी वहीं प्रवाहित कर देता है। सभी ऋषि वहाँ आकर क्षमा माँगते है और उसे यज्ञ में भाग देते है। इस कथा से दो बातें स्पष्ट होती हैं प्रथम तो यह कि श्रद्धा तथा विश्वास मनुष्य में अद्‌भुत शक्ति का विकास कर देता है जो किसी भी वर्ण या

---

[1] "स्त्रीशूद्र द्विजबन्धूनां त्रयीश्रुतिगोचरा"। मनुस्मृति

सामाजिक स्थिति पर अवलम्बित नहीं होता और दूसरा यह कि ऋषियों में उदारता का अभाव नहीं है।

मोक्ष अथवा स्वर्गसुख से किसी को वंचित नहीं रखा गया था। अतः यह आवश्यक था कि उनके लिए भी कुछ विधान किया जाय। अतः शास्त्रकारों ने पुराण, रामायण तथा महाभारत द्वारा प्रतिपादित वैदिक याग में उनका भी अधिकार स्वीकार किया जिन्हें वैदिक अध्ययन तथा कर्मकाण्ड से विरत रखा गया था। महर्षि याज्ञवल्क्य ने "इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" कहकर इसी तथ्य का प्रतिपादन किया था। फलतः आरण्यकों में प्रतिपादित उपासना का पुराणों तथा उपपुराणों में भक्तिभाव रूप में विकास हुआ। इसमें पर्वों, व्रतों, उपवासों तथा विविधिकरण पूजा विधाओं का मानव प्रवृत्ति के अनुसार निरूपण किया गया। पढ़े लिखे तथा अनपढ़ सभी लोगों की आस्तिक आस्थाओं का मूल रूप आत्मरक्षा तथा मोक्ष में समाहित किया गया। भगवान के अवतारों का निरूपण किया गया और साथ ही साथ देवी को अनादि तथा अनन्त शक्ति के रूप में तथा सभी देवताओं की समवेत शक्ति के रूप में प्रतिपादित किया गया।

इन धार्मिक कृत्यों में शूद्रों, चाण्डालों, अपनढ़ों, दुराचारियों तथा दलित वर्ग के लोगों का समावेश कर उन्हें सामाजिक एकरूपता की

कड़ी से जोड़ा गया।[1] सभी वर्ण के लोगों में देवी की पूजा में अधिकार प्राप्त हुआ तथा छत्र चमर आदि के समप्रण का भी अधिकार मिला।[2] देवीपुराण में यह भी प्रतिपादित है कि देवी की पूजा के लिए सन्यास की आवश्यकता नहीं है।[3] इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि वर्णाश्रम धर्म के चर्तुथ आश्रम (संन्यास) की अनिवार्यता शिथिल हो गयी। सभी को भक्ति को भक्ति में अधिकार, भगवान की पूजा में अधिकार तथा सिद्धि में अधिकार प्राप्त हुआ। अतः ऐसे सन्तों का प्रादुर्भाव हुआ, जो अब्राह्मण थे। इतना ही नहीं इनकी शिष्य परम्परा में सभी वर्णों के लोग समाहित हुए और भेद भाव और अश्पृश्यता की भावना का निराकरण हुआ। इसका एक प्रधान कारण यह भी था कि इन सन्तों में गुरू का महत्व सर्वाधिक स्वीकार किया गया था। अतएव ऐसे सन्त गुरू के रूप में पूज्य हुए। उनकी वाणियों का संग्रह हुआ। उनके मन्दिर बनाये गये तथा वे स्वयं भी अपने शिष्यों द्वारा आराध्य के रूप में स्वीकार किये गये। इससे एक ओर जहाँ वर्णाश्रम के परम्परा की रक्षा हुई वहीं दूसरी ओर सामाजिक एकता, राष्ट्रीयता, बन्धुत्व तथा सहयोग की भावना का उदय हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धान्त रूप में स्वीकृत कतिपय शूद्रों का समाज में स्पृश्य के रूप में भी समायोजन किया गया जैसे - नाई, बारी तथा कायस्थ आदि।

---

[1] ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा यदि वा स्त्रियः। पूजयेन्मातरो भक्त्या स सर्वान्लभतेप्सितान्।। देवी पुराण-91/1

[2] देवीपुराण- 91/11।

[3] देवीपुराण- 80/4।

नारी निरूपण

देवी पुराण का सामाजिक दृष्टि से भी बहुत महत्व है। मनुष्य समाज में रहकर ही अपनी कृति की रचना करता है। वह जो भी देखता है, जिसका अनुभव करता है, उसी को अपने शब्दों के माध्यम से व्यक्त करता है। देवीपुराणकार ने भी अप्रत्यक्ष रूप से तत्कालीन समाज के विषय में उल्लेख किया है।

नारी समाज का एक महत्वपूर्ण अंग है। समाज का संगठन नारी से ही पूर्ण होता है। बिना नारी के समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सम्पूर्ण धर्म-कर्म नारी की सहायता से ही संभव एवं सम्पन्न होते हैं। ब्रह्मपुराण में तो एक स्थल पर यहाँ तक कहने का प्रयास किया गया है कि नारी के साथ कोई भी कार्य करने से उसका फल अधिक मिलता।[1]

सन्तान, चरित्र कुल, आत्मा, लोक तथा परलोक का संरक्षण नारी के द्वारा ही होता है। मनुष्य जाति में प्रजातन्त्र, संरक्षण, और पितृऋण-मोचन का सामान्य आदर्श नारी से ही पूर्ण होता है।[2]

अतः नारी का समाज में बहुत महत्व है। दूसरे शब्दों में यदि कहा जाये तो जब तक सृष्टि रहेगी, तब तक नारी की आवश्यकता

---

[1] एकेन सत्कृतं नाथ सस्मात्मादर्घ फलंभेत। जायया तु कृतं नाथ पुष्कलं पुरुषो लभेत्।।
ब्रह्मपुराण, 1.29.61।

[2] भविष्य पुराण का एक सांस्कृतिक अध्ययन, उमागोयल, पृ. 90।

रहेगी। नारी के महत्व का समाज में महान् गौरव था तो कभी हम नारी की प्रतिष्ठा में अवनति के चिन्ह पाते हैं। इस प्रकार भिन्न-2 कालों में नारी की स्थिति भी भिन्न-2 रहीं।

देवीपुराण में देवी का स्वरूप माता के रूप में मिलता है। संसार के समस्त प्राणी को माता के प्रेम की आवश्यकता होती है। वह प्राणी अत्यन्त ही अभागा है जिसे माता के अमृतरूप दुग्ध का पान करने को नहीं मिलता। सारे सुख, ऐश्वर्य माता की कृपा के बिना व्यर्थ है। उसे लोकमाता, देवमाता, इन्द्रजननी, स्कन्दमाता, भूतमाता आदि-2 विभिन्न नामों से पुकारा गया है। मातृत्व शक्ति को प्रेम, स्नेह, वात्सल्य की साक्षात् प्रतिमूर्ति एवं पराकाष्ठा स्वीकार किया गया है। महाशक्ति की मातृत्वरूपा मंजुलमयी मूर्ति का दर्शन प्रत्येक व्यक्ति करता है, एवं उसके वरदहस्त की छत्रछाया में पलता है और अपना जीवन उसकी सेवा में अप्रित करता है। इस पुराण में देवी का बालहितकारी रूप भी परिलक्षित किया गया है।[1] देवी भगवतकार भी देवी को 'माता' के रूप में चित्रित करते हुए कहता है कि जिस प्रकार माता सर्वदा अपने बच्चों के लिए हृदय में कल्याण भाव रखती है, उसी प्रकार देवी भी अपने भक्तों को प्रति वैसा ही भाव रखती है।[2]

---

[1] "बालानां हित काम्यया" देवीपुराण- 1.52।

[2] देवीभागवत- 11.13.36।

सभी शाक्तपुराण इस तथ्य से सहमत है कि देवताओं की सम्मिलित या संघातशक्ति का नाम देवी है।[1] सभी देवताओं का बल, तेज और पौरुष एक ही दिशा में सतत प्रयत्नशील है, वह है कि रक्षा एवं रचनात्मक कार्यों में योगदान और इसी दिव्यता को देवी या शक्ति के नाम से अभिहित किया गया है। दैत्यों, दानवों, असुरों और समाज विरोधी व्यक्तियों का पौरुष विनाश और विघटन में लगा करता है और इन्हीं व्यक्तियों के नाश करने के लिए महाशक्ति अवतरित होती है। पुराणों में इसी सतत संघर्ष को देवासुर संग्राम का नाम दिया गया है। इसी सन्दर्भ में यह कहा गया है कि देवताओं तेज से ही देवी या महाशक्ति का प्रादुर्भाव हुआ है।[2] देवीपुराण के अनुसार भगवान् शंकर जिस समय असुरों के वध के लिए चिन्तित थे उसी समय एक तेज पुञ्ज उनके सामने प्रकट हुआ और कुछ देर के पश्चात् देवी रूप में परिणत हो गया।[3]

देंवीपुराण में स्त्रियों तथा दलितों को अत्यन्त उदारतापूर्वक समाज में एवं धर्मिक कृत्यों में उचित स्थान दिया गया है। यह पुराण न केवल शूद्रों, चाण्डालों आदिम जातियों को देवी व्रत करने की आज्ञा नहीं देता है,[4] बल्कि विद्यागुण सम्पन्न शूद्र को गुणरहित द्विजाति से

[1] सप्तशती- 2/13।

[2] देवीभागवत 7/31/25-54।

[3] देवीपुराण- 126/47-60।

[4] देवीपुराण- 22/5-61, 24/18-24, 26/43-46।

श्रेष्ठ भी मानता है ।[1] स्त्रियों तथा शूद्रों को देवी सम्बन्धी हवन, व्रत, उपवास, पूजा, जप आदि करने पूरी स्वतंत्रता प्रदान की गयी है ।[2] कन्याओं को देवीस्वरूपा मानकर प्रत्येक उत्सव में, पूजन, सम्मान व भोजन की व्यवस्था की गयी है ।[3] विवाहिता स्त्रियों को भी काफी आदर प्रदर्शित किया गया है ।[4] यहाँ तक की कई अवसरों पर उनके पूजन और भोजन का भी विधान किया गया है ।[5] पुराणों का शाक्त सम्प्रदाय धर्म का लौकिक रूप है एवं लोकमानस को निरूपित करता है । देवी सम्बन्धी व्रत एवं उद्यापन आज भी ज्यादातर स्त्रियों में प्रचलित है, एवं कन्या पूजन तो नवरात्रों का एक अनिवार्य अंग ही बन गया है । देवीपुराण में स्त्री शिक्षा पर बड़ा बल दिया गया है । मंत्र का जप, हवन तथा देवी शास्त्रवाचन आदि में स्त्रियाँ पारंगत दिखलायी देती हैं ।[6]

आद्याशक्ति सभी की मनोभिलषित करती है और उसकी भक्ति करके एक साथ ही सांसारिक ऐश्वर्य और भोग, पुण्य एवं मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है । उसको ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के रूप में कार्य करने वाली महाशक्ति कहा गया है एवं त्रिदेवों की स्त्री शक्ति के रूप

[1] देवीपुराण- 51-4-6 ।
[2] देवीपुराण- 22/19, । 50/335-337, 93/168-172 ।
[3] देवीपुराण- 121/5 ।
[4] "कन्या दिव्या स्वयं प्रोक्ता कन्या रूप तु शूलिनी" देवीपुराण- 35/15-17 ।
[5] देवीपुराण- 91/76 ।
[6] देवीपुराण- 91/59, 90/22 ।

में स्मरण किया जाता है। एक होते हुए भी अनन्त, निराकार होते हुए भी साकार एवं विश्वरूप धारण करने वाली, निर्गुण होते हुए भी त्रिगुणत्मिका सृष्टि स्वरूपा, भोग और मोक्ष प्रदान करने वाली मातृशक्ति सभी से वन्दनीय है। इसी महादेवी को सर्वरूपा या सर्वव्यापक कहकर सम्पूर्ण सृष्टि उसी का स्वरूप बतलायी गयी है।[1] यह सिद्धान्त वेदान्तियों के मिथ्यात्त्व को करारा झटका देता है साथ ही सृष्टिकर्ता के साथ-2 उसकी कृति को नित्य स्वीकार किया है जो शाक्तों का यह अद्वैत तत्त्व पूर्णतः नया है।

इस प्रकार देवीपुराण में नारी की स्थिति का सामान्यतया विचार किया गया। माता के रूप में नारी का समाज में बहुत आदर था। वह जननी, पालक, आदि रूप में मानी जाती थी। तत्कालिन समाज में माता अपना पूरा कर्तव्य निभाती थी। समाज में स्त्री को कन्या के रूप में भी प्रेम की दृष्टि से देखा जाता था। देवीपुराणकार से नारी को एक अन्य रूप भी प्रदान किया। देवी ने बड़े-2 राक्षसों का वध किया। अपने भक्तों रक्षार्थ देवी को अवतार भी लेना पड़ा। अतएव देवी एक अबला न होकर एक शक्तिशाली नारी थी जिसने बलशाली पुरुषों के भी दाँत खट्टे कर दिये थे।

देवीपुराणकार ने देवी रूप का वर्णन करके नारी को सबला का रूप प्रदान किया है। वास्तव में किसी देश को उन्नति के लिए नारी को

---

[1] देवीपुराण- 36/13, 37/46, 79।

आदर प्रदान करना आवश्यक है। स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक है। स्त्री ही पुरुष की जननी है। राष्ट्र का भविष्य स्त्रीयों पर ही निर्भर करता है। पुरुष को कोई अधिकार नहीं कि वह स्त्री पर अपना व्यर्थ प्रभुत्व जमाए। परतंत्र स्त्री की संतान के व्यक्तित्व का विकास भी बहुमुखी नहीं हो सकता।[1] इसीलिए देवीपुराणकार ने देवी के रूप में नारी का चित्रण करके उसे आदर्श रूप प्रदान किया है।

देवीपुराण के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि तत्कालिन सामाजिक जीवन में किन-किन उत्सवों, व्रतों तथा पूजाओं का प्रचलन था। ऐसा प्रतीत होता है कि देवी की पूजा सम्पूर्ण भारत में व्याप्त थी। इन अवसरों पर समाज के सभी वर्गों के व्यक्ति एकत्रित होकर ध्वजारोहण, रथयात्रा तथा मूर्तियों का शृंगार आदि करते थे। इस अवसर पर स्त्रियाँ मंगलगान गाती थी।[2] लोग वेदध्वनि तथा ब्राह्मणों द्वारा मंगलश्लोकों का पाठ भी किया जाता था। छब्बीसवें अध्याय में होम तथा लोकपाल के स्थापना का विधान है। लोकपाल की यह परम्परा उत्तरी भारत में आज भी ग्राम देवता (डीह बाबा) के रूप में प्रतिष्ठित है। ऐसे अवसरों पर मंत्र शक्ति की श्रद्धा से समाज की रक्षा का उपाय किया जाता था। प्राकृतिक आपदाओं में ग्रह पूजा, सूर्य पूजा, लक्ष होम, कोटि होम तथा दान आदि द्वारा उत्पातों के दुष्प्रभाव

[1] "Slave mothers produce craven children". विमैन इन ऋग्वेद, भागवतसरन उपाध्याय एस. चाँद एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1979, पृ. 229।

[2] देवीपुराण- 31/21 तथा 29।

को शान्त किया जाता था।[1] इन पर्वों पर मांस के सेवन का भी उल्लेख मिलता है। मत्स्य, मांस तथा मदिरा आदि के द्वारा क्षेमंकरी देवी का पूजन किया जाता था। ऐसे अवसरों पर सम्पत्ति तथा स्त्री तथा आत्मदान का भी विधान है।[2] ऐसे अवसरों पर समाज में प्रयत्न द्वारा किसी फल के साध्य न होने पर भाग्य पर बल दिया जाता था।[3]

अवतारवाद का सिद्धान्त समाज के लिए एक आवश्यक रक्षा कवच के रूप में माना जाता है। इसके दो उद्देश्य हैं एक ओर भगवान् या भगवती के अवतार द्वारा दुष्टों का संहार होता है जिनके कारण समाज में उद्विग्नता तथा असन्तोष व्याप्त रहता है तथा दूसरी ओर लोगों में वीरत्व भावना या वीरपूजा भावना का उदय होता है। यह मानव मात्र की एक मौलिक प्रवृत्ति है। देवीपुराण में इसी प्रवृत्ति को प्रज्वलित किया गया है। देवी द्वारा दुष्टों के नाश से धर्मनीति तथा आचरण की स्थापना होती है। धरित्री, सुखपूर्वक शस्य सम्पन्ना होकर चराचर जीव का सृजन तथा पालन करती है। युयुत्सा की इस प्रवृत्ति से राष्ट्र-रक्षा का व्रत सुदृढ़ होता है। राजा शुभकर्मों का करने वाला प्रजा का रक्षक तथा शक्तिशाली बनता है। इसका कारण यह है कि राजाओं के आचरण से ही सामान्य जनता का आचरण प्रभावित होता है क्योंकि वह उसी आचरण का पालन करती है।[4] देवीपुराण का यह विचार महाभारत

---

[1] देवीपुराण- अध्याय 55।
[2] देवीपुराण- अध्याय 39/172।
[3] देवीपुराण- अध्याय 20।
[4] देवीपुराण, अध्याय 127।

के विचार से अद्भूत साम्य रखता है। विचार से मिलता है कि राजा काल का कारण होता है न कि काल राजा का।[1]

देवीपुराण में इस देश की विभिन्न नदियों पर्वतों तथा तीर्थों का वर्णन है। पूरे देश में देवी के विभिन्न पीठों का स्वरूप बताया गया है। इससे इस देश के भौगोलिक स्थिति का एक व्यापक रूप दिखाई देता है।[2] इन स्थानों के वर्णन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि देश के विभिन्न भागों से लोग अन्यान्य पीठों पर दर्शन करने जाते थे, जिससे राष्ट्रीय एकता, समरसता तथा राष्ट्र के प्रति प्रेम का उदय होता है। विभिन्न क्षेत्रों के लोग एक दूसरे से मिलकर भाषा सम्बन्धी कठिनाई, स्थानीय परम्पराओं का आदान - प्रदान तथा यात्रागत कठिनाईयों का सामना करते हुए एक मात्र देवी पूजा के उद्देश्य से स्थान-स्थान पर एकत्रित होते हैं। वास्तव मे हम इसी को समाज कह सकते है। पर्वतों, तीर्थों, नदियों में पूज्य भावना रखने के कारण पर्यावरण सम्बन्धी समस्याओं का निदान होता रहता है। ऐसे अवसरों पर स्थानीय लोगों के साथ ही साथ आगन्तुक लोग भी इन स्थानों की पवित्रता बनाए रखने के लिए विशेष रूप से यत्नवान होते हैं क्योंकि इनके प्रति पूज्य भावना होती है।

---

[1] कालो वा कारणं राजा वा काल कारणम्। इति ते संशयो माभूत राजा कालस्य कारणम्। महाभारत, शान्तिपर्व राजधर्म।

[2] देवीपुराण, अध्याय 32, 34, 35, 38 तथा 42 द्रष्टव्य।

सामाजिक परम्पराओं में विवाह आदि तथा श्राद्ध के अवसर पर वृषोत्सर्ग, ग्रहनक्षत्र आदि की पूजा, विभिन्न द्वीपों का स्मरण तथा वर्णन, ब्राह्मणों तथा कन्याओं को दान देना तथा पूजा करना एक महत्वपूर्ण अंग है। देवीपुराण में इन सभी पहलुओं पर विचार किया गया है। मूहूर्त तथा ग्रह पूजा आदि का भी विधान बताया गया है।[1] यहीं पर विभिन्न पुष्पों, वृक्षों तथा गुल्मलताओं का भी वर्णन किया गया है। कौन पुष्प तथा फल किस देवता के लिए उपयोगी होगा। इसका सम्यक् प्रतिपादन है।[2] अध्याय चौवालिस के अध्ययन से ऐतिहासिक सामग्री का संकेत मिलता है। अध्याय पञ्चानवें में शूद्रा स्त्रियों द्वारा देवी पूजा का विधान निरूपित है।

आयुर्वेद

किसी समाज के लिए स्वस्थय जीवन का होना अत्यन्त आवश्यक है। कब, कौन और कैसे रोग उत्पन्न होते है। उनका निदान क्या है? उनसे बचा कैसे जा सकता है तथा उनमें कौन-2 पौधें और औषधियाँ प्रभावकारी हो सकती है? इनका निरूपण भी समाजिक जीवन का एक प्रधान अंग है क्योंकि शास्त्रों में ऐसा निर्देश है कि जहाँ नदी, वैद्य, राजा तथा धनिक न हों उस स्थान पर निवास नहीं करना चाहिए। देवीपुराण में आयुर्वेद से सम्बन्धित अनेक प्रकार के सिद्धान्तों का

[1] देवीपुराण, अध्याय 60, 66 तथा 67।
[2] देवीपुराण, अध्याय 62।

विवेचन किया गया है।[1] चौसठ विद्याओं की प्रशंसा की गयी है और उच्चारण पर विशेष ध्यान रखने का आग्रह किया गया है।[2] इसी प्रसंग में कथावाचकों के प्रति विशेष आभार प्रदर्शित है।[3]

पुराणों में प्रकरणानुसार आयुर्वेद शास्त्र का प्रतिपादन किया गया है। अग्नि पुराण में आयुर्वेद विषय का सांगोपांग विवेचन किया गया है। कई अध्यायों में औषधियों का निरूपण मिलता है।[4] इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि जनजीवन से सम्बन्ध रखने वाले इन विषयों के ज्ञाता तत्कालिन समाज में उपलब्ध थे। यह केवल सिद्धान्त रूप में ही नहीं प्रत्युत व्यवहार रूप में भी प्रतिष्ठित था।

आयुर्वेद एक सामाजिक विज्ञान है। जिसका प्रयोग एवं उपयोग समाज के सभी अंगों में किसी न किसी रूप में परिलक्षित होता है। चरकसंहिता ने शुद्ध सत्वों के सात भेदों के अन्तर्गत गान्धर्व सत्व को अन्य गुणों के साथ आख्यायिका, इतिहास एवं पुराण कुशल बतलाया है।[5] अवएव यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराणों का आयुर्वेदीय संहिता के प्रणयन काल में महत्वपूर्ण स्थान था। पुराण जहाँ एक ओर पञ्च लक्षण तथा दशलक्षण अपना प्रतिपाद्य विषय निहित करते हैं वहाँ आयुर्वेद को उसके सभी अंगों को न्यूनाधिक रूप में स्वीकार करने में

---

[1] देवीपुराण, अध्याय 108, 109, 110।
[2] देवीपुराण, अध्याय 120।
[3] देवीपुराण, अध्याय 128।
[4] अग्निपुराण, अध्याय 283।
[5] चरकसंहिता-शारीरस्थान- 4/37।

कोई संकोच नहीं है। प्राचीन काल में जब संहिता ग्रन्थ लिखे गये उनमें से बहुत कुछ उपलब्ध है और जो अनुपलब्ध है वे चरक तथा सुश्रुत आदि के संस्कृत टीकाकारों ने यथास्थान उपादेयता वश उद्धृत किया है। मध्यकाल में जो आयुर्वेद साहित्य लिखा गया वह बहुत ही कम दृष्टिगत है। बहुत से ग्रन्थों का पता मध्यकालिन टीकाकारों की टीका में उपलब्ध प्रमाणों से पता चलता है। अतएव पुराणों में अपने काल में प्रचलित किन्तु अद्यावधि अनुपलब्ध आयुर्वेद साहित्य के अनेक विचारों को सजोये रखा है।

पुराणों ने स्वस्थवृत्त की सामग्री अत्यन्त विस्तार के साथ सर्वजन द्वारा पालनीय बनाये जाने के लिए अनेक प्रकार की धार्मिक परम्पराओं का सहारा लिया है जिनके आधार पर शौच, अशौच, नियम, व्रत, उपवास, सदाचार आदि भी जनता द्वारा पालनीय बने हैं, जिस कार्य को आयुर्वेद सरलता से नहीं करवा सकता था। उसी कार्य को पुराणों ने श्रद्धा और धार्मिकता के रूप में स्वीकार करने के लिए सबको बाध्य कर दिया। गरूड पुराण में आयुर्वेद का विशद् विवेचन किया गया है। कुल मिलाकर छपपन अध्यायों में आयुर्वेद शास्त्र का निरूपण इस पुराण में मिलता है।[1] अग्नि पुराण में भी इस विषय का उपयोगी उपन्यास किया गया है। कई अध्याय इस विद्या के लिए समप्रित है।[2] देवीपुराण

[1] गरूडपुराण- 146 से 202 अध्याय।

[2] अग्निपुराण-279-286 अध्याय।

ने इस प्रकार की प्रचुर सामग्री ली है जिसके आधार पर हमारी प्राचीन विद्या किसी न किसी रूप में सुरक्षित है।

देवीपुराण में वेदों के छः अंगों के वर्णन के उपरान्त उपाङ्.गों प्राप्त होता है। एक सौ आठवें अध्याय में आयुर्वेद की उत्पत्ति और विकास का विशद वर्णन किया गया है। अन्य विद्याओं की भाँति इसका प्रादुर्भाव भी भगवान् पुनर्वसु द्वारा कैलाश पर्वत के शिखर पर किया गया है। मनुष्य के अमय (निरोग) रहने की वार्ता ऋषियों के मध्य में आरम्भ होती है। काशीपति वामक ने आत्मा, इन्द्रिय, मन आदि के समाहार को पुरुष मानते हुए यह प्रश्न खड़ा किया है ऐसे पुरुष के लिए अमय (निरोग) होने का अभिप्राय क्या है? यदि यह पुरुष यज्ञ और तेज है तो इसके सभी अमय शुभ ही होंगे। इसका विरोध करते हुए मौद्गय ने कर्म के फल के कारण अमय आदि की व्यवस्था मानी और इसे स्वयं आत्मा से ही उत्पन्न माना है। शरलोम ने यह कहकर निराकरण किया कि स्वयं आत्मा अपने उपर दुःख या क्लेश नहीं ले सकता है। इसका कारण मन है जो रज आदि गुणों क कारण अलग-2 उत्पन्न होता है। हिरण्याक्ष का कहना है कि आत्मा रजोगुण सम्पन्न नहीं है और न ही अतिन्द्रिय मन रोग की उत्पत्ति का कारण हो सकती है। उसने इन्हें (रोगों) को षड्धातुज माना है। शौनक ने षड्धातुओं को माता-पिता से उत्पन्न माना है। भद्रक ने इसका विरोध किया है। भारद्वाज ने इसे पूर्वजन्म का फल माना है। कात्यायन ने इसे स्वभावज माना है तथा भिक्षुआत्रेय ने इसे काल माना है। इस प्रकार विवाद की

अवस्था में पुनर्वसु ने हस्तक्षेप करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि सभी शक्ति से प्रेरित है। उदाहरण देते हुए यह प्रतिपादित किया है कि बैल तथा शकट स्वयं संयुक्त होकर भी चालक के बिना परिचालित नहीं होते है।[1] अतः सबके मूल में शिव और शक्ति है तथा वही शुभ और अशुभ उत्पन्न करती है। इसी तरह विविध प्रकार व्याधियाँ उत्पन्न होती है।

आत्रेय ने पुरुष की अभिवृद्धि के लिए हिताहार तथा व्याधि आदि के लिए अहिताहार का उपयोग बताया गया है। हिताहार भी मात्रा, काल, क्रिया, भूमि, देह, दोष तथा पुरुष की अन्य अवस्थाओं के कारण विपरीत फलकारी हो जाता है।[2]

देवीपुराण में आहार चार प्रकार के बताये गयें है। पान, अशन भक्ष्य और लेह।[3] रसों के भेद के कारण इनका स्वाद छः प्रकार का होता है तथा इनमें बीस गुण होते है- गुरू, लघु, शीतोष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, तीक्ष्ण, स्थिर, सरस, मृदु, कठिन, विषद, पिच्छिल, श्लक्ष्म, स्वर, सूक्ष्म, साद्र आदि।[4]

देवीपुराण में विभिन्न औषधियों, रोगों तथा उनके निदानों का वर्णन भी मिलता है। सबसे श्रेष्ठ पथ्य लाल चावल तथा शुकधान्य

---

[1] देवीपुराण- 108/32-33।
[2] देवीपुराण- 108/36-37।
[3] देवीपुराण- 109/7।
[4] देवीपुराण- 109/8।

(निवार) को माना गया है।[1] सबसे निकृष्टतम पथ्य माषा (उड़द) शमीधान्य, गोमांसादि है।[2]

भूत, प्रेत तथा जरा के नाश के लिए शिव का स्मरण, बालक ग्रह के लिए, चामुण्डा तथा शाकिनी का स्मरण विघ्न के लिए विनायक को स्मरण, कुष्ठ शान्ति के लिए आदित्य का स्मरण, औषधियों के लिए सोम का स्मरण बताया गया है। इसी भाँति अनेक देवताओं की उपासना से अनेक प्रकार के रोगों का निवारण बतलाया गया है।

घृत से वात, पित्त की शान्ति, तेल से वात कफ की शान्ति, वमन से कफ की शान्ति, विरेचन से पित्त की शान्ति, विडंग से पेट में रहने वाले कृमियों का नाश, आदि अनेक औषधियों एवं विभिन्न व्याधियों में होने वाले उनके उपयोगों का विशद विवेचन है। इसी अंश में हिमालय को औषधियों की भूमि, शिव को मन्त्र सिद्धि का साधन तथा दुर्गा को विजय करने का आधार निरूपित है।[3]

इसी क्रम में आयुर्वेद के महर्षियों के विस्तृत परम्परा का उल्लेख तथा उसके लक्ष्य का वर्णन किया गया है, जैसे - कपिल, हेमकुक्षि, वरूण, रूद्र पुलह, शामक, काशिका, जनक, सुमालि, भानुवर्ण, सुषेण, पिंग, ब्रह्मा, दक्ष प्रजापति, अश्विनी कुमार तथा अत्रि आदि।[4] देवीपुराण

[1] देवीपुराण- 110/1।
[2] देवीपुराण- 110/2।
[3] देवीपुराण- 110/3।
[4] देवीपुराण- 110/4-9।

में आयुर्वेद के वर्णन क्रम में रसायन विद्या मनः चिकित्सा एवं पारद आदि का भी उल्लेख मिलता है ।

इस प्रकार हम देखते है कि आयुर्वेद के प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक इतिहास के प्रणयन में देवीपुराण एक अन्यतम स्रोत के रूप में है। पुराणों पर आधारित विषयों पर शोध कार्य के लिए इससे एक नई आवश्यकता को समर्थन मिला है। देवीपुराण के आयुर्वेदीय अध्यायों का आश्रयरूप मूल ग्रन्थों से आये पाठ की तुलना अपेक्षित है। देवीपुराणकार ने चिकित्सा शास्त्र का एक हस्तामलक ही मानों यहाँ उपस्थित कर दिया है। इतना तो सुनिश्चित है कि देवीपुराण ने इस उपयोगी विद्या का जो सार-संकलन तथा विषय विवेचन किया है वह प्रामाणिक होने के साथ ही साथ नितान्त व्यवहारोपयोगी तथा लोकोप्रयोगी है ।

दान परम्परा

प्राचीन भारतीय संस्कृति अपनी अनेक विशेषताओं एवं परम्पराओं के कारण विशेष महत्व रखती है। इसका महत्व मात्र इसी कारण नहीं है कि यह एक अत्यन्त प्राचीन संस्कृति है । वस्तुतः यहाँ कि संस्कृति में समाहित धार्मिक एवं सामाजिक परम्पराएँ अपने उत्कृष्ट दार्शनिक पृष्ठभूमि के कारण महत्वपूर्ण मानी जाती है । प्राचीन भारतीय सामाजिक संस्थाओं में वर्णाश्रम व्यवस्था एक प्रमुख वैचारिक सीमाओं और संस्थागत संरचना के रूप में स्वीकृत है। प्राचीन आश्रम का निर्वाह

करने वाले व्यक्तियों का जीवन गृहस्थाश्रम के लोगों पर आश्रित रहता है। इस आश्रम के लोगों का यह दायित्व होता है कि अन्य आश्रम के लोगों के प्रति अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह करें। इन्हीं परिस्थितियों में दान की परम्परा का उद्भव हुआ होगा। इस प्रकार दान की परम्परा सिर्फ धार्मिक आधार पर ही नहीं वरन उच्चकोटि की सामाजिक-आर्थिक विचारधारा पर आधारित थी। धार्मिक दृष्टि से दान की महत्ता का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में मिलता है। जिससे यह स्पष्ट होता है कि दान को धार्मिक संस्था से जोड़कर इसे भारतीय जीवन प्रणाली का स्थायी अंग बनाने का कार्य प्राचीन मनीषियों एवं चिन्तकों द्वारा किया गया था। पौराणिक युग में दान की महत्ता इतनी बढ़ी कि उसे धर्म का स्वरूप मान लिया गया और दान के सम्बन्ध में अनेक नियम और उपनियम बनाये और "दानमेकगृहस्थानाम्"[1] जैसी धारणा स्थापित हो गयी। समाज में दान धर्म के लक्षण के रूप में स्वीकृत हो गया। मनुस्मृति में प्रतिपादित है कि सतयुग में तप, त्रेतायुग में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ तथा कलियुग में केवल दान को महर्षियों ने प्रधान धर्म के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार युगयुगीन आधार पर तप, दान और यज्ञ का महत्व समान रूप से स्वीकार किया गया है। देवीपुराण में भी दान के व्यापक स्वरूप का विशद विवेचन है। कई अध्याय दान विषय के प्रतिपादन के लिए ही समप्रित है। प्रकृत अध्याय में देवी पुराण के परिप्रेक्ष्य में दान का विवेचन किया जा रहा है।

[1] वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, वाचस्पति गैरोला, संवत्तिका प्रकाशन, इलाहाबाद, 1969, पृ. 366।

दान का अर्थ एवं परिभाषा

दान का अर्थ प्रचीन काल से ही स्पष्ट है तथा याग, होम तथा दान में भेद प्रतिपादित है। याग में देवता के लिए वैदिक मंत्रों के साथ कुछ वस्तुओं का त्याग होता है। होम में अपनी किसी वस्तु की आहुति, किसी देवता के लिए अग्नि में दी जाती है। 'दान' में अन्य व्यक्ति को अपनी वस्तु का स्वामी बना दिया जाता है। दान लेने की स्वीकृती मानसिक, वाचिक या शारीरिक रूप से हो सकती है। याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका में यह प्रतिपादित है कि शारीरिक स्वीकृति एक हाथ में लेने या छू लेने से हो जाती है।[1] दान के लिए धर्मशास्त्र में 'प्रतिग्रह' शब्द प्रयुक्त है। प्रतिग्रह किसी वस्तु की विशिष्ट रीति से स्वीकृति को कहते है। किसी वस्तु मात्र ग्रहण करना ही प्रतिग्रह नहीं है, क्योंकि प्रतिग्रह में विशिष्ट पुण्य की प्राप्ति होती है। शास्त्रीयरीति के प्रतिकूल दिया गया दान आध्यात्मिक पुण्य की उपलब्धि नहीं करा सकता, अतः मित्र को खिलाना या भिखारी को भिक्षा देना, शास्त्र-सम्मत दान नहीं है। केवल दान को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि शास्त्र द्वारा उचित ठहराये गये व्यक्ति को शास्त्रानुमोदित विधि से प्रदत्त धन को दान कहते है।[2]

---

[1] याज्ञवल्क्यस्मृति 2/27, पर मिताक्षरा टीका।

[2] दान क्रिया कौमुदी, देवल, एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाला, पृ. 2।

कर्तव्य मानकर उचित व्यक्ति को जब कुछ प्रदान किया जाय तब उसे धर्म दान कहते है ।[1]

दान-मयूख में किसी द्रव्य का त्याग करना दान कहलाता है ।[2]

डॉ. राजबली पाण्डेय के मत में 'दान' शब्द का अर्थ किसी वस्तु से अपना स्वत्व हटाकर दूसरे का स्वत्व उत्पन्न कर देना है ।[3] दान (अप्रण) का व्यवहार ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर याज्ञिक हविष्य के विनियोग के अर्थ में हुआ है, जिसमें देवता आनंत्रित होते थे ।

दान का उद्देश्य

प्रत्येक कार्य के पीछे व्यक्ति की कुछ भावना और उद्देश्य निश्चित होता है। इसी प्रकार प्राचीन काल से चली आ रही दान की परम्परा के पीछे न सिर्फ धार्मिक भावना थी, वरन् सामाजिक-आर्थिक उद्देश्य भी थे, जिसे पूरा करने के लिए व्यक्ति विभिन्न प्रकार का दान दिया करता था।

प्राचीन काल से ही भारत एक धर्म-प्रधान देश रहा है, अतः दान को धार्मिक संस्था से जोड़कर इसे भारतीय जीवन प्रणाली का स्थायी अंग बना दिया। धार्मिक भावना से ओत-प्रोत होकर व्यक्ति विभिन्न

---

[1] तत्रैव ।

[2] दानमयूख, नीलकण्ठशास्त्री ।

[3] हिन्दू धर्म कोष, डॉ. राजबली पाण्डेय, हिन्दी संस्थान, प्रयाग, 1978, पृ. 318 ।

दान करता था। छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है कि "श्रद्धया देयम् हिया देयम् भिया देयम्" अर्थात् श्रद्धा से हो या लज्जा से अथवा भय से, दान नित्य देना चाहिए। यह नित्य कर्म है। इससे मनुष्य का अभ्युदय होता है। यहाँ बहुमूल्य वस्तुओं के दान देने का विशेष महत्व है। इसीलिए कन्यारत्न का दान दानों में श्रेष्ठ माना जाता है। यह महान तपस्या का फल है - "विभवोदान शक्तिश्च महतां तपसां फलम्" बिना जन्म जन्मानतर के अर्जित पुण्य के विभव दान नहीं हो पाता। दान की महत्ता को स्पष्ट करते हुए मनु का मत है कि गोदान करने से मनुष्य सूर्य लोक को जाता है।[1] याज्ञवल्क्य एवं अग्नि पुराण के अनुसार जो गाय का दान करता है, वह स्वर्ग में रहता है। इसी प्रकार तिल, अन्न आदि के सम्बन्ध में कहा गया है।[2] देवीपुराण में विद्यादान को सर्वोत्तम दान बताया गया है।[3] विद्यादान की बड़ी महिमा गायी गयी है।[4]

निर्णय सिन्धु में देवीपुराण के उद्धरण को देते हुए कहा गया है कि वैशाखमास के शुक्ल पक्ष की और रोहिणी नक्षत्र में जल से भरे

---

[1] मनुस्मृति - 4/237।

[2] A.याज्ञवल्क्यस्मृति - 1/204-5।
B.अग्निपुराण - 2/30।

[3] ध्वजदानप्रसंगेन पुष्पाणि विविधानि च। दानभेदा महापुण्या विद्यादानं तथोतम्।।
विद्यादानेन दानानि नहि तुल्यानि बुद्धिमान्। विद्या विद्या एवं परंमन्ये यत्तत् पदमनुत्तमम्।।
विद्यादानात्परं दानं न भूतं न भविष्यति। येन दत्तेन चाप्नोति शिवं परमकारणम्।। देवीपुराण 1/22 तथा 91/22, 25।

[4] धर्मसिन्धु, श्री वशिष्ठ दत्त मिश्रा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1968, पृ. 6।

घड़े का पूजन कर जो दान करता है वह शिवलोक में जाता है।[1] यद्यपि कि यह कथन वर्तमान देवीपुराण के संस्करण में कुछ पाठान्तर के साथ मिलता है। संस्करण में शिवलोक के स्थान पर ब्रह्मलोक मिलता है किन्तु अर्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है।[2]

दान के धार्मिक उद्देश्य के साथ-2 सामाजिक उद्देश्य भी थे जिसे पूरा करने के लिए विभिन्न प्रकार के दान दिये जाते थे। भूमिदान, ग्रामदान, बौद्ध-विहारों के दान आदि सामाजिक भावना के कारण ही दिये जाते थे। पुत्र प्राप्ति के लिए, मोक्ष प्राप्ति के लिए कन्यादान, पिण्डदान, कुएँ, तालाब, ब्राह्मणों को भोजन कराना, गरीब को दान देना, लोक कल्याण यज्ञ एवं पुण्य प्राप्ति सामाजिक भावना अर्थात् सूर्य-चन्द्रमा की प्रीति के लिए व्यक्ति माणिक, गाय, वस्त्र, बैल आदि विभिन्न प्रकार का दान करता है।[3]

आर्थिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ग्रामदान तथा भूमिदान किया जाता था, जिससे उस आय से दान प्राप्तकर्ता के आवश्यकता की पूर्ति हो सके। इसके साथ व्यक्ति बौद्ध-विहार आदि को भी दान दिया करता था, जहाँ बौद्ध भिक्षु निवास करते थे तथा दान की सामग्री से अपना पोषण करते थे। शिक्षा लिए भी दान दिया जाता था। इस प्रकार

---

[1] तृतीयान्तु वैशाखे रोहिण्यक्षे प्रपूज्यतु।
उद कुम्भ प्रदानेन शिवलोके महीयते।। निर्णयसिन्धु द्वितीय परिच्छेद, पृ. 186।

[2] तृतीयान्तु वैशाखे रोहिर्ण्यक्षे प्रपूज्येत्।
उदकुम्भ प्रदानेन ब्रह्मलोके महीयते।। देवीपुराण 59/3b-4A।

[3] धर्मसिन्धु, श्रीवसिष्ठ दत्त मिश्र, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1968, पृ. 6।

विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए दान दिये जाने का विवरण मिलता है।

दान के महत्व एवं स्वरूप पर स्मृति ग्रन्थों में विस्तृत विवरण मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में स्वर्ण, पशु और पृथ्वी दान के महत्व का उल्लेख हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि मानव देव अर्थात् वेदज्ञ ब्राह्मण को यज्ञ में दक्षिणा दिया जाना चाहिए। तैत्तिरीय संहिता में प्रतिपादित है कि जो व्यक्ति अपना सर्वस्व दान कर देता है उससे बढ़कर तपस्या नहीं है।

भारतीय धर्म में दान का महत्वपूर्ण स्थान है। दान देते समय दान दाताओं के मन में धार्मिक भावना छिपी होती है। दान के विभिन्न प्रकारों में हर दान का अपना विशेष महत्व होता हे। ब्राह्मणों और पुरोहितों को जो दान दिया जाता है, उसे धार्मिक दान कहा जाता है जिसके देने से मन शुद्ध होता है और उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[1] दान श्रद्धापूर्वक देना चाहिए। श्रद्धापूर्वक दिया गया दान आत्मशुद्धि का सर्वोत्तम साधन है। पृथ्वी अचल और अक्षय है। इसलिए पृथ्वी का दान श्रेष्ठ है और इसी कारण पृथ्वी का दान करने वाला समस्त प्राणियों में सबसे अधिक अभ्युदयशील होता है।[2] पृथ्वी का दान करने वाले पुरुष को तप, यज्ञ, विद्या, सुशीलता, लोभ का अभाव,

[1] दानमयूख, नीलकंठ, पृ. 3।

[2] महाभारत अनुशासन पर्व 62,3।

सत्यवादिता, गुरू-सुश्रुषा और देवाराधना इन सबका फल प्राप्त होता है जो देवता, पितरों, ऋषियों, ब्राह्मणों और अतिथियों को अन्न देकर संतुष्ट करता है, उसके पुण्य का फल महान है। अन्नदान करने वाले मनुष्य के बल, ओज, यश और कीर्ति का तीनों लोकों में सदा ही विस्तार होता रहता है।[1] अन्न और जल का दान सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि मनुष्य का जीवन इन्हीं से धारण होता है। सहस्र गौ का दान करने से मनुष्य स्वर्गलोक जाते हैं।[2]

इस प्रकार श्रुतियों, स्मृतियों, पुराणों और महाभारत आदि से दान के महत्व पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है। दान श्रेष्ठता को बताते हुए उसे मानवता और चारित्रिक उच्चता का गुण बताया गया है। दान का महत्व एवं फल धार्मिक दृष्टि के साथ-साथ भौतिक दृष्टि से भी कुछ कम नहीं है। भारतीय समाज में यह परोपकारिता एवं उदात्तता प्रायः सभी युगों और सम्पूर्ण वर्ग के लोगों में देखने को मिलती है।

दान के अंग

प्राचीन साहित्यक साक्ष्यों में दान के अंगों का उल्लेख किया गया है। देवल ने दान के छः अंग वर्णित किये है, जिसमें दाता, श्रद्धा, धर्मयुक्तदेय (उचित ढंग से प्राप्त धन), प्रतिग्रहीता, उचित काल एवं उचित देश (स्थान)। मनु ने भी दान के चार अंगों का उल्लेख किया

[1] महाभारत में धर्म, डा. शकुन्तला रानी तिवारी, 1970, पृ. 196।

[2] महाभारत अनुशासन पर्व, 80, 5।

है- दाता, श्रद्धा, धर्मयुक्तदेय एवं प्रतिग्रहीता। दान के इन अंगों के अन्तर्गत दान के पात्र तथा दान के काल का विस्तार से वर्णन किया गया है।[1]

दान दाता

दान के छः अंगों में दाता के प्रथम स्थान है क्योंकि दान क्रिया का वहीं आधार है और यश-पुण्य का फलदायी होता है। दान-दाता कोई भी व्यक्ति हो सकता है। नारियों और शूद्र जिन्हें अनेक वैदिक क्रियाओं के सम्पादन का अधिकार नहीं है, वे भी दाता हो सकते हैं। व्यास-स्मृति में लिखा है कि सौ में से एक सूर, सहस्रों में एक विद्वान्, शत-सहस्रों में एक वक्ता मिलता है किन्तु दाता तो शायद ही मिल सकता है।[2] दान का योग्य दाता वहीं है, जो श्रद्धा और बिना किसी प्रकार के स्वार्थ की भावना से दान दे। अग्नि पुराण के कथानुसार धर्म का साधन श्रद्धा से होता है और श्रद्धा से दिया हुआ जल भी अक्षय पुण्य का कारण होता है।[3]

दानग्रहीता

दान एवं प्रतिग्रह के पात्रों के सम्बन्ध में है कि माता, पिता, ब्राह्मण, क्षत्रिय, विद्वान्, ऋषि, कल्पमुनि इन आठों में दान का प्रथम

---

[1] मनु 4/226-27।

[2] वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, वाचस्पति गैरोला, पृ. 368।

[3] अग्निपुराण, प्रथम खण्ड।

पात्र ब्राह्मण उसके बाद आगे-आगे दान के पात्र है।[1] मनु ने भी कपटी एवं वेद न जानने वाले ब्राह्मण को दान का पात्र नहीं माना है। इसी प्रकार की जानकारी वृहत्पराशर, महाभारत के वन पर्व, गौतम व विष्णु धर्म-सूत्र आदि में मिलती है।

श्रद्धा

दान के अंगों में श्रद्धा का तीसरा स्थान है। श्रद्धा से दिया गया और लिया गया दान, दान-दाता और प्रतिग्रहीता, दोनों के कल्याण का कारण होता है। अपनी आवश्यकता - अनावश्यकता को दृष्टि में रखकर दिया गया दान वास्तविक श्रद्धा की अभिव्यक्ति का कारण होता है। देवीपुराण में श्रद्धा को स्वर्ग, मोक्ष तथा सम्पूर्ण जगत् ही माना गया है।[2]

धर्मयुक्त देय

देवीभागवत में कहा गया है कि अन्याय से प्राप्त धन का दान न करें क्योंकि वह फलदायी नहीं होती।[3] उचित ढंग से प्राप्त धन धर्मयुक्तदेय है,[4] जो सर्वोत्कृष्ट और अपनी दृष्टि से मूल्यवान और

---

[1] दान-मयूख, नीलकण्ठशास्त्री, पृ. 48।

[2] न कीर्त्तिरिहिलोके न परलोके न परलोके च तत्फलम्। देवीभागवत

[3] श्रद्धा स्वर्गश्र मोक्षश्च श्रद्धा सर्वमिदं जगत्। सर्वस्वं जीवितञ्चापि यदि तद्यादश्रद्धया। देवीपुराण 127/16।

[4] न्यायतो यानि प्राप्तानि शाकान्यपि नृपोत्तम, देवीपुराण 102/3B।

प्रिय है। ऐसे पदार्थ को गुण सम्पन्न प्रतिग्रहीता को देना अक्षय पुण्य का कारण होता है। वह वस्तु देय है, जो किसी को सताये या दुःख दिये बिना अपने परिश्रम से अर्जित हो, वह चाहे बड़ी हो या छोटी, उसके दान का समान महत्व है।

दान के देश

दान के समय के साथ-साथ दान देने के स्थान का अधिक महत्व है। उचित स्थान पर दिया गया दान, सामान्य जगह पर दिये गये दोनों की अपेक्षा विशेष फलदायी होता है। स्मृतियों, पुराणों, निबन्धों में स्थान के विषय में बहुत सी चर्चाएँ हुई है। कहा जाता है कि घर में दिया गया दान दस गुना, गौशाला मे सौ गुना, तीर्थों में सहस्र गुना तथा शिव की आकृति के सामने अनन्त फल देने वाला होता है। स्कन्दपुराण के अनुसार वाराणसी, कुरूक्षेत्र, प्रयाग, पुष्कर, गंगा, समुद्र के तट, नैमिषारण्य, अमरकंटक, श्रीपर्वत आदि, जहाँ देवता व सिद्ध रहते है एवं ऋषियों का पवित्र वास-स्थल है, पर जो दान दिया जाता है, वह अनन्त फल देने वाला होता है।[1] देवीपुराण में भी दान के देश पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इसके अनुसार नन्दा, गया, गंगा, नर्मदा के तट, वाराणसी, कुरूक्षेत्र, प्रयाग, केदार, अमरकण्टक,

[1] दानखण्डम्, हेमाद्रि,पृ. 83।

कालञ्जर तथा विन्ध्यक्षेत्र दान के देश बतलायें गये है। इन स्थलों पर द्रव्य, भूमि, सोना, गाय तथा दान आदि का दान देना कहा गया है।[1]

दान के काल

दान करने के उचित समय के विषय के दान कर्म के अतिरिक्त अन्य विशिष्ट अवसरों में दोनों की व्यवस्था करते हुए धर्मशास्त्रकारों ने लिखा है कि प्रतिदिन के दान कर्म से विशिष्ट अवसरों के दान कर्म सफल एवं पुण्यप्रद माने जाते है। पर्व के अवसर पर दिया गया दान दुगुना तथा ऋतु आरम्भ होने क समय दिया हुआ दान, दस गुना पुण्यदायक होता है। संक्रान्ति, चन्द्र एवं सूर्यग्रहण के अवसर पर दिया हुआ दान, अक्षय बताया गया है। देवी पुराण में पृथक्-पृथक् महीनों पृथक्-पृथक् द्रव्यों के दान विधान तथा उनके फल का भी निरूपण मिलता है।[2] माघ मास में तिल, वैशाख में यवगोधूम, अषाढ़ में चन्दन, गुड़, शक्करा तथा लड्डू आश्विन में कार्तिक में दीपदान आदि।[3] इसके अतिरिक्त तिलधेनुदान[4], घृतमयी धेनुदान,[5] जलधेनुदान[6] की विधि तथा

---

[1] देशं नन्दागया शैलं गंगानर्मदापुष्करम्।
वाराणस्यां कुरूक्षेत्रं प्रयागं जम्बुकेश्वरम्। केदारं भीमनादञ्च दण्डकं पुष्करान्हयम्।।
सोमेश्वरं महापुण्यं तथाअमरकण्टकम्।
कालञ्जरं तथा विंध्यंथत्र वासं गुहस्यतु।।
द्रव्यं भू-हेम-गो-धान्यं तिलवस्त्रघृतादिकम्। देवीपुराण-102/5-8।

[2] देवीपुराण- 104/1-10।

[3] तत्रैव- 104/1-6।

[4] तत्रैव- 104/11-14।

[5] तत्रैव- 105/1-11।

[6] तत्रैव- 106/1-7।

महात्म्य का भी निरूपण किया गया है। महाभारत में घृत, तिल एवं जलधेनु दान का उल्लेख है।[1] अग्निपुराण में दस धेनुओं का विवरण मिलता है।[2]

याज्ञवल्क्य लघुशातातप में लिखा है कि अयनों (सूर्य के उत्तरायण एवं दक्षिणायन) के प्रथम दिन में, षड्शीतो के प्रारम्भ में सूर्य और चन्द्र ग्रहणों के समय दान अवश्य देना चाहिए। अग्नि पुराण में लिखा है कि अयन में, विषुव्यतोपात में दिन क्षय में, युगादि में, संक्रान्ति, चतुद्रशी, अष्टमी, तिथियों में शुक्लपक्ष की पूर्णिमा, सर्वद्वादशी और अष्टकाओं दान दिया जाता है। विषुव दो, षड्शितियाँ चार, विष्णुपदी चार और संक्रान्ति बारह परम उत्तम होती है। कन्या, मिथुन, मीन और धनु राशियों में जब सूर्य की गति होती है, वह भी दान का उत्तम समय है।[3] दान के उक्त अवसरों की जानकारी शिलालेखों से भी मिलती है। सूर्य ग्रहण के अवसर पर भूमि एवं गायों के दान की चर्चा ताम्रपत्रों एवं शिलालेखों में की गयी है। मास, तिथि, नक्षत्र, आदि देखकर दान देने से दान का महत्व अधिक होता है। इस प्रकार के बहुत से निर्देश महाभारत में मिलते है।

---

[1] अनुशासन पर्व- 73/39-41।

[2] अग्निपुराण- 210/11-12।

[3] धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ. पी. वी काणे, पृ. 453।

दान के प्रकार

प्राचीन काल से भारत में दान करना बड़ा पुण्य का कार्य माना जाता है। अन्न, जल, सोना, चाँदी, भूमि, कन्या, गौ, तिल, अश्व आदि विभिन्न प्रकार के दान दिये जाते हैं और प्रत्येक दान का अपना-अपना विशिष्ट फल होता है। देवीपुराण में नन्दादेवीशास्त्र में परंगत को सोना, वस्त्र, मणि देने का निर्देश है। इसी स्थल पर कन्याओं और स्त्री को वस्त्र, दक्षिणा आदि, विप्र को अन्नदान देने को कहा गया है। ऐसा करने वाला सभी पापों से मुक्त हो जाता है।[1] भगवद्गीता में दान के तीन प्रकार बताये गये हैं, जो निम्नानुसार है -

1. सात्विक दान - जो दान देशकाल एवं पात्र का विचार करके दिया जाता है, वह सात्विक दान कहलाता है।

2. राजस दान - उपकार की भावना से जो दान दिया जाता है, वह राजस दान कहलाता है।

3. तामस दान - अयोग्य को, असमय में स्थान का विचार किये बिना, जो दान दिया जाता है, वह तामस दान कहलाता है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में भी उपरोक्त तीनों प्रकार के दानों का वर्णन किया गया है। गरूड़ पुराण में भी तीन प्रकार के दान बताये गये है -

---

[1] दानं च काञ्चनं देयं नन्दाशास्त्रार्थपारगे।
अन्नदानं ददेद् विप्र कन्यायां स्त्रीजनेषु च।
श्वेतानि चैव वस्त्राणि तथा देयानि दक्षिणा।।
मुच्यते सर्वपापैस्तु जनमान्तरकृतैरपि।। देवीपुराण- 99/15, 19-20।

1. कायिक दान -योग्य व्यक्ति को स्वर्ण का दान देना कायिक दान है ।

2. वाचिक दान - दुःखी व्यक्ति को अभय दान देना वाचिक दान है ।

3. मानस दान - विद्या आदि पढ़कर मननपूर्वक द्विजों को ज्ञान देना मानस ज्ञान है ।[1] पद्मिनी मेमन ने पुराणों के आधार पर दान के निम्नलिखित चार प्रकार बताये है -

1. नित्यदान - फलेच्छा से आसिवत के बिना दिया हुआ दान नित्यदान है ।

2. नैमित्तिक दान - पापशमन के लिए दिया हुआ दान नैमित्तिक कहलाता है ।

3. काम्यदान - पुत्र, ऐश्वर्य या सम्पत्ति की इच्छा से किया गया दान काम्य कहलाता है ।

4. विमल दान - भगवद् प्रीत्यर्थ दिया गया दान, विमल दान कहलाता है ।[2]

महादान

कुछ वस्तुओं का दान महादान कहलाता है । अग्नि पुराण के अनुसार दस महादान है- सोना, अश्व, तिल, हाथी, रथ भूमि, घर

---

[1] दानमयूख, नीलकण्ठशास्त्री, पृ. 16 ।

[2] पुराण सन्दर्भ कोष, प्रथम खण्ड, पद्मिनी मेमन, पृ. 110 ।

दुलहिन, कपिला गाय आदि माने गये है।[1] सुत, शौर्य, तप, कन्या, राज्य और शिष्य से आये हुए शुल्क-दान कहते हैं। पुराणों में सामान्यतः महादानों की संख्या 16 है। हाथी-गुम्फा अभिलेख में कल्पवृक्ष दान का उल्लेख आया है। अभिलेखों में कला-पुरुष का उल्लेख कई बार हुआ है।[2] महादान देने की विधि की चर्चा मत्स्य पुराण के 400 श्लोकों में हुई है। इन श्लोकों तथा भविष्योत्तर पुराण के बहुत से पद्यों को अपराक्र में उद्घृत किया है। हेमाद्रि ने महादानों की विधि का विशद वर्णन किया है जिसमें लिंग, गरूड़ आदि पुराणों तथा आगम ग्रन्थों से उद्धरण दिये गये हैं। दानमयूख ने भी 16 महादानों की चर्चा की है। मत्स्य पुराण ने लिखा है कि वासुदेव, अम्बरीष, भार्गव, कार्तवीर्य, अर्जुन, राम, प्रह्लाद, पृथु भरत आदि ने महादान किये थे। देवीपुराण में महादीन, गोदान को महादान कहा गया है।[3] देवीपुराण में यह भी प्रतिपादित है कि गोदान, भूदान, रत्नदान, तिलदान आदि से विशिष्ट दान वसुधारा दान होता है। करोड़ों ब्राह्मणों के भोजन कराने के बराबर वसुधारा दान है। इसके करने से सर्वदा देवी प्रसन्न रहती है, विद्या, सौभाग्य, पुत्रादि, आयु, आरोग्य सभी

[1] अग्निपुराण, 209/23-24।

[2] एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 7, पृ. 26।

[3] महादीनं च गोदानं हेमवस्त्रतिला जलम्। धान्यदीपान्नदानं च महादानानि दानसु।। देवीपुराण-91/17।

अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है ।[1] कई श्लोकों में इस दान की महत्ता बतलायी गयी है ।

दान का वर्गीकरण

दान के बहुत से प्रकार बताये गये हैं। इसके महत्व एवं उपयोगिता के अनुसार इसका वर्गीकरण करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि दान की वस्तुओं का वर्गीकरण किया जाय, तो वे दो उप-विभागों में विभक्त किये जा सकते हैं -

1. **उत्पादक वस्तुएँ** - इस वर्ग के अन्तर्गत दान की उन वस्तुओं को रखा जाता है, जिसके दान से अधिक लाभ होता है और आय की अभिवृद्धि होती है । इस वर्ग के अन्तर्गत ग्रामदान, भूमिदान, पशुओं का दान, द्रव्यदान, भूमिदान विहार को दान आदि सम्मिलित किये गये हैं ।[2]

2. **अनुत्पादक वस्तुएँ** - इस वर्ग के अन्तर्गत दान की उन वस्तुओं को रखा गया है, जिनका अन्त स्वाभाविक था। इसका उपयोग ही कार्य का अंत था। भोजन, वसा, ईधन, कम्बल, पुस्तक, धातु की वस्तुएँ आदि दोनों की गणना इसके अन्तर्गत की जाती है । इसके अतिरिक्त द्रव्य एवं गुणों के आधार पर भी दान को वर्गीकृत किया गया था।

[1] देवीपुराण- 25/4-12 ।

[2] प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर, डॉ वासुदेव उपाध्याय, पृ. 133 ।

देवीपुराण में पुस्तक दान का भी उल्लेख मिलता है। देवीपुराण में वर्णित पुस्तक दान के ऊपर पाल प्रतापदीत्य ने एक विद्वतापूर्ण निबन्ध लिखा है। विद्वान् विचारक ने प्रस्तुत निबन्ध गम्भीरतापूर्वक विचार किया है।[1]

भूमिदान

प्राचीन काल से ही भूमिदान को सर्वोच्च पुण्यकारी कृत्य माना जाता रहा है और ब्राह्मणों को दान में दिये गये ग्राम या भूमिखण्ड "अग्रहार" के नाम से ज्ञात रहे है।[2] विष्णुधर्मोन्तार, मत्स्य पुराण, वशिष्ठ धर्मसूत्र, महाभारत आदि में भूदान की महत्ता की प्रशंसा की गई है। अनुशासन पर्व में कहा गया है कि परिस्थितिवश व्यक्ति जो कुछ पाप कर देता है, वह भूदान से मिट सकता है। अपरार्क ने विष्णु धर्मोत्तर, आदित्य पुराण एवं मत्स्य पुराण को उद्धृत कर लिखा है कि भूदान से उच्च फलों की प्राप्ति होती है। वन पर्व में लिखा है कि राजा शासन करते समय जो भी पाप करता है, उसे यज्ञ एवं दान करके ब्राह्मणों को भूमि, सहस्रों गायें देकर नष्ट कर देता है। जिस प्रकार

[1] The Gift of books according to the Devipuran by Pal Pratapaditya, P. 49-52.
Kusumangli, New Interpretation of Indian Art & Culture SH.C. Sivaramamurti Commemoration Volume, Editor M.S. Nagaraja Rao.
[2] एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 1, पृ. 88।

चन्द्र राहु से छुटकारा पा जाता है, उसी प्रकार राजा भी पाप से मुक्त हो जाता है। भूमिदान को उल्लेख देवीपुराण में भी मिलता है।[1]

भूमिदान के महत्ता के कारण स्मृतियों ने इसके विषय में बहुत से नियम बनाये है। अभिलेखों में भी भूमिदान से संबंधित पर्याप्त जानकारी मिलती है। गुप्तकालीन अभिलेखों एवं दानपत्रों में ग्रामदान एवं भूमिदान का उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलता है। भूमिदान करने का अधिकार मात्र राजा को नहीं था, वरन् प्रजा को भी था, जो खेती करता था तथा जिसका भूमि पर अधिकार है। दान में दी हुई भूमि से राजा कर नहीं प्राप्त करता था। सम्पूर्ण भूमि या पृथ्वी का स्वामी राजाा को माना जाता था। प्रजाजन केवल भोगी या अधिकार मात्र थे। मिताक्षरा ने लिखा है कि भू-दान करने या निबंध देने का अधिकार केवल राजा को है न कि किसी जनपद के शासकों के मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य, 2.1, 4) ने एक स्मृति की उक्ति उद्धृत की है। छः परिस्थियों में भूमि दी जाती है - स्वयं, ग्राम-जातियों, (जाति भाई लोग), सामन्तों दायादों की अनुमति तथा संकल्प जल से। यहाँ राजा की अनुमति की चर्चा नहीं है किन्तु कभी-कभी राजा की आज्ञा की भी आवश्यकता समझी जाती थी।[2]

---

[1] A. गोभूहिरण्य रत्नैश्च अन्यानपि क्रमागतान्।। देवीपुराण - 67/65।
B. एकोच्चारेण भूदानं दत्तं भवति भूमिप। न हि तद्विद्यते भूय देहपातादनन्तरम्।। देवीपुराण - 91/19।

[2] गुप्ता इंस्क्रिप्शंस, संख्या 31, पृ. 133।

इस प्रकार समस्त पृथ्वी पर राजा का अधिपत्य मानना उचित नहीं है। राजा सिर्फ भूमि कर का अधिकारी था। राजा स्वयं भूमि खरीद कर दान देता था। इस प्रकार राजा एवं प्रजा दोनों को भूमि - दान करने का अधिकार था।

अभिलेखों में भी ग्रामदान का उल्लेख है, ताकि उस ग्राम की आय को ग्रहीता अपने व्यवहार में ला सके। अभिलेखों ये यह व्यवस्था भी ज्ञात होती है कि "जो दान मे दी गई भूमि का अपहरण करता है, वह पितरों सहित विष्ठ का क्रीड़ा होगा और भूमि - दान देने वाले व्यक्ति हजार वर्ष तक स्वर्ग में रहेगा। जो उसका अपहरण करता उतने वर्ष तक नरक में रहेगा।"[1]

दान-लेख

भारत एक धर्म प्रधान देश है तथा इसके कारण दान करने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। इससे सम्बन्धित महत्वपूर्ण साक्ष्य भी उपलब्ध है। इसी बात को ध्यान में रखकर शासक समय-समय पर दान लेख जारी करते रहे है। मौर्य काल में बराबर पर्वत का गुहा-लेख दान का सबसे प्राचीनतम् उदाहरण है। अशोक के धर्म में दान का महत्वपूर्ण स्थान है। दानात्मक लेखों को राजबलि पाण्डेय ने चार भागों में विभाजित किया है - भूदान सम्बन्धि लेख,

---

[1] प्राचीन भारतीय अभिलेख, परमेश्वरी लाल गुप्त, पृ. 133।

धनदान सम्बन्धि लेख, अन्य वस्तुओं से सम्बन्धि लेख, ग्रामदान या भूमिदान सम्बन्धि लेख।[1] अशोक के काल से लेकर लगभग तेरहवीं शताब्दी तक अभिलेखों में दान सम्बन्धि महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है।

याज्ञवल्क्य के सबसे प्राचीन टीकाकार विश्वरूप ने लिखा है कि दानपत्र पर राजा के साथ-साथ आज्ञादूतक आदि राजकर्मचारियों, रानी, राजमाता आदि के नाम उल्लिखित होने चाहिए। अब तक प्राप्त शिलालेखों या दान पत्रों का अवलोकन करें तो पता चलता है कि स्मृतियों की उपर्युक्त उक्तियों का पालन होता रहा है, विशेषतः पाँचवी शताब्दी से याज्ञवल्क्य, बृहस्पति आदि की उक्तियों के अनुसार ही दान-पत्र लिखे जाते रहें।

इस प्रकार प्राचीन काल से ही भारत में दान करना बड़ा पुण्य का कार्य माना जाता है। इसके उद्भव के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। भारत में दिये जाने वाले दान के सम्बन्ध में विस्तृत अध्ययन किये जाने से हमें ज्ञात होता है कि समय के साथ-साथ दान के स्वरूप में भी पर्याप्त भिन्नताएँ आती गई, जिसके परिणाम-स्वरूप दान देने और दान लेने का दायरा विस्तृत होता गया। इस प्रकार दान के विभिन्न प्रकारों ने निश्चित रूप से भारतवर्ष की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थितियों को समय-समय

[1] हिन्दू धर्म कोश, डॉ. राजबली पाण्डेय, पृ. 319।

में प्रभावित कर युग-परिवर्तन का परिचय दिया। अतएव यह ठीक ही कहा गया है कि **"गौरवं प्राप्यते दानान्न न तु वित्तस्य सञ्चयात्"** ।

व्रत-उपवास

व्रत शब्द बहुत प्राचीन है। ऋगवेद में उसका अनेक बार प्रयोग हुआ है।[1]

व्रत शब्द वारण करना अर्थवाली वृ धातु से बना है - वृणोति वारयति वा इति व्रतम - अर्थात् जो कर्म वारण करता है या रोकता है या दूर रखाता है वह व्रत है।

यह व्युत्पति यास्क ने अपने निरूक्त में दी है।[2]

व्रत शब्द वरणार्थक वृ धातु का निष्ठा (भूत-कर्म-कृदन्त अर्थात (Past Passive Participle) का रूप है- वृ वरणे, कर्मणि क्तः व्रियते इति व्रतम - अर्थात् जो कर्म वरण किया जाय, स्वीकार किया जाय, ग्रहण किया जाय वह व्रत है।[3]

---

[1] ऋगवेद में व्रत शब्द का प्रयोग 220 से अधिक बार हुआ है।(पूना के वैदिक संशोधन मण्डल द्वारा प्रकाशित ऋगवेद संहिता, भाग 5 में दी गयी पद सूचि, पृष्ठ 572 तथा 767)।

[2] व्रतम् इति कर्म-नाम, वृणोति इति सतः। निरुक्त 2/4/13/8।

[3] व्रियते इति वृञ वरणे, बाहुलकात् अतच् स च कित्। शब्दकल्पद्रुम।

संस्कृत के सुप्रसिद्ध यूरोपीय कोषकार रौथ, बौटलिंक तथा मोनियर विलियम्स अपने कोषों में, तथा मैक्डालन अपने वैदिक ग्रामर में इसी व्युत्पति को स्वीकार करते जान पड़ते हैं ।[1] भारतीय विद्वान् पांडुरंग वामन काणे ने भी इसी व्युत्पति को स्वीकार किया है ।[2]

संस्कृत व्याकरणकार ह्विटनी ने भी इत मत को उल्लेख अपने संस्कृत व्याकरण में किया है ।[3]

व्रत शब्द वृत धातु के साथ अत्रत्यय के योग से बना है। इस मत के प्रतिपादक सुप्रसिद्ध संस्कृत व्याकरणकार ह्विटनी हैं । प्रोफेसर वी. एम. आप्टे उससे सहमत हैं। आप्टे वृत धातु का अर्थ निवर्तन (लौटना) करते हैं और ह्विटनी चलना, आगे बढ़ना।

एक मत यह भी है कि व्रत शब्द वर्जन अर्थ वाली धातु के साथ घ (=अ) प्रत्यय जुड़ने से बना है। व्रत्यते (= वर्ज्यते) सर्व-भोगः यत्र तद् व्रतम अर्थात् जिसमे सब भागों का वर्जन हो, वह व्रत होता है ।

साधारणतया व्रत शब्द की व्युत्पत्ति करणार्थक वृ धातु से ही मानी जाती है पर व्याकरण की दृष्टि से वृत धातु से भी मानी जा सकती है ।

---

[1] वैदिक ग्रामर, मैकडानल, अनुच्छेद- 145, पृष्ठ 121 ।

[2] हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पी0वी0 काणे, खण्ड 5, अध्याय 1 ।

[3] संस्कृत ग्रामर, ह्विटनी, अनुच्छेद 1176 सी, पृ. 442 ।

अर्थात् चलना, करना, आचरण करना, जिस पर चला जाय या जिसका आचरण या पालन किया जाय, वह व्रत है ।

व्रत शब्द की व्युत्पत्ति के समान ही उसके अर्थ के विषय में भी विभिन्न मत है -

निघुंट में व्रत 'कर्म' का नाम अर्थात् पर्याय बताया गया है ।[1]

किया हुआ शुभ या अशुभ कर्म कर्ता को सदा आवृत या आच्छादित करता है अतः उसे व्रत कहते हैं ।

निवृति कर्म से अभिप्राय यम-नियम रूप कर्म से है जो अग्नि के समीप्य में ग्रहण किया जाता है क्योंकि वह विषयों में प्रवृत्त होते हुए मनुष्य को रोकता है ।

पाणिनी ने व्रत शब्द का अनेक बार प्रयोग किया। व्रत से उनका अभिप्राय ग्रहण किये हुए नियम से जान पड़ता है ।[2]

उपवास शब्द उप उपसर्ग युक्त वस् धातु के साथ अ (=घ ञ्) प्रत्यय जोड़ने से बनता है । इस शब्द का व्युत्पतिजन्य अर्थ है - पान में रहना । इस शब्द का अर्थ भविष्यपुराण में इस प्रकार किया गया है -

---

[1] निघण्टु- 2/1 ।

[2] सिद्धान्तकौमुदी, सूत्र 2677 ।

"पापों से दूर रहकर दया, शान्ति, अनसूया, शोच आदि गुणों के साथ निवास, जिसमें सब भोगों का वर्जन होता है, उपवास कहलाता है। सच्चा उपवास तो परमात्मा का चिंतन करते हुए उसके साथ तन्मय हो कर रहना है। इसके लिए अन्न त्याग उपकारी कहा गया है"।[1] गीता में कहा गया है - **"विषयाविनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।।**

देखा जाता है कि पाप अथवा कलुषित भावनाओं से मुक्त होकर चित्तवृत्तियों को आत्मा अथवा सद्‌गुणों में संनिविष्ट करने की प्रेरणा उपवास के समय अधिक होती है।

"पाप निघृत्या गुणानुष्ठान संहिता निराहारस्य वासः अवस्थानम् उपवासः"।

मूल में उपवास व्रत का एक अंग था, पर आगे चल कर वहीं प्रधान हो गया और धीरे-2 व्रत का अर्थ उपवास ही हो गया और दोनों एकाधिक हो गये। जनता में व्रत का आज यहीं अर्थ प्रचलित है।

व्रत शब्द के अर्थ को और अधिक विस्तार देते हुए धर्मशास्त्रों में बहुत कुछ विचार विमर्श किया गया है। मध्यकालीन भाष्यों में व्रत की तुलनात्मक आख्या से प्रचुर मात्रा में शबर ने संकल्प के साथ

---

[1] उपावृत्तस्य पापेभ्यो यश्चवासो गुणैः सह।
उपवासः स विज्ञेयः सर्व-भोग विवर्जितः।। भविष्य पुराण

प्रारम्भ किये गये मानसिक कर्म को व्रत कहा है।[1] मनुस्मृति पर व्याख्या करते हुए मेधातिथि भी इस अर्थ को स्वीकार करते से प्रतीत होते हैं।[2] अग्निपुराण के अनुसार शास्त्रों द्वारा विहित निषेधात्मक नियम ही व्रत है और तप का ही दूसरा नाम व्रत कहा गया है। व्रत नियम भी है। व्रत-कर्ता को व्रत-पालन में अनेक कठिनाईयों का सामना करना है - अतः यह तप है, और व्रत-पालक को इन्द्रियों का अनेक प्रकार से दमन करना पड़ता है अतः इसे नियम कहा गया है।[3] अमरकोष ने व्रत और नियम को एक दूसरे का पर्याय कहा गया है और व्रत को उपवास और पुण्य से सम्बन्धित बताया गया है।[4] याज्ञवल्क्य स्मृति के मिताक्षरा भाष्य के अनुसार व्रत एक मानसिक संकल्प है जो कुछ कर्म सम्पन्न करने अथवा न करने के लिए किया जाता है, और जिसका पालन कर्तव्य रूप में किया जाना चाहिए।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि श्री दन्त, शबर और मिताक्षरा की व्याख्या को स्वीकार करते हैं। समयप्रदीप में दी गई उनकी व्याख्या निम्न प्रकार है - व्रत एक निश्चित संकल्प है जो किसी कर्म के संबंध में कर्तव्य के रूप में पालनीय स्वीकार हो। संकल्प

---

[1] व्रतमिति च मानसं कर्मोच्यते इदं न करिष्यामी तिः यः संकल्पः" जैमिनी सूत्र पर शबर भाष्य - VI-2-20।

[2] "मानसः संकल्पो व्रत मुच्यते"। मेधातिथि व्याख्या मनुस्मृति पर 4/13।

[3] शास्त्रो दिनो हि नियमो व्रतं तच्च तपो मतम्। नियमास्तु विशेषास्तु व्रतस्यैव दयादयः।
व्रतं हि कर्तृसन्तापात्तप इत्यभि धीयते। इन्द्रियग्राम नियमान्नियमश्चाभिधीयते।।
अग्निपुराण - 175/2-3।

[4] "नियमो व्रतमस्त्री तच्चोपवासादि पुण्यकम्" अमरकोश।

[5] "एवं श्रौतस्मार्तानि कर्माण्यभि धायेदानीं गृहस्थ स्नानादारभ्य ब्राह्मणास्यावश्यक कर्तव्यानि विधि प्रतिषेधात्मकानि मानससंकल्परूपाणि स्नातक व्रतान्यह"।। याज्ञवल्क्यस्मृति पर मिताक्षरा टीका - 1/129।

दो प्रकार का हो सकता है - (क) भाव विषयक (ख) अभाव विषयक, अर्थात् स्वकर्त्तव्याकर्तव्य का निर्धारण करने वाला संकल्प व्रत है ।[1] जो संकल्प शास्त्र विहित शर्तों के साथ पूरा नहीं किया गया हो, उसे वे व्रत नहीं मानते । यदि संकल्प के साथ कोई शर्त निबद्ध होकर व्यक्ति की दुर्बलता को प्रकट करती है तो वह संकल्प, संकल्प नहीं रह जाता और जब वह संकल्प ही नहीं है तो उसे व्रत की संज्ञा भी नहीं दी जा सकती । इसी प्रकार क्षीण बुद्धि और अज्ञानी व्यक्तियों के संकल्प की स्थिति है । व्रत विषयक इस वर्ग के मनुष्यों के संकल्प को श्री दन्त शारीरिक कष्ट मात्र मानते है ।

कृत्य रत्नाकार में कई एक धर्माचार्यो द्वारा स्थापित मान्यताओं का संग्रह किया गया है । देवेश्वर और व्रताक्र के अनुसार व्रत कांड से सम्बन्धित कर्मों के बन्धन को ही व्रत कहा गया है ।[2] लघुविष्णु के अनुसार संकल्प व्रत का प्रारम्भिक चरण कहा गया है, उसी प्रकार जैसे देव-सम्मान में किये जाने वाले मंत्रों के जाप के लिए हम ऋत्विज के चयन को प्रथम चरण मानते हैं ।[3]

शूलपाणि भी व्रत शब्द की व्याख्या श्रीदत्त के पद चिन्हों पर ही करता है । रघुनन्दन, नारायण और श्री दत्त की इस मान्यता को स्वीकार

[1] स्व कर्तव्य विषयो नियतः संकल्पो व्रतम् । स च द्विविधोभाव विषयोऽभाव विषयश्च । तथा इदं कर्तव्यमेव तथा इदं मया न कर्तव्य मेवेती । समयप्रदीप पृ. 26-36 ।

[2] कृत्यरत्नाकर, पृ. 633 ।

[3] मदन परिजात, पृ. 423 ।

नहीं करते कि संकल्प ही व्रत है। नारायण उपाध्याय कर्तव्य के रूप में दीर्घकाल तक पालनीय संकल्प ही व्रत हैं।[1] रघुनन्दन के अनुसार व्रत उन पूजा - अनुष्ठानों को कहते है जिनके विषय में संकल्प लिया जाता है - अर्थात् व्रत उपवास या प्रयुक्त होने वाले शास्त्रोक्त नियम ही व्रत है।[2] शास्त्रोक्त शब्द का व्यवहार करने की आवश्यकता उन्हें इसलिए पड़ गयी कि वे उन सभी नियमों को जो ऋतुकालागामी हो, व्रत नहीं मानते। वीरमित्रोदय के अनुसार जिस प्रकार मनीषियों द्वारा सुपरिचित मंत्रों को ही मंत्र के रूप में स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार व्रत भी उन विशेष संकल्पों को ही कहा जाना चाहिए[3] जो विद्वान् आप्त पुरुषों द्वारा सुपरिचित है। धर्मसिंधु के अनुसार व्रत धार्मिक अनुष्ठान स्वतः आ जाते हैं। प्रेरणा के रूप में अथवा अनुष्ठानों के मूल में संकल्प की आवश्यकता अवश्य होती है। इस प्रकार के मूल में अनुष्ठान में स्नान, प्रातः, संध्या, संकल्प, होम, व्रत के अधिष्ठातृ देव की पूजा, उपवास, ब्राह्मण भोजन, सुवासिनी अर्थात् सौभाग्यवती स्त्रियों के भोजन, गरीबों, अपाहिजों और असहाय व्यक्तियों को यथाशक्ति दान आदि सभी प्रवृत्तियों का समावेश हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रघुनन्दन द्वारा प्रस्तुत व्याख्या और धर्मसिन्धु में दी गई यह मान्यता व्रत के सही अर्थ का प्रतिपादन करती है। देवीपुराण में व्रत तथा

---

[1] एकादशीतत्व, रघुनन्द, पृ. 2।

[2] एकादशीतत्व, रघुनन्द, पृ. 7, 8।

[3] तत्र व्रतं नाम "अभियुक्त व्रत प्रसिद्धि विषयः संकल्प विशेष"। अभियुक्त मंत्र प्रसिद्धि विषय मंत्रवत।। व्रत प्रकाश पत्र संख्या 11।

उपवास का उद्देश्य तथा अर्थ का सम्यक निरूपण किया गया है। व्रत लोकोपकार के क लिए बताये गये है। व्रत में उपवास का विधान है।[1] शास्त्रों में व्रत के तीन प्रकार बतायें गये हैं-(1). नित्य, (2). नैमित्तिक और (3). काम्य[2]

नित्य व्रत वे हैं जो नियमित रूप से आते है और जिनका करना आवश्यक कहा गया है जैसे एकादशी का व्रत। नैमित्तिक व्रत किसी विशिष्ट निमित्त के उत्पन्न होने पर किये जाते हैं जैसे ग्रहण, पुत्र जन्म, विवाह आदि अवसरों पर किये जाने वाले व्रत। प्रायश्चित के व्रत भी इसी कोटि में आते हैं। नैमित्तिक का करना भी आवश्यक कहा गया है। काम्य व्रत वे होते हैं जो किसी कामना की सिद्धि या किसी फल के लिए किये जाते है। श्रेष्ठ वर की प्राप्ति, सौभाग्य की प्राप्ति, पति - पुत्र की कल्याण कामना आदि के लिए किये जाने वाले व्रत काम्य व्रत हैं। अधिकांश जन इस तीसरी कोटि में व्रत करते हैं।

नित्य और नैमित्तिक व्रतों को करने से व्रती पुण्य का भागी होता है, पर न करने से पाप का भागी होता है। काम्य व्रतों को करना या न करना, करने वालों की इच्छा पर निर्भर है। करने से वह अभीष्ट फल को प्राप्त करता है, पर न करने से पाप का भागी नहीं होता।

---

[1] देवीपुराण - 78/2-3।

[2] व्रत-परिचय, हनूमान शर्मा, पूर्वांग, पृ. 3।

मानस, कायिक और वाचिक व्रत

पद्म पुराण[1] में व्रतों के मानस, कायिक और वाचिक ये तीन प्रकार के बतायें गये हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अकल्कता (सरलता) ये मानस व्रत हैं, उपवास एक मुक्त (अहोरात्र में एक बार भोजन), व्यक्त (अहोरात्र में एक बार रात्रि में भोजन), और श्रयाचित (बिना माँगे ही प्राप्त हुए भोजन से निर्वाह) ये कायिक या शारीरिक व्रत है, और वेदाध्ययन विष्णु कीर्तन, सत्य भाषण, हित भाषण, मित भाषण, मृदु भाषण और अनिद्रा ये वाचिक व्रत हैं। वराहपुराण[2] हेमाद्रि[3] आदि में भी ये ही भेद स्वल्प परिवर्तन के साथ वर्णित हैं। इसमें वराह पुराण का प्रसंग देकर अकल्कता के स्थान पर अकल्मर्ष पाठ दिया गया है।

प्रवृत्ति - निवृत्ति भेद

प्रवृत्ति और निवृत्ति भेद से भी व्रतों के प्रवृत्ति व्रत और निवृत्ति व्रत ये दो भेद किये गये हैं। मैं यह कर्म करूँगा, यह संकल्प किया हुआ व्रत प्रवृत्ति व्रत कहा जाता है और मैं यह कर्म नहीं करूँगा, इस संकल्प क साथ किया हुआ व्रत निवृत्ति व्रत कहलाता है।

---

[1] पद्मपुराण - 4/84/42-44।

[2] वराहपुराण 37/4-6।

[3] हेमाद्रि (व्रतखण्ड) I. P. 32।

कालांगों के आधार पर व्रतों के भेद

कालांगों में प्रमुख तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण और मास हैं। महीने में दो पक्ष होते है और प्रत्येक पक्ष में साधारणतया किये 15 तिथियाँ होती हैं।

इन सभी तिथियों के व्रत हैं, किसी-किसी तिथि को एक से अधिक व्रत भी होते हैं। कुछ व्रत वर्ष में एक ही बार आते हैं, और कुछ प्रतिमास या प्रति पक्ष आते रहते हैं। (क). वर्ष में एक ही बार, जैसे - रामनवमी का व्रत - चैत्र शुक्ला नवमी को जन्माष्टमी का व्रत-भाद्र कृष्णा अष्टमी को तुलसी - त्रिरात्र, व्रत कार्तिक शुक्ला नवमी से एकादशी तक शिवरात्री का व्रत - फाल्गुन कृष्णा चतुदर्शी को आता है। (ख). वर्ष में बार-बार, जैसे - एकादशी का व्रत प्रतिपक्ष की एकादशी को प्रदोष व्रत प्रतिपक्ष की त्रयोदशी को, सत्यनारायण का व्रत प्रतिमास की पूर्णिमा को आता है। देवीपुराण में भगवान शिव के व्रत का विशद् विवेचन मिलता है। पूरे वर्ष के प्रत्येक मास में कृष्ण पक्ष की अष्टमी तिथि को इस व्रत का विधान होता है। उस दिन उपवास रखा जाता है।[1] इसे "व्रतानां प्रवरं व्रतम्" कहा गया है।[2] इस स्थल पर प्रत्येक मास में भगवान शिव के विभिन्न नामों, मासों में क्या आहार ग्रहण कर व्रत का पालन करने क्या फल प्राप्त होता है? उसका भी

[1] देवीपुराण - 78/7।
[2] तत्रैव - 78/2।

सम्यक् रूप से निरूपण किया गया है ।[1] जैसे - मार्गशीर्ष में शंकर, पौष में शम्भू, माघ में महेश्वर, फाल्गुन में महादेव, चैत्र में स्थाणुनाम, वैशाख में शिव, ज्येष्ठ में पशुपति, आषाढ़ में चोग्रनामानम् आदि । अन्त में यह कहा गया है कि वर्ष भर लगातार जो व्यक्ति कृष्णाष्टमी व्रत रखता है वह सभी पापों मुक्त हो जाता है, सभी ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है तथा शिवलोक में रहता है ।[2]

देवीपुराण में उमामहेश्वर व्रत का विस्तृत विधान प्रतिपादित है ।[3] नारायणव्रत के विधान के विधान में यह बताया गया है कि पीतवस्त्र के शिव को चढ़ाना चाहिए ।[4] गोरत्न व्रत करने का भी उल्लेख मिलता है । इस व्रत के करने से सभी पापों और दुःखों से मुक्त होकर अन्त में परमपद को प्राप्त करता है ।[5] शुक्ल पक्ष की तृतीया के दिन शिव और उमा का चित्र निर्माण कर गुग्गुल व्रत का दिशा-निर्देश है । इसे **"अवियोगाय नारीणां व्रतराजं सदा हितम्"** कहा गया है ।[6] इस व्रत को जो संवत्सर भर करता है, वह संग्राम में अपराजेय रहता है । उसे भ्रातृ वियोग, व्याधि आदि से मुक्त रहता है ।[7]

---

[1] तत्रैव - 78/8-23 ।

[2] वर्षमेकं चरेदभक्त्या नैरेन्तर्येण यो नरः । कृष्णाष्टमी व्रतं भक्त्या तस्य पुण्यफलं शृणु ।।
सर्वपापविनिमुक्तः सर्वैश्वर्यं समन्वितः । वसेच्छिवपुरे दिव्यं न चेहायाति कर्हिचित् ।।
देवीपुराण 78/22-23 ।

[3] देवीपुराण - 79/1-18 ।

[4] तत्रैव - 79/2 ।

[5] तत्रैव - 64/1-6 ।

[6] तत्रैव - 65/1-3 ।

[7] तत्रैव - 65/5-10 ।

वार व्रत - ये व्रत निद्रिष्ट वारों को किये जाते हैं। सात वार होते है और सातों ही वारों के व्रत होते हैं।

नक्षत्र-योग - करण व्रत - निद्रिष्ट नक्षत्रों, योगों या करणों को किये जाने वाले व्रतों का उल्लेख पुराणों में मिलता है। योग व्रतों में व्यतीपात का व्रत तथा करण व्रतों में बव, विष्टि आदि व्रतों का उल्लेख हुआ है। देवीपुराण में नक्षत्र व्रत का विशद विवेचन मिलता है। अध्याय एक सौ एक में मनु ने रूप सौभाग्य कारक नक्षत्र विधि का वर्णन बतलाया है।[1] इस स्थल पर किस नक्षत्र में किस अन्न का भोजन, नैवेद्य, पुष्प आदि का भी विधान प्रतिपादित है।[2] अन्त में इसे "नक्षत्राख्यं महापुष्यं वतानान्तु व्रतोत्तमम्" कहा गया है।[3] पदव्रत महान ऐश्वर्य का प्रदायक कहा गया है।[4]

मासव्रत - मास या महीने बारह होते है। कभी-कभी तेरहवाँ महीना भी आता है, जिसे पुरुषोत्तम मास कहा जाता है। पुराणों में बारहों महीनों के व्रतों का वर्णन है। सभी महीनों के माहात्म्य पुराणों में वर्णित है। प्रायः इन्ही माहात्म्यों के अन्तर्गत मासों के व्रतों का वर्णन

---

[1] अतः परं प्रवक्ष्यामि रूप सौभाग्यकारकम्। नक्षत्र विधिना वत्स यथा तुष्यति शंकरी।
मार्गादरभ्य मूलेन पादौ जातिमयैः स्रजैः। पूजयेत्सोपवासस्तु नक्षत्रोक्तं तु पारणम्।।
देवीपुराण 101/1-2।

[2] हास्यन्तु शतभिषैज्या नागकेशरचन्दनैः। खर्जूर शक्रा भोज्यं नासिकासु मघां यजेत्।।
यवपुष्पैस्त था भोज्यं गोधूम कृति संस्कृतम्। मृगनेत्रे तु देव्यायाः सुगन्धैः कुसुमैर्यजेत्।।
देवीपुराण 101/16-17।

[3] देवीपुराण 101/28।

[4] तथा त्वमपि राजेन्द्र कुरुष्वेदं पदव्रतम्। महदैश्वर्यकांक्षाय देवी प्रत्यक्षकारिणे।। देवीपुराण 102/17।

मिलता है। देवीपुराण में आश्विन नवरात्र में उपवास रखने को कहा गया है। अष्टमी के दिन देवी की पूजा कर दान आदि करने को कहा गया है।[1] इसी स्थल पर बारहों महीनों में नन्दा देवी के विभिन्न नामों व्रतों का उल्लेख प्राप्त होता है। देवी क विभिन्न वस्त्रों से विभूषित, पुष्पों, नैवेद्यों, दानों आदि का निरूपण किया गया है।[2] अन्त में कहा गया है कि इस मास व्रत कर्तव्य आदि करता है वह भगवती भाव को प्राप्त करता है तथा उससे भगवती सदा सन्तुष्ट रहती है।[3] पुत्र, राज्य, विद्या, यश, सौभाग्य, विजय तथा आरोग्य आदि के लिए विजयाव्रत का विधान प्रतिपादित है।[4]

संक्रान्ति व्रत - जिस दिन सूर्य एक राशि को छोड़कर दूसरी राशि में संक्रमण करता है, उस दिन को संक्रान्ति कहते हैं। संक्रान्तियाँ राशियों के अनुसार संख्या में बारह होती है - मेष, वृष, मिथुन, कक्र, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुंभ और मीन।[5] सभी संक्रान्तियों के व्रत होते हैं पर मेष और मकर संक्रान्तियों की विशेष प्रसिद्धि है। प्रयाग, हरद्वार, उज्जयिनी, पुष्कर आदि में इन दिनों मेले भी लगते हैं।

---

[1] देवीपुराण - 99/13-14।

[2] देवीपुराण - 99/15-40।

[3] मासं वापि प्रकर्तव्यं श्रावणादि क्रमेण तु। प्राप्यते भगवती भावं यस्य तुष्टा तु नन्दिनी। देवीपुराण 99/46-47।

[4] देवीपुराण - 100/4।

[5] कालानिर्णय, पृ. 331।

मेष संक्रान्ति 14 अप्रैल के लगभग और मकर संक्रान्ति 14 जनवरी के लगभग पड़ती है।

मिश्रित कालांगों के व्रत - ये व्रत विशिष्ट कालांग के साथ किसी दूसरे (या कालांगों) का योग होने पर किये जाते हैं। जैसे - सोमवती अमावस्या का व्रत सोमवार युक्त अमावस्या को किया जाता है, बुधाष्टमी का व्रत बुधवार युक्त अष्टमी को, और अंगारक चतुर्थी का व्रत माघ मास की मंगलवार युक्त चौथ को। इस प्रकार सावन के सोमवारों के व्रत सावन मास के सोमवारों को किये जाते हैं। देवीपुराण में दुर्गाव्रत का विशद विवेचन किया गया है। शक्र के प्रश्न करने पर ईश्वर ने इस व्रत का वर्णन किया है। सांवत्सरी पूजा, नक्षत्र तथा फल देवीव्रत का प्रतिपादित है। श्रावण शुक्लपक्ष के अष्टमी को देवी को दुग्ध आदि से स्नान कराकर धूप, गन्ध, बिल्व चढ़ाकर ब्राह्मणों, कन्याओं को दान देकर जो कात्यायनी व्रत करता है वह अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त करता है तथा अन्त में देवी लोक को जाता है। भाद्र मास में सौत्रामणि यज्ञ का फल, आश्विन मास अष्टमी दुर्गादेवी का व्रत हजारों गायों के दान का फल, कार्तिक मास के व्रत से विद्यादान का फल, मार्गशीर्ष में वाजपेय यज्ञ का फल, पौषाष्टमी नारायणी व्रत भूमिदान का फल, माघमास से सभी यागों का फल, फाल्गुन मास में राजसूय यज्ञ का फल, चैत्र अष्टमी के व्रत से होमदान

का फल, वैशाख अष्टमी को अपराजिता भवानी आदि व्रतों का विधान वर्णित है ।[1]

अवधि के आधार पर व्रतों के भेद

अवधि से अभिप्राय समय या काल से है । व्रतों की अवधि अनेक प्रकार की होती है । किसी व्रत की अवधि आधे दिन की होती है, किसी की एक दिन (अहोरात्र) की किसी की तीन, पाँच, सात अथवा दस दिनों तक की, तो कोई एक-एक पक्ष, मास वर्ष या इससे भी अधिक समय तक चलते हैं । साथ ही कुछ व्रतों की अवधि निरन्तर होती है और कुछ की सान्तर - अर्थात् कुछ व्रतों में उपवास (या एकाशन) अवधि काल में निरन्तर (अर्थात् प्रतिदिन) चलता है तथा कुछ में बीच-बीच में अन्तर दे-दे कर। पंचभीखा व्रत में पाँच दिनों तक निरन्तर एकाशन किया जाता है । जैनों के बैला व्रतों में दो दिन व तेला व्रतों में तीन दिन का निरन्तर उपवास रहता है । जैनों का मुक्ताबली व्रत 34 दिन का होता है, उसमें उपवास और पारण का क्रम चलता है ।

आधे दिन का व्रत - आधे दिन के व्रत को एकासणा (=एकाशन) कहा जाता है । इसमें दिन-रात में केवल एक बार भोजन किया जाता है । इसके दो उपभेद हैं, एक-भक्त और नक्त ।

[1] देवीपुराण - 23/49-107 ।

एक-भक्त दिन में एक बार मध्याह्न काल में दिन के अर्ध-भाग के व्यतीत होने पर भोजन किया जाता है ।

कार्तिक, माघ, वैशाख आदि मास व्रतों में एक-भक्त किया जाता है । नवरात्र के दिनों में भी एक-भक्त का विधान है ।

राम नवमी के व्रत में मध्याह्न में राम जन्म का उत्सव मनाने के बाद भोजन किया जाता है । आजकल एकादशी आदि व्रतों में भी एक-भक्त करते है अर्थात् मध्याह्न बीत जाने के पश्चात् एक बार सेगार या फलाहार (शाकाहार या फलाहार) लेते है ।

नक्त का अभिप्राय रात्रि भोजन से है ।[1] नक्त में दिन को भोजन न करके रात्रि में सूर्यास्त के पश्चात् प्रदोष - काल में एक बार भोजन किया जाता है । करवा चौथ आदि लौकिक व्रतों में स्त्रियाँ प्रायः नक्त ही करती हैं । वे सूर्यास्त के बाद कभी तारे निकलने पर और कभी चन्द्रमा के निकलने पर भोजन करती है । जन्माष्टमी के व्रत में अर्द्ध रात्रि के पश्चात कृष्ण-जन्म का समारोह हो जाने पर भोजन किया जाता है ।

सन्यासी और विधवाओं के लिए रात्रि में भोजन वर्जित है । अतः उनके लिए विधान है कि दिन के अंतिम भाग अर्थात् सयान्ह से सूर्यास्त के पूर्व ही भोजन कर लें ।

---

[1] दिवानशन पर्वू रात्रि भोजनम् । निर्णय सिन्धु, परि.1 ।

नक्त का विधान आशक्त लोगों के लिए किया गया है। आशक्त लोग पूरे दिन (अहोरात्र) का उपवास न कर सके तो नक्त करें।

एक दिन के व्रत - अधिकांश व्रत पूरे दिन अर्थात् अहोरात्र के होते हैं। एक अहोरात्र के या एक महोरात्र से अधिक उपवास को ही साधारणतया उपवास कहा जाता है (एक भक्त और नक्त को उपवास के अंतर्भूत नहीं किया जाता)।

तीन से बारह दिनों तक के व्रत - तीन दिनों के प्रमुख व्रत हैं - तुलसी त्रिरात्र व्रत, अशोक त्रिरात्र व्रत, वट-सावित्री व्रत और गौ-त्रिरात्र व्रत। तुलसी का व्रत कार्तिक सुदि 9 से 11 तक किया जाता है। अशोक व्रत चैत्र सुदि 13 से पूर्णिमा तक और गौ व्रत भाद्र सुदि 13 से 15 तक या कार्तिक वदि 13 से 30 तक होता है। वट सावित्री का व्रत ज्येष्ठ वदि 13 से 30 तक किया जाता है।

पाँच दिनों के व्रतों में पंच-भीष्मक या पंचमीखा उल्लेखनीय है। वह कार्तिक सुदि 11 से 15 तक किया जाता है।

छः दिनों के व्रतों में महालक्ष्मी का व्रत प्रमुख है। यह अषाढ़ सुदि 13 से श्रावण वदि 3 तक किया जाता है।

नवरात्र का व्रत नौ दिन का होता है। नवरात्र दो होते है - एक चैत्र सुदि 1 से 9 तक और दूसरा आश्विनी सुदि 1 से 9 तक।

दशा माता का व्रत चैत वदि 1 से 10 तक चलता है। इसमें दस दिनों तक अगता रखा जाता है और दसों दिन दशा माता की कहानी सुनी जाती है। दसवें दिन एकाशणा या एक-भक्त किया जाता है। प्रजापत्य व्रत बारह दिन चलता है।

एक पक्ष या 15 दिनों के व्रत - पक्ष व्रतों की अवधि 15 या 16 दिनों की होती है। पितृ पक्ष में 15 दिन पर्यन्त व्रत भाद्र शुक्ला अष्टमी से आश्विन कृष्णा अष्टमी से तक 16 दिन चलता है।

मास व्रत (एक मास के व्रत) - मास व्रत एक मास चलते हैं। कार्तिक, माघ, वैशाख आदि महीनों के तथा अधिक मास के मास व्रत हैं। इनमें एक महीने तक एकाशन किया जाता है।

प्रायश्चित व्रतों में चांद्रायण व्रत बहुत प्रसिद्ध है। देवीपुराण में इस व्रत का इसी परिप्रेक्ष्य में विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है।[1] वह भी मासिक व्रत है। उसमें अमावस्या को पूर्ण उपवास किया जाता है, पर शेष दिनों में नियमित मात्रा में एक भक्त किया जाता है - उसके दो मुख्य प्रकार है 1. पिपीलिका मध्य और 2. यव मध्य में कृष्ण प्रतिपदा को 14 ग्रास द्वितीया 13 ग्रास, इस प्रकार प्रतिपदा को 1, द्वितीया को 2, इस प्रकार प्रतिदिन एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए पूर्णिमा को 15 ग्रास लिये जाते हैं। यव मध्य में शुक्ल प्रतिपदा को 1 ग्रास और

---

[1] देवीपुराण 120/7-8।

प्रतिदिन एक ग्रास बढ़ाते हुए पूर्णिमा को 15 ग्रास ले लिये जाते हैं और तत्पश्चात प्रतिदिन एक ग्रास कम करते हुए अमावस्या को पूरा उपवास किया जाता है ।[1]

आवृत्ति के आधार पर व्रतों के भेद

कुछ व्रत जीवन में एक ही बार करने के होते हैं, कुछ प्रतिवर्ष किये जाते है, कुछ प्रति छठें मास, कुछ प्रति मास, कुछ प्रत्येक पक्ष में, कुछ प्रति सप्ताह। इस दृष्टि से व्रतों के वार्षिक, मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक, दैनिक भेद किये जा सकते हैं ।

व्रतों में अधिकांश वार्षिक व्रत आदि हैं अर्थात् वे वर्ष में एक ही बार आते हैं । मासिक व्रत प्रतिमास आते हैं, जैसे सत्यनारायण का व्रत प्रत्येक पूर्णिमा को आता है, संकट चौथ का व्रत प्रत्येक मास की कृष्ण चतुर्थी को आता है ।

पाक्षिक व्रत में एक बार आते हैं, जैसे एकादशी व्रत प्रत्येक पक्ष की एकादशी को और प्रदोष व्रत प्रत्येक पक्ष की त्रयोदशी को आता है ।

साप्ताहिक व्रत प्रति सप्ताह आते हैं । वारों के व्रत साप्ताहिक व्रत है ।

---

[1] व्रत परिचय, हनुमान शर्मा, परिशिष्ट, पृ. 318-19 ।

कई एक व्रत अनियमित होते हैं, जैसे सोमवती अमावस का व्रत सोमवार से युक्त अमावस को आता है, बुधाष्टमी का व्रत बुधवार युक्त अष्टमी को किया जाता है।

देवताओं के आधार पर व्रतों भेद

प्रत्येक व्रत का कोई न कोई देवता होता है, जिसकी व्रत के दिन पूजा की जाती है। देवता दो प्रकार के है -

1. पौराणिक या शास्त्रीय तथा 2. लौकिक।

(1). पौराणिक देवताओं के व्रत (2). लौकिक देवताओं के व्रत (3). वनस्पति एवं पशु जगत सम्बन्धी देवताओं के व्रत।

पौराणिक देवता वे हैं, जिनका वर्णन पुराणों में मिलता है। विष्णु और उनके नाना रूप तथा राम, कृष्ण, नृसिंह, वामन आदि अवतार। शिव, गणेश, सूर्य, चन्द्र, यम, भैरव, हनुमान, शनि, लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री, पार्वती व पार्वती के विविध रूप (गौरी, दुर्गा, चंडिका, काली) आदि प्रमुख पौराणिक देवता हैं।

लौकिक देवताओं में आसमाता, दशामाता, गाजमाता, संतोषी माता, पथवारी, विश्राम देवता आदि उल्लेखनीय है।

वनस्पति एवं पशु जगत सम्बन्धि देवता पशु-पक्षी, वृक्ष, पौधे, फल-फूल आदि हैं, जैसे गाय, वत्स, नाग, तुलसी, वट, अशोक, पीपल, कदली, आँवला, करवीर आदि।

व्रत के अधिकारी उद्देश्य और प्रसंग आदि की दृष्टि से अनेक भेद किये जा सकते हैं।

अधिकारियों की दृष्टि से साधारणतया व्रतों के करने के अधिकारी सभी वर्गों के सभी स्त्री-पुरुष होते हैं, पर कुछ एक व्रत विशिष्ट व्यक्तियों के ही करने के होते है। इस दृष्टि से व्रतों के निम्नलिखित भेद किये जा सकते है।

1. स्त्री-पुरुष दोनों के करने के व्रत।

2. केवल पुरुषों के करने के व्रत।

3. केवल स्त्रियों के करने के व्रत।

स्त्रियों के करने योग्य व्रत में भी कुछ व्रत सभी स्त्रियों के करने के होते हैं, कुछ सधवाओं के करने के, कुछ विधवाओं के करने के और कुछ कुमारी कन्याओं के करने के। श्रेष्ठवर की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले व्रतों को कुमारी कन्याएँ करती हैं, सौभाग्य प्राप्ति के लिए और पति की कल्याण कामना के व्रत सधवा स्त्रियाँ करती हैं।

उद्देश्यों की दृष्टि से व्रत किसी न किसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर किये जाते हैं। उद्देश्य अनेक प्रकार के हो सकते हैं, उदाहरणार्थ - पुण्यार्जन, पाप-परिहार, सम्पत्ति की प्राप्ति, सौभाग्य की प्राप्ति, वैधव्य की अप्राप्ति, रोग मुक्ति, पति का कल्याण, पुत्र का कल्याण, भाई का कल्याण आदि-आदि। नित्य व्रत पुण्यार्जन के लिए किये जाते हैं। नैमित्तिक व्रत पाप-परिहार के लिए और काम्य व्रत विविध वासनाओं की प्राप्ति के लिए।

प्रसंग की दृष्टि से - प्रसंग की दृष्टि से भी व्रत के अनेक प्रकार होते है। कई एक व्रत विवाह आदि संस्कारों के अवसर पर और कई तीर्थ यात्रा के अवसर पर किये जाते है।

व्रत करने के अधिकारी -

व्रत करने के अधिकारी सभी वर्णों के 8 से 80 वर्षों तक के सभी स्त्री पुरुष को है, यहाँ तक कि कुछ अवस्थाओं में मलेच्छ लोग भी व्रत कर सकते है।[1]

शुद्रों और स्त्रियों के लिए भी व्रत आवश्यक नहीं कहे गये हैं। शूद्रों के लिए समाज सेवा और स्त्री के लिए पतिसेवा ही धर्म बताये गये है। इन्हीं के सम्यक् पालन से उन्हे वहीं सब लाभ स्वतः प्राप्त हो जाते हैं जो व्रत करने से होते हैं। स्त्रियों के विषय में यह भी कहा

[1] हेमाद्रि (व्रत खण्ड) प्रथम भाग, पृ. 326 कचिन्म्लेच्छानामपिअधिकारौ, हेमाद्रौ देवीपुराणे।

गया है कि पति जो कुछ भी पुण्य कार्य करता है स्त्री को उसके फल का आधा भाग स्वतः ही मिल जाता है ।[1]

कहीं-कहीं तो यह भी कह दिया गया है कि जो स्त्री पति के जीते-जी उपवास व्रत करती हैं वह नरक को जाती है ।[2]

फिर भी शूद्रों और स्त्रियों के लिए व्रत करने की मनाई नहीं है, वे चाहें तो व्रत कर सकते हैं ।

सधवा स्त्री को व्रत सदा पति की अनुज्ञा लेकर करना चाहिए ।[3]

अशक्तावस्था और अशुद्धावस्था में व्रतानुष्ठान

यदि कोई स्त्री पुरुष शारीरिक अशक्ति या रोग आदि के कारण व्रत करने में असमर्थ हो तो उसके लिए व्रत करना आवश्यक नहीं । यदि संभव हो तो पूरे उपवास के स्थान पर नक्त (रात्रि भोजन) किया जा सकता है ।[4] गर्भिणी और प्रसूता स्त्री को व्रत नहीं करना चाहिए ।[5]

कभी-कभी घर में सूतक, अशौच के कारण अशुद्धावस्था प्राप्त हो जाती है । रजस्वला होने की स्थिति में नारी को अशुद्धावस्था प्राप्त होती है । अशुद्धावस्था में भी व्रत नहीं करना चाहिए ।

---

[1] मनुस्मृति 5/155 ।
[2] विष्णुधर्मसूत्र 25-16 ।
[3] निर्णयसिन्धु, पृ. 22 ।
[4] हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, 5 खण्ड 2 के पृ. 52-53 ।
[5] धर्मसिन्धु, पृ. 23 ।

ऊपर की दोनों अवस्थाओं में, अशक्तावस्था और अशुद्धवस्था में, व्रत करना हो तो प्रतिनिधि से करवाया जा सकता है। सूतक और अशौच की अशुद्धावस्था में शारीरिक नियमों का पालन स्वयं करे और पूजा आदि के कार्य प्रतिनिधि से करवायें।[1]

व्रत प्रारम्भ करने के बाद अशक्तावस्था या अशुद्धावस्था प्राप्त हो जाय तो व्रत को पूरा करना चाहिए।

व्रतानुष्ठान में प्रतिनिधि

स्वयं अशक्त या अशुद्ध अवस्था में होने के कारण व्रतानुष्ठान का कार्य न कर सके तो प्रतिनिधि से करवाया जा सकता है।[2] माता पिता के स्थान पर पति, भाई के स्थान पर बहन, बहन के स्थान पर भाई, मित्र के स्थान पर मित्र, यजमान के स्थान पर पुरोहित प्रतिनिधित्व कर सकता है।[3]

व्रतकर्ता तथा व्रत का वातावरण

व्रतों का अनुष्ठान सात्विक वातावरण में किया जाना चाहिए। व्रत के अनसुार आन्तर और बाह्य शुद्धता पर विशेष जोर दिया गया

[1] धर्मसिन्धु, पृ. 23।
[2] हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र 5, खण्ड 2, पृ. 53।
[3] सिन्धु, पृ. 29।

है। व्रत करने वाला शरीर और मन दोनों से शुद्ध होना चाहिए, तभी व्रत का पूरा फल प्राप्त हो सकता है।

वैसे तो व्रत करने का अधिकार सभी वर्णों के सभी व्यक्तियों को है पर व्रत करने वाले में निम्नलिखित गुणों की अपेक्षा की गयी है- व्रतकर्ता अपने वर्णाश्रम के आधार का पालन करने वाला, शुद्ध मन वाला, श्रद्धावान, सत्यवादी, सबका कल्याण चाहने वाला, पापभीरू, निर्लोभी, अभिमान, पाखण्ड और दंभ से रहित शास्त्रों में श्रद्धावाला, बुद्धिमान अपने निश्चय पर दृढ़ रहने वाला और उचित रीति से कर्म करने वाला होना चाहिए।[1]

व्रतकर्ता को निश्चय पर दृढ़ होना अत्यन्त आवश्यक है, ऐसा न हो कि वह विघ्नों के उपस्थित होते ही व्रत का त्याग बीच में ही कर दें।

व्रत तप ही एक रूप है। व्रत का अभिप्राय ही है कष्ट सहन करके नियम का पालन करना।[2] दृढ़ता और अध्यवसाय जीवन के अभ्युदय के लिए आवश्यक गुण हैं।

[1] अग्निपुराण 175/10-11।
[2] गरुड़पुराण 1/128।

व्रत के विधि विधान

शास्त्रों में व्रतों के विधि-विधान बड़े विस्तार से दिये गये हैं और उनमें यत्रतत्र मत मतांतर भी दृष्टिगोचर होते हैं ।

व्रत में एक दिन पहले से ही हल्के भोजन, भूमिशयन और ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक बताया गया है । जिस दिन व्रत करना हो उसके पहले वाले दिन मध्याह्न काल में एक भक्त (एक बार भोजन) करे और रात में सोत्साह शयन करे । दूसरे दिन उषाकाल में अर्थात सूर्योदय के 4 घड़ी पूर्व उठे और शौच-स्नानादि करके व्रत का आरम्भ करे ।[1]

सभी व्रतों के काल में क्षमा, सत्य, दया, सन्तोष, अस्तेय, शौच, इंद्रिय, निग्रह, दान, देव पूजन और अग्निहोम - इस दशविध धर्म के पालन का विधान किया गया है । अन्यत्र कहा गया है कि व्रत-काल में सब प्राणियों पर दया, क्षान्ति, अनसूया, शौच, अकाप्रण्य तथा अस्पृहा का पालन करना चाहिए। एक और स्थान पर ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य और आमिष-वर्जन इन चारों का आचरण विधेय बताया गया है ।[2]

---

[1] देवलस्मृति, व्रततत्व, पृ. 151 में उद्धृत ।

[2] निर्णय सिन्धु, पृ. 27 ।

व्रत के प्रमुख विधि-विधान ये हैं -

1. संकल्प - पाठ।

2. देव - पूजन तथा हवन।

3. कथा - श्रवण।

4. रात्रि - जागरण।

5. दूसरे दिन पारणा।

6. उद्यापन।

व्रत की समाप्ति और पारण

व्रत के दूसरे दिन व्रत की समाप्ति होती है। व्रत की समाप्ति उद्यापन या पारणा से होती है। पारण या पारणा का अर्थ है पर पहुँचना। पारण या पारणा शब्द की व्युत्पत्ति कुछ विद्वान "पार" धातु किसी कर्म या अनुष्ठान को पूर्ण करने के अर्थ में, से करते हैं।[1] यह शब्द इसी अर्थ में शाकुन्तल और रघुवंश में भी प्रयुक्त हुआ है।[2] विष्णुधर्मोत्तर में निर्देश है कि व्रत की समाप्ति पारणा से होती है और व्रत की समाप्ति पर ब्राह्मणों (विद्वानों) को भोजन कराना चाहिए।[3] साधारणतया प्रत्येक व्रत का पारणा प्रातः काल ही किया जाता है।[4]

[1] कालनिर्णय, पृ. 225।
[2] 'प्रातर्य थोक्तव्रत-पारणान्ते' रघुवंश 2/70।
[3] विष्णुधर्मोत्तर (कालविवेक, जीमूतवाहन) पृ. 463।
[4] काल निर्णय पृ. 226।

पारणा के दिन व्रती जप, होम और दान करता है और ब्राह्मणों को जिमाकर दक्षिणा देता है। व्रत की समाप्ति बाह्मण से आशीर्वाद प्राप्ति से होना चाहिए।[1] ब्राह्मण के वचन से व्रत की सफलता मानी गयी है। व्रत का मुख्य तत्व तपस्या और त्याग है अतः ब्राह्मण - वचन दक्षिणा देकर प्राप्त करना चाहिए। समर्थ होते हुए भी दक्षिणा दिये ब्राह्मण का आशीर्वाद लेना पाप कहा गया है। कई एक व्रतों में कुमारी कन्याओं को जिमाना भी श्रेयस्कर कहा गया है। कई एक व्रतों में तो विशेष रूप से अंधों, दरिद्रों और असहायों को ही भोजन कराने का विधान है।[2]

व्रत का उद्यापन

गृहीत व्रत का उद्यापन भी किया जाना चाहिए। उद्यापन के बिना व्रत की सफलता नहीं होती और किये हुए व्रत का फल भी नष्ट हो जाता है। उद्यापन का अर्थ पारणा से भिन्न होता है। एकादशी और जन्माष्टमी के समान जन्मभर निबाहे जाने वाले व्रतों में प्रत्येक उपवास के उपरान्त पारणा किया जाता है, जबकि यदि कोई व्यक्ति किसी व्रत को एक ही बार ग्रहण कर समाप्त करे तो उसकी समाप्ति पर अंतिम अनुष्ठान उद्यापन कहलाते हैं। यदि व्रत के विधानों में उद्यापन का

[1] धर्मसिन्धु, प्रथम परिच्छेद, पृ. 22-23।
[2] कृत्यरत्नाकर पृ. 455।

उल्लेख न हो तो उसके अभाव में व्रतों को गौ और स्वर्ण दान करके व्रत पूर्ण कर देना चाहिए।[1]

व्रत काल में वर्जनीय कर्म

व्रत काल में निम्नलिखित कर्म वर्जित है - अन्न का अवलोकन, सुगंधित पदार्थों का आश्वादन, मद्य तथा माँस का सेवन, अभ्यग, उबटन, लेपन, दन्तधावन, तांबूल - सेवन, बार-बार जल पीना, दिन में सोना, बिछौने पर सोना, मैथुन, अश्लील -भाषण, क्रोध, अपवित्र एवं अशुद्ध व्यक्तियों का सम्पक्र, निन्दकों की संगति, एक वस्त्र पहनकर या अधिक वस्त्र पहन कर पूजा करना, परान्न भोजन आदि।[2]

वर्जनीय कर्म करने पर प्रायश्चित रूप में गायत्री मंत्र के एक हजार आठ जाप करने चाहिए।

व्रत भंग

आरम्भ किये हुए व्रत को बीच में नहीं छोड़ना चाहिए, न कोई ऐसी बात करनी चाहिए, जिससे व्रत भंग होता हो, व्रत को जान-बूझकर भंग करने से पाप का भागी बनना पड़ता है।[3]

[1] निर्णयसिन्धु पृ. 25 पर पृथ्वी चन्द्रोदय का मत।

[2] अग्निपुराण 175/12-17।

[3] वराह एकादशी तत्वनिरूपण में पृ. 2 पर उद्धृत।

व्रत आरम्भ करने के बाद व्रत की समाप्ति के पूर्व ही व्रती का शरीरान्त हो जाय तो व्रती को व्रत का पूरा फल मिलता है।[1]

तीर्थ निरूपण

पुराणों में तीर्थों का उल्लेख व्यापक रूप से मिलता है इससे स्पष्ट है कि पुराणों के समय से तीर्थों की मान्यता चल पड़ी थी और इसको सामाजिक रूप के साथ ही धार्मिक रूप भी दिया गया था। तीर्थ शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में भी हुआ है। ऋग्वेद में इसका प्रयोजन है नदी के तट या समीपस्थ क्षेत्र या किसी भी जल अथवा समुद्र का तटिय स्थान।[2] पीछे इसके अर्थ में परिवर्तन हुआ। पुण्यप्रदेशों को कालान्तर में तीर्थ की संज्ञा दी गई। स्कन्द पुराण में कहा गया है कि मुनि, देव आदि के जो आश्रयभूत भूमिभाग एवं पर्वत हैं वे तीर्थ हैं[3] आगे नगर खण्ड में कहा गया है कि 'धर्मस्थानेषु सर्वेषु' अर्थात् सभी धर्मस्थल तीर्थ होते हैं। ब्रह्मपुराण में वर्णित है कि कर्मभूमि होने के कारण ये तीर्थ कहे जाते है।[4] कर्मभूमि से अभिप्राय है कर्मक्षेत्र। इससे विदित होता है कि श्रेष्ठजनों का जो कर्मक्षेत्र होता है वहीं तीर्थ कहा जाता है। दूसरी ओर प्राकृतिक तत्व

---

[1] हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, भागड, खण्ड 2, पृ. 54।

[2] वैदिक कोश, पृ. 174।

[3] आश्रयाः मुनीन्द्राणांदेवानांच तथा प्रिये। भूमिभागाः पर्वताः स्युः तत्कीर्त्य तीर्थ मित्युत।।
स्कन्दपुराण

[4] 'कर्मभूमिर्यतः पुत्र तस्मात् तीर्थ तदुच्यते' ब्रह्मपुराण 77/21।

चाहे वे वन हों, नदी हों, पर्वत हों या कोई इस प्रकार के सरोवर आदि हों जहाँ की महत्ता शास्त्रों में वर्णित हो या जो पुण्यफल प्रदायिणी हों अथवा उपर्युक्ति की लीला स्थली हो जहाँ कोई अतिमानवीय घटना घटी हो वे भी तीर्थ ही माने जाते हैं। रेवाखण्ड में उल्लिखित है कि पुण्यदायिनी नदी तटों पर बसे हुए स्थान भी तीर्थ की संज्ञा ग्रहण करते है जैसे गंगा किनारे के तटवर्ती स्थल[1]।

पुराणों के समय तीर्थ की महत्ता बहुत बढ़ गई। इसका कारण पद्मपुराण तथा मत्स्य पुराण में बताया गया है कि वैदिक यज्ञ दुरूह तथा अत्यन्त व्ययसाध्य है। उनमें समय भी बहुत लगता है। इससे सामान्य व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं है कि वह लम्बे तथा जटिल वैदिक यज्ञ को करा सके। अतः इसका फल प्राप्त करने के लिए दूसरा सरल मार्ग इस समय यह अपनाया गया कि लोग तीर्थाटन करें। इसलिए कहा गया है कि तीर्थ गमन का फल यज्ञ से भी विशिष्ट है।[2]

शांखायन ब्राह्मण में यह बतलाया गया है कि रात एवं दिन समुद्र है जो सबको समाहित कर लेते हैं तथा संध्यायें (समुद्र के) अगाध तीर्थ है।[3] इसी में यह भी प्रतिपादित है कि तीर्थ उस मार्ग को कहते हैं जो

[1] तीर्थमुक्तावती पुण्य ग्रथिता तटरज्जुनना मण्डनायेह साधुनाम।।
रेवाखण्ड 230/108।

[2] तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञेरपि विशिष्यते, पद्मपुराण आदि. 11/17।

[3] शांखायन ब्राह्मण 2/9।

यज्ञिय स्थल (विहार) से आने-जाने के लिए उत्कर एवं चत्वाल (गढ्ढा) के बीच में पड़ता है ।[1]

तीर्थों के महात्म्य का पता इस तथ्य से चल जाता है कि वैदिक साहित्य के अतिरिक्त महाभारत एवं पुराणों कम से कम चार हजार श्लोक तीर्थों, उपतीर्थों एवं उनसे सम्बन्धित किंवदन्तियों के विवेचन के प्रति समप्रित है ।[2]

प्रत्येक तीर्थ क्षेत्र को एक नाम विशेष से पुराणों में संबोधित किया गया है जैसे भृगुक्षेत्र, वाल्मीकि पर्वत, प्रयाग तीर्थ आदि । इस क्षेत्र या इन क्षेत्रों के नामकरण के पीछे कारण यह प्रतीत होता है कि जिस श्रेष्ठ या पूज्य लोगों से वह स्थान पुण्यकारक बन गया उसके नाम के साथ उस स्थान का नाम जोड़ दिया गया। इस स्थान के दर्शन, यहाँ के जल में स्नान करने, यहाँ के पुण्य स्थलों को देखने या दर्शन करने, उसके महात्म सुनने का फल अति श्रेयस्कर बताया गया है। इसीलिए वहाँ भगवान् के पूजन का विशेष फल माना गया है। वहाँ लोग व्रतोपवास करके, भगवत्कीर्तन करके तथा अनेक प्रकार के धार्मिक एवं सामाजिक संस्कार करके अपने को धन्य समझते हैं। इसीलिए पुराणों में जहाँ कहीं भी विशिष्ट तीर्थों की चर्चा की गई है वहाँ उनकी विशेषताओं और पुण्य के कारण का उल्लेख किया गया है। विष्णु

---

[1] "ते अन्तरेण चत्वालोत्करा उपनिष्क्रमन्ति तद्धियज्ञस्य तीर्थमाप्नानं नाम" शांखायन ब्राह्मण-18/9 ।

[2] धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ. 1318 ।

धर्मोत्तर पुराण में कहा गया है कि जब तीर्थयात्रा की जाती है, तो पापी के पाप कटते हैं, सज्जन की धर्मवृद्धि होती है। सभी वर्णों एवं आश्रमों के लोगों को तीर्थ फल देता है।[1]

तीर्थों के भेदों का उल्लेख भी पुराणों से ज्ञात होता है। एक स्थल पर दो प्रकार क तीर्थों का उल्लेख किया जाता है- चर और स्थावर। चर से अभिप्राय वैसे तीर्थ से है जो चलता रहता है जैसे नदियाँ। स्थावर तीर्थ के अन्तर्गत, स्थल, पर्वत तथा वन आदि आतें हैं क्योंकि इनमें गति नहीं होती। देवीपुराण में दोनों प्रकार के तीर्थों का उल्लेख मिलता है। महर्षि अगस्त्य के प्रश्न पर स्वयं ईश्वर ने लोक के हितार्थ तीर्थ तथा गुह्यस्थान का वर्णन किया है।[2] भैरव, केदार, रूद्रमहालय तथा नन्दादेवी तीर्थ का प्रतिपादन है।[3] कहा गया है कि जैसे नदियों में गंगा, पर्वतों में सुमेरुपर्वत, नागों में वासुकि श्रेष्ठ है वैसे ही तीर्थों में नन्दातीर्थ सर्वोत्तम है।[4] ऋषियों में कश्यप तथा भृगु जैसे वन्दनीय है वैसे ही तीर्थों में नन्दातीर्थ है।[5] इसी स्थल पर यह भी प्रतिपादित किया गया है कि सभी यज्ञों का जो फल होता है तथा सभी दानों, चान्द्रायण आदि व्रतों का जो फल बतलाया गया है वह मात्र नन्दादेवी तीर्थ के दर्शन से हो जाता है। सभी पापों से मुक्त हो जाता

---

[1] विष्णुधर्मोत्तर पुराण-3/273/7 तथा 9।

[2] कथयस्व प्रसादेन लोकानां हितकाम्यया। अनिवर्तकानितीर्थानि गुह्यस्थानानि मे प्रभो।।
देवीपुराण 93/9।

[3] देवीपुराण 93/24।

[4] तत्रैव 93/26-30।

[5] तत्रैव 39/31।

है ।[1] मन्दार, शतश्रृंग, त्रिकूट, विन्ध्य, अमरेश्वर, सरस्वतीतट सिद्धस्थान बतलाये गये है ।[2]

स्कन्द पुराण में कृत तथा अकृत नामक तीर्थों का उल्लेख है जिसे मनुष्यों ने स्वयं विशिष्ट व्यक्ति के साथ जोड़कर तीर्थ मान लिया गया है । अकृत तीर्थ वे तीर्थ हैं जो अनादिकाल से तीर्थों के रूप में शास्त्रों में मान्य चले आ रहे है, यथा काशी, प्रयाग गया आदि ।

पुराणों में तीर्थों की एक लम्बी संख्या का ज्ञान प्राप्त होता है । भिन्न-भिन्न पुराणों इसकी भिन्न संख्यायें प्राप्त होती है । ऐसी लम्बी संख्या तीन लाख पचास हजार स्कन्द पुराण में मिलता है । इसी प्रकार अन्य पुराणों में उल्लेख मिलता है । इससे यह बात सिद्ध होती है कि भारतवर्ष का अधिकांश भाग किसी न किसी तरह तीर्थों से जुड़ा हुआ दीख पड़ता है । एक तरफ जहाँ काशी पवित्र धर्म स्थल है वहीं दूसरी ओर गंगा पवित्र नदी है, तीसरी ओर कुरूक्षेत्र धर्मक्षेत्र चौथी ओर वन्य प्रदेश जो अवतारों के लिए प्रसिद्ध नैमिषारण्य पाँचवे लीलास्थल वाले पर्वत कैलाश, महापुरूषों की जन्मस्थलि, सागर जैसे तीर्थ गंगासागर आदि पवित्र तीर्थ है । इस प्रकार तीर्थों की कोटियाँ महत्वपूर्ण व्यक्तियों के स्थान एवं सान्निध्य के साथ, पवित्र स्थलों के विवरण के साथ निरन्तर बढ़ती जायेगी ।

---

[1] तत्रैव 93/33-39 ।

[2] तत्रैव 93/175-179 ।

भारत के प्रसिद्ध तीर्थों की सूची और विवरण जो पुराणों में प्राप्त होते है उनका संक्षिप्त विवेचन देवीपुराण के परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार है -

गंगा नदी का वर्णन प्रायः प्रत्येक पुराणों में मिलता है। देवीपुराण में गंगा, नर्मदा, यमुना, नेत्रवती, विपाशा, सरयू, सरस्वती, चन्द्रभागा, गोदावरी, वरूणा, कावेरी आदि नदियों के नामोल्लेख मिलता है।[1] इन पवित्र नदियों के विभिन्न पर्वों, संक्रान्ति, ग्रहणों आदि पर स्नान करने से विशेष पुण्य की प्राप्ति होती है।[2] कहा गया है कि जब सूर्य और चन्द्र ग्रहण लगे तो नर्मदा स्नान कर लोग कृतकृत्य होते हैं।[3]

देवीपुराण में तीर्थयात्रा के प्रसंग में आमरक गिरिश्रेष्ठ, नैमिष, पुष्कर, कुरूक्षेत्र, रामेश्वर आदि तीर्थों का विशद विवेचन मिलता है।[4] इन सब तीर्थों के फल आदि का भी निरूपण मिलता है।

---

[1] A. गंगाद्वारं, कुरूक्षेत्रं नर्मदामरकण्टकम्। यमुनासंगमं पुण्यं वेत्रवती विपाशान्विता।
सरयुः कौशिकी विन्ध्या गण्डकी च सरस्वती। चन्द्रभागा महापुण्या नदी गोदावरी तथा।।
कावेरी गोमती तापी देविका वरूणा परा। एताः पुण्यतमा नद्यो गहणादिषु कीर्तिताः।।
देवीपुराण - 74/3-5।
B. देवीपुराण - 66/8-9।

[2] देवीपुराण - 74/7-15।

[3] सूर्यो च शशिना ग्रस्ते तमोरूपे महामुने। नर्मदा तोयसंस्पर्शात् कृतकृत्या भवन्तिते।।
देवीपुराण 74/16।

[4] तीर्थयात्रा प्रसंगेन मक्रण्डेय-तपाश्रयम्। अमरां गिरिश्रेष्ठं देवनद्याः फलोदयम्।।
वारणाख्यं महापुण्यं तथा पश्चिम सागरम्। जटा शैले महादेवं पञ्चमृत्युविनाशनम्।।
नैमिषं पुष्करं देवं तथा स्थानेश्वरं वरम्। कुरूक्षेत्रं महापुण्यं सर्वपाप प्राणनाशनम्।।
घटेश्वरं महादेवं कौमारं दक्षिणार्णवे। रामेश्वरं शिवं देवं ब्रह्महत्याविनाशनम्।।
अविमुक्त काश्याख्यां मायापुर्यां सुरेश्वरम्। एवं तीर्थानि देवेश महापुण्यफलानि च।।
देवीपुराण - 74/1-7।

देवीपुराण में विंध्याचल, हेमकूट, महेन्द्र, हिमगिरि, सह्य पर्वत, श्रीगिरि, गंगा, नर्मदा, उज्जयिनी, निषध, द्रोणाचल, अर्बुद, मलय-विन्ध्य क्षेत्र, कुरुक्षेत्र, समुद्र तट, किष्किन्धा, कुशस्थली, जालन्धर, कोल पर्वत, गन्ध मादन, विदेह, पुष्कर, नैमिष, काशिकाश्रम, वेद पर्वत, कामाख्या, सरस्वती तट, पूर्वसिन्धू, लंका, कैलाश, कण्वाश्रम, धर्मारण्य, कावेरी संगम, कोटितीर्थ, शक्तिद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, मुण्डिपीठ, विदिशा, वरेन्द्र, राधा, कौशल, भोटदेश (तिब्बत), हस्तिनापुर, कांची, कोलु, चित्रगोप, नारकाल, नीचाख्य पर्वत, उड्रदेश, स्त्रीराज्य (आसाम), चम्पा, कान्यकुब्ज, उड्डीयान, मनाक्ष, सिंहल, जम्बुकनाथ, अयोध्या, महादेय, तीरभुक्ति, अंग, बंग, समतट, वर्धमान, नेपाल, काश्मीर, गंगासागर संगम, कापोततीर्थ, नन्दातीर्थ, नन्दापुरी, त्रिकूट, रामेश्वर, अमरेश्वरतीर्थ, हरिश्चन्द्र तीर्थ, यमुना, बेलवती, रेवती, सुनन्दातीर्थ, कन्यकापुर, गया, प्रयाग, केदार, दण्डकाराण्य, अमरकंटक, सोमेश्वर, नगर, पुर, खेट, गृह, भवन, मन्दिर, चतुष्पथ आदि शक्तितीर्थों के उल्लेख मिलते है।[1] शिव के मान्य तीर्थों का भी वर्णन देवी पुराण में मिलता है।[2]

तीर्थों में श्राद्ध का विधान का भी पुराणों में प्रतिपादित है। गरुड़ पुराण में प्रेतकल्प का विवेचन मिलता है।[3] महाभारत के वनपर्व

---

[1] देवीपुराण, उपोद्घात - पृ. 34-35।
[2] तत्रैव - अध्याय 63।
[3] गरुड़पुराण - उत्तरखण्ड।

में गया तथा अक्षयवट बड़ा ही सुन्दर उल्लेख मिलता है ।[1] गयातीर्थ की महिमा श्राद्ध के विषय में प्राचीन काल से ही मिलता है । देवीपुराण भी श्राद्ध का प्रतिपादन करता है । वृषोत्सर्ग का विवेचन किया गया है और कहा गया है कि अश्वमेध यज्ञ का फल जो मिलता है वही वृषोत्सर्ग करने का फल है ।[2]

तीर्थों की मान्यता और लोगों को इससे लाभ के विषय में ज्ञात होता है कि इससे पुण्य की प्राप्ति होती है, राष्ट्रीय एकता की भावना उभरती है । तीर्थाटन या तीर्थों में पर्यटन की भावना बढ़ती है । वहाँ जाने के पहले लोगों में अत्याज्य और अव्यवहारिक विषयों को त्यागने में बल मिलता है । सदाचार की उन्नति के लिए बढ़ावा मिलता है । "न तीर्थ मापं कुर्यात्, त्यजेत् तीर्थोपजीवनम" । तीर्थ पाप को रोकता है । पर तीर्थ को जीविका का माध्यम नहीं बनाना चाहिए । जीविका का माध्यम तीर्थ को बनाने के कारण धर्म विक्रय ही सिद्ध होगा जो धर्मविरूद्ध कार्य माना जाता है । इसमें भावशुद्धि स्वतः आ जाती है । अन्यथा इससे वंचित व्यक्ति तीर्थ में रहने वाले पशु के समान होता है । वहाँ उससे कोई लाभ नहीं प्राप्त कर सकता ।

---

[1] महाभारत - वनपर्व, अध्याय 84 ।

[2] वृषेण अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलदायकम् । जायरेन बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् । ।
देवीपुराण 60/6 ।

ज्योतिषशास्त्र का विवेचन

वेदों के छः अंगों में ज्योतिष की गणना की गयी है । अतएव ज्योतिषशास्त्र स्वतंत्र एक विषय है । ज्योतिष का भी विवरण पुराणों में यत्र-तत्र उपन्यस्त है, खगोल तो भूगोल के साथ संवलित होकर पुराणों में अपना स्थान रखता है यथा श्रीमद्भागवत के पञ्चम स्कंध में और इसी के अनुकरण पर देवीभागवत के स्कंध आठ में ।[1] गरूड़पुराण में पाँच अध्याय इसी विषय के वर्तमान हैं जिनमें फलित ज्योतिष का ही मुख्यतया विवरण है ।[2] नक्षत्रदेवताकथन, योगिनीस्थिति का निर्णय, सिद्धियोग, अमृतयोग, दशा विवरण, दशाफल, यात्रा में शुभाशुभ का कथन राशियों का परिणाम, विभिन्न लग्नों में विवाह के फल आदि विषयों का विवरण इन अध्यायों में दिया गया है । नारदीयपुराण के नक्षत्रकल्प में भी नक्षत्र सम्बन्धि बातें दी गयी है ।[3] इस पुराण में गणित का विवरण है ।[4] अग्निपुराण के कतिपय अध्यायों में शुभाशुभ विवेक के विषय में वर्णन उपलब्ध है ।[5]

देवीपुराण में भी ज्योतिष विद्या एवं खगोल शास्त्र का प्रतिपादन किया गया है । कई-2 अध्याय इस विद्या-विवेचन के प्रति समर्पित है ।[6]

---

[1] श्रीमद्भागवत, पञ्चम स्कन्ध - 16 अध्याय से 25 अध्याय तक ।
[2] गरूड़पुराण-59 अध्याय से 60 अध्याय तक ।
[3] नारदीयपुराण-1/55-53 ।
[4] तत्रैव-अध्याय 54 ।
[5] अग्निपुराण-अध्याय 121 ।
[6] देवीपुराण-अध्याय 45 से अध्याय 49 तक ।

देवीपुराण के अध्याय पैंतालिस में नक्षत्र पूजा के लिए शुभ दिन का विवेचन मिलता है। इसी स्थल पर यह भी प्रतिपादित किस नक्षत्र के किसी तिथि को किस देवता की पूजा की जाती है।[1]

देवीपुराण में नवग्रहों का नाम मिलता है।[2] आदित्य और सोम ये दोनों मण्डल ग्रह माने गये है।[3] इसी स्थल पर ग्रहों की गति का निरूपण सांगोपांग किया गया है।[4] पुराणकार ने द्वादशमासों का निरूपण किया है।[5] नक्षत्रों का भी विवेचन मिलता है।[6] राका तथा अनुमती दो पूर्णिमा, सिनोवाली तथा कुहु दो अमावस्या बताये गये है।[7] सूर्यग्रहण तथा चन्द्रग्रहण का विस्तार से चित्रण किया गया है।[8]

---

[1] पुनर्व्वसौ गुरुवरि द्वादश्यां श्रवणेन वा। सोमग्रस्तं तदा योगं विष्णोः सर्व्वार्थसाधकम्।।
द्वितीया यां यदा सौम्ये कृतिकाक्षं भवेत् क्वचित्। ग्रहयागस्तदा कार्य्यः सर्वशक्ति-प्रदायकः।।
स्वाती शनि चतुर्थी च उमायागे वरा स्मृता। उत्तरासु च सर्व्वासु भानु पौर्णाष्टमीषु च।।
यान्त्य भीषके यागेषु सर्व्वाकामा वहाष्टमी। गुरोरेकादशी पुष्ये रोहिण्यां वा यदा शनि।।
देवीपुराण 45/8-11।

[2] आदित्यश्चैव सोमश्च लोहितांगो वुधस्तया। वृहस्पतिश्च शुक्रश्च तथा चैव शनैश्चरः।।
राहुश्च धूमके तुश्च एते नवग्रहा स्मृताः।
देवीपुराण 47/7-8।

[3] देवीपुराण 47/10।

[4] देवीपुराण-अध्याय47।

[5] कार्तिकं शोभनं राष्ट्रं सौम्यन्तु मध्यमं मतम्। पुष्यमाघौ शुभौ वर्षो मध्यमौ फलगुनमाधवौ।।
वैशाखः प्रवरस्तेषां मध्यमः शुचिः संज्ञितः। आषाढ़ ह्यधमः प्रोक्त उत्कृष्टः श्रावाणो मतः।।
भाद्रपदो मध्यफलः श्रेष्ठफलोऽश्नो वर्षः। कृतिका रोहिणी कायमाषा ढेनाभि संज्ञितम्।।
देवीपुराण 46/48-50।

[6] अ इ त ए कृतिका ओ व वि वु रोहिणी। वे वो क कि मृगशिराः के को ह हि पुनर्व्वसुः हु हे हो ड पुष्या।
देवीपुराण 46/82-89।

[7] राका चानुमति चैव द्विविधा पूर्णिमा तथा। सिनोऽवाली कुहुश्चैव अमावस्या द्विधैव तु।।
देवीपुराण 48/1।

[8] देवीपुराण-अध्याय 49।

देवीपुराण में ऋतु मास तथा पक्ष आदि के क्रम में कहा गया है कि देवी स्थूल सूक्ष्म रूप से सर्वदा विद्यमान रहती है।[1] संक्रान्ति की कल्पना की गयी है तथा उनके नाम मन्दा, मन्दाकिनी, ध्वांक्षी, घोरा, महोदरी, राक्षसी मिश्रिता आदि बताये गये है।[2] इनके घटते-बढ़ते रहने के कारण चन्द्र तथा सूर्य ग्रहण लगते हैं।[3] इन संक्रान्तियों की प्रकृति भी प्रतिपादित है।[4] इसी स्थल पर यह भी प्रतिपादित है कि किस वर्ण के लिए कौन सी संक्रान्ति किसी प्रकार की फल देती है। जैसे - मन्दा विप्रों को, मन्दाकिनी राजाओं को, ध्वांक्षी वैश्यों को, घोर शुद्रों को, महोदरी चोरों को आदि।[5] कहा गया है कि यदि संक्रन्ति पूर्वान्ह में पड़े तो राजा पीड़ित होता है, यदि मध्यान्ह में पड़े तो द्विजलोग, अर्द्धरात्रि में नटनर्तकी, अपराह्न में वैश्य तथा शूद्र उषा काल में, गाय, स्वामी, सन्ध्या काल में साधुओं को कष्टकारक साबित होती है।[6] इन

---

[1] देवीपुराण-24/1।

[2] देवीपुराण-24/8-8।

[3] मन्द्रा विप्रजने शस्ता मन्दाकिन्यस्तु राजनि। ध्वांक्षी वैश्येषु विज्ञेया घोर शुद्रेशुभावहा।।
महोदरी तु चौराणां शौण्डिकानां जयावहा।।
देवीपुराण-24/17-19।

[4] तत्रैव, अध्याय-24।

[5] तत्रैव, अध्याय-24।

[6] नृपान पीडति पूर्व्वाह्नि मध्यान्हे च द्विजोत्तमान। अपराह्ने तु सा वैश्याऽच्छूद्रानस्तमनेखेः।।
पिशाचांश्च प्रदोषे तु अर्द्धरात्रे तु राक्षसान्। अर्द्धरात्रे व्यतीते तु पीड्यन्ते नटनर्तकीः।।
उषाकाले तु संक्रान्तौ हन्ति गो स्वामिनो जनान्। हन्ति प्रव्रजितान् सर्व्वान्ध्याकाले न संशयः।।
देवीपुराण-24/20-22।

संक्रान्तियों में विविध प्रकार दान, जप, ध्यान आदि करने से महान पुण्य की प्राप्ति होती है ।[1]

ग्रहों के ऋषियों के नाम प्रतिपादित है-आदित्य के शम्भू, केतु के ब्रह्मा आदि ।[2] भूः लोक, भुवः स्व तथा सत्य आदि सात लोकों का वर्णन उपलब्ध होता है ।[3] सभी लोकों के अभिमानी देवताओं के नाम भी मिलते है ।[4] काल के क्षण, मूहूर्त, लव, काष्ठा आदि संख्या छः बताई गयी है ।[5] देवीपुराण में देवी को नक्षत्ररूपिणी तथा विभिन्न नामों के विभिन्न नक्षत्रों को धारण करने वाली बताया गया है । शरीर के प्रत्येक अंग किसी न किसी नक्षत्र के द्वारा प्रतिपादित है जैसे दोनों फाल्गुनी नक्षत्र दोनों कुण्डल, विशाखा में मेखला, भरणी में नूपुर आदि वर्णित है ।[6]

उत्सव निरूपण

समाज में उत्सवों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । भारतीय प्राचीन लोकधर्म में इन्द्रध्वज की पूजा तथा उस अवसर पर मनाये जाने

---

[1] देवीपुराण-24/26-29 ।

[2] देवीपुराण-47/11-16 ।

[3] भूर्लोकं भुवः स्वर्लोकं त्रैलौक्यमिदमुच्यते । महर्ज्जनस्तपः सत्यं सप्त लोकाः प्रकीर्तिताः ।।
देवीपुराण-47/24 ।

[4] देवीपुराण-47/26-31 ।

[5] एते क्षणा मुहूर्ताश्च लवाः काष्ठाः कलाः पुषा । यामहः पक्ष मासाश्च क्रतवयनसमा युगाः ।।
षष्ठ्यब्द काल संख्याता ग्रह योग बलोद्भवाः ।
देवीपुराण-50/1-2 ।

[6] देवीपुराण-127/90-100 ।

वाले उत्सव का विशेष महत्व था। महाभारत के आदिपर्व में आयी कथा के अनुसार इन्द्र ने प्रसन्न होकर चेदिराज उपरिचर वसु को दिव्य विमान, वैजयन्ती माला तथा एक वैणवी (बाँस की) यष्टि प्रदान की थी। इस यष्टि को राजा ने धूमधाम से नगर में प्रवेश कराया था। परवर्ती काल में भी यह परम्परा बराबर जारी रही। इन्द्रध्वज की पूजा का यह उत्सव इन्द्रमह कहलाता था। ऐसे ही इन्द्रमह के स्थान पर श्रीकृष्ण ने गोवर्धन की पूजा करवाकर गिरिमह आरम्भ करवाया था। इन्द्रध्वज की यष्टि को गन्ध, माल्य, विविध अलंकारों तथा पिटकों से अलंकृत करते थे।[1]

वराहमिहिर ने इन्द्रध्वज के विषय में विस्तार से चर्चा की है। तदनुसार असुरों पर विजय पाने की कामना से उपस्थित सभी देवी-समुदाय सहित इन्द्र को विष्णु ने एक ध्वज प्रदान किया। विष्णु तेज से उत्पन्न यह ध्वज किंकिणियों, माला, छत्र, घण्टा तथा पिटक से अलंकृत अत्युन्नत था। इससे इन्द्र ने अपने शत्रुओं को जीत लिया। बाद में यह इन्द्र ने उपर्युक्त उपरिचरवसु को दे दिया था। इसकी पूजा से राजा विजयी, वसुमान तथा सिद्धियों से सम्पन्न एवं प्रजा नीरोग, संतुष्ट, सत्य, सम्पन्न तथा सत्-असत् की ज्ञाता हो जाता है। अतः जय एवं सफलता-कामी नृप इन्द्र-ध्वज की बराबर पूजा करते रहे।[2]

[1] महाभारत, आदिपर्व-57/19-27।

[2] वृहत्संहिता-अध्याय 43।

मुनि भरत प्रणीत नाट्यशास्त्र में भरत ने इन्द्रविजय के उपलक्ष्य में प्रथम नाट्य प्रयोग किया था। इन्द्र ने प्रसन्न होकर सर्वप्रथम इन्द्रध्वज प्रदान किया और तब मुनि भरत को विभिन्न देवताओं ने विभिन्न वस्तुओं से उपकृत किया।[1]

इस प्रकार 'दैत्यदानवनाशन' नामक प्रयोग जैसे ही आरम्भ हुआ सभी दैत्यों ने क्षुब्द होकर उसका बहिष्कार कर दिया। उनके इस विघ्न को देखकर नर्तकों की वाणी, चेष्टा और स्मृति स्तम्भित हो गयी। सूत्रधार बेहोश हो गया। यह सब देखकर क्रुद्ध हो शक्र ने सहसा वह (इन्द्र) ध्वज उठा लिया और रंगपीठ पर उधम मचाने वाले विघ्नसंतोषी असुरों के देहों को जर्जर कर दिया उस जर्जर से।[2] नाट्यविध्वंसियों को जर्जर करने से इन्द्रध्वज का (नाट्यसन्दर्भ में) जर्जर नाम पड़ गया।[3] स्पष्ट ही लोक में वह इन्द्रध्वज के नाम से और नाट्य मंडप में वही जर्जर के नाम से सतत पूजा जाता रहा।[4]

---

[1] ततस्तस्मिन्धध्वज महे निहतासुरदानवे। प्रहृष्टामरसंकीर्ण-महेन्द्रविजयोत्सवे।।
प्रीतस्तु प्रथमं शक्रो दत्तवान् स्वध्वजं शुभम्।
नाट्यशास्त्र 1/56, 60।

[2] नाट्यशास्त्र 1/69-71।

[3] नाट्यशास्त्र 1/73।

[4] जर्जर, सत्ता और समाज के संघर्ष का प्रतीक, डॉ. भगवती लाल राजपुरोहित, कालिदास, दी जर्नल आफ कालिदास अकादेमी, दिसम्बर 1982 पृ. 23।

कालिदास ने भी इन्द्रध्वज के दर्शन से प्रसन्न प्रजा की चर्चा की है।[1] राजतरंगिणी[2] भास के बालचरित तथा शूद्रक के मृच्छकटिक इत्यादि में इन्द्रमह या इन्द्रध्वज का उल्लेख प्राप्त होता है।[3]

देवीपुराण में भी इन्द्रध्वज उत्सव की परम्परा का उल्लेख मिलता है। सुबल नामक दैत्य सम्पूर्ण पृथ्वी आदि पर विजय करने के पश्चात् देवराज इन्द्र को भी पराजित कर दिया था। इन्द्र ने भगवान् विष्णु की प्रार्थना की और भगवान् विष्णु इन्द्र की स्तुति से सन्तुष्ट हुए तथा प्रसन्न होकर इन्द्र को श्वेतछत्र महातेजस्वी स्रग्मालापिटक प्रदान किया और यही पिटक (जिसकी पहचान अभी तक) नहीं हो पायी है सूर्य के समान चामर आदि लक्षणों से विभूषित था। सुबल पराजित हुआ। जिसकी खुशी में इन्द्रध्वज उत्सव मनाया गया।[4]

इन्द्रध्वज के लिए शुभ मुहूर्त में सूत्रधार वन को जाकर अर्जुन, प्रियंगुक उदुम्बर आदि अन्य किसी अस्त्रीसंज्ञक वृक्ष का चुनाव करे। वृक्ष की आराधना करे। रात्रि को बलि आदि देकर पूजा करे। प्रातः काल उठे तो रात्रि के स्वप्न का विचार करे।

यदि स्वप्न उत्तम हो तब तो वृक्ष काँटे अन्यथा स्वप्नानुसार दानादि करके वृक्ष काँटे। यष्टि के अग्रभाग से चार तथा मूल से आठ

---

[1] रघुवंश-4/3।

[2] राजतरंगिणी-8/170, 182।

[3] प्राचीन भारतीय लोकधर्म, डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, 1964, पृ. 33-34।

[4] देवीपुराण-11/44-45।

अंगुल काटकर जल में डाल देते थे। शुभ लग्न में उसे पुर में प्रवेश कराया जाता था। पुर भी पवित्र तथा सजा धजा होता था। चौराहे मंगल वेद से गूँजित हो जाते थे। चित्रकर्मार उसमें युक्तिपूर्वक चित्रकारी करते थे।[1] नन्दा और उपनन्दा तथा सोलहवें भाग में जय विजय बनाने का निर्देश है।[2] विभिन्न आभूषणों से इन्द्रध्वज सजाया जाता था। राजा इस अवसर पर इन्द्र से विजय की प्रार्थना करता था। भाद्र पद, शुक्ल पक्ष की अष्टमी, आश्विन मास में अपनी प्रजा के साथ हर राजा अपनी-2 राजधानी इन्द्रध्वज की पूजा तथा उत्सव करवाते थे। राजा शत्रुभय से मुक्त हो जाता था। राष्ट्र धन धान्य परिपूर्ण रहता था।

इस प्रकार यह देखते है कि जय एवं सफलता कामी नृप इन्द्रध्वज की बराबर पूजा करते थे। आज भी नेपाल में भाद्रपद शुक्ल अष्टमी से आठ दिन तक इन्द्र यात्रा उत्सव मनाया जाता है।

इसके अतिरिक्त भी देवीपुराण में रथयात्रा महोत्सव का विधान वर्णित है। तदनुसार देवी के रथ को विचित्रपद्मरागाद्यमणि, चामर कन्दुक, नाना पुष्पों, धूपों से सुशोभित कर प्रतिमा को रथ पर रखकर पञ्चमी, सप्तमी आदि तिथियों को नगर की सारी प्रजा के साथ वेद मंगल, वीणा, वेणु, मृदंग आदि विचित्र वाद्यों से जयध्वनि करती हुई

[1] देवीपुराण-12/3-28।

[2] देवीपुराण-12/29।

सारे नगर में घुमाया जाता है, उत्सव मनाया जाता है, पुनः देवीरथ को वापस उसी स्थान पर लाया जाता था। इससे सभी बाधाओं निवारण हो जाता था।[1] इस प्रकरण में यहाँ यह भी प्रतिपादित है कि ऐसे अवसरों पर विभिन्न प्रकार के बन्दियों का विमोचन किया जाता था।[2] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आज भी ऐसे राष्ट्रीय पर्वों पर बन्दियों की रिहाई की जाती है। पुराणकार का कहना है कि रथयात्रा के पश्चात् कौमुदी महोत्सव किया जाय।[3] रथयात्रा उत्सव देवता, किन्नर, गन्धर्व आदि भी करते है। रथयात्रा के प्रभाव से देवता लोग प्रसन्न होते हैं। सूर्य नभ में रथयात्रा करते हैं।[4]

विविध उत्सवों में संगीत का अपना विशिष्ट स्थान होता है। संगीत प्रणिमात्र की मूल प्रवृत्ति है। मनुष्य में अन्य प्राणियों की अपेक्षा संगीत तथा हास्य के अभिव्यक्ति की अद्भूत क्षमता है। संगीत की प्राचीन परम्परायें अत्यन्त व्यवस्थित तथा सांस्कृतिक इतिहास से सम्बद्ध हैं। प्राचीन भारतीय संगीत परम्परा एक शास्त्रीय पद्धति की ओर इंगित करती है। ऋग्वेद के शांखयन ब्राह्मण में नृत्य, गीत तथा वाद्य तीनों

---

[1] देवीपुराण-31/2-30।

[2] अच्छेद्यास्तरवस्तस्मिन् प्राणिहिंसा विवर्जयेत। बन्धनस्था विमोक्तव्या वध्या क्रोधादि शत्रवः।। देवीपुराण-31/31।

[3] देवीपुराण-31/32।

[4] देवीपुराण-31/33-35।

शिल्पों का प्रयोग प्रायः अभिन्न साहचर्य के रूप में प्राप्त होता है।[1] वस्तुतः इन तीनों नृत्य, गीत और वाद्य की समरूपता ही संगीत है।[2]

भारतीय संगीत का आरम्भ वैदिक ऋचाओं से गान्धर्व गान-परम्परा के रूप में हुआ। ऋग्वेद की ऋचायें ही स्वर समन्वित हुई जिनसे गायन विद्या का विस्तार हुआ और ये ही सामरूप में प्रतिष्ठित हुई। ईसवीं शदी के आरम्भ में भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में संगीत का निरविच्छिन्न रूप स्थापित कर उसे पूर्णतया व्यवस्थित किया। महर्षि मतंग का बृहद्देशी तथा शार्ङ्.गदेव विरचित संगीतरत्नाकार संगीत शास्त्र के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। काव्यग्रन्थों एवं पुराणों के अनेक महत्वपूर्ण प्रसंग संगीत और अभिनय आदि के विवेचन के प्रति समप्रित है।

देवीपुराण में संगीत विद्या की विविध विधाओं का प्रयोग परिलक्षित है।[3] सप्तस्वर, वीणावादन, वाद्य यंत्र, ग्राम, मूर्च्ना तथा तानादि का प्रयोग देखा जा सकता है।[4]

---

[1] शांखायन ब्राह्मण-29/5, हरिनारायण भट्टाचार्य, संस्कृत कालेज, कलकत्ता, 1970।

[2] A. गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीत मुच्यते-संगीतरत्नाकार 1/21।

B. 'पाञ्चरात्रागम में संगीत विद्यायें, डॉ. तीतला प्रसाद पाण्डेय, सन्धान Vol. VII राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी, 1994।

[3] देवीपुराण-86/29-35।

[4] शम्भुनापि तथा गृह्य सप्तस्वर विभूषितम्।। वीणावाद्य समारब्धं सारावित सकौशिकम्।
ग्राम-मूर्च्नि-तानाद्यैः कृत्सनं जगदपूरयत्।। देवीपुराण-86/29-30।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि देवीपुराण में लोकाकर्षण, मनोनिवेष तथा आस्थास्थापन के लिए संगीत के प्रयोग का उल्लेख है जो सिद्धान्त मात्र ही नहीं है अपितु उसकी प्रायोगिक एवं व्यावहारिक परम्परा भी देखी जा सकती है ।[1] हृदयावर्जक होने के कारण संगीत का समावेश किया जाता है, जिससे मानव की दूषित तथा हिंसक प्रवृत्तियों का शमन हो और पारस्परिक प्रेम, सौहाद्र तथा सहयोग की भावना को बल मिले जिसका आधार अखिल ब्रह्माण्डनायिका भगवती की संतति होना है ।

धर्म-दर्शन

भारतीय इतिहास की दृष्टि से पुराणों का एक विशेष महत्व रहा है । पुराण, धर्मशास्त्र और आगम या तंत्रशास्त्र - ये तीनों उनके धार्मिक कार्यों के पथ-प्रदर्शक हैं । वेद का अध्ययन प्राचीन परम्परा के प्रेमी और उपनिषदों का अध्ययन दार्शनिक चिन्तक करते हैं । इसी तरह प्रत्येक हिन्दू के लिए पुराण का अध्ययन किसी न किसी रूप में

[1] नृत्यते परमो देवो अस्माकं सह वासव । मया गीतं समारब्धं स्तवं ब्रह्मादिभिस्तथा । ।
विकसित कर्णिकार-कमलोत्पल ललाटजम्, जटामुकुट निघृष्टगंग शशिपन्नग विचित्रतनुम् ।
त्रिदशविलासिनी वदन पंकजगीत तरम्,ध्रुवमहि तन्नमामि चंडेशं शिवं शिरसा ध्रुवकम् । ।
दिव्यैर्गेयै ! गीत रवं पद-शत-ताल प्रमाणयुतम्, ललितैः करणैः नृत्यरतं जय जय देवं चण्डशिवम् । ।
देवीपुराण-86/31, 32, 35 ।

अनिवार्य है। भारतीय जनता को इस साहित्य जितना प्रभावित किया है, उतना अन्य साहित्य ने नहीं।[1]

भारतीय धर्म के आधार ग्रन्थ वेद तो हैं ही, किन्तु सामान्य व्यक्ति के लिए वेद को समझ पाना कठिन कार्य है। वेद की भाषा प्राचीनतम होने से दुरूह तथा उसमें प्रतिपादित तत्व भी कहीं रूपक शैली में और कहीं प्रतीकात्मक शैली में निबद्ध होने के कारण दुर्बोध हैं। अतः धर्म और दर्शन सिद्धान्तों को हृदयंगम करने के लिए और उनको जनसामान्य तक पहुँचाने के लिए एक ऐसे साहित्य की आवश्यकता थी, जो गम्भीर अर्थ का प्रतिपादक होते हुए भी रोचक हो, जो वेदार्थ का निरूपक होते हुए भी सरल, सहज और सुबोध हो। इसी आवश्यकता की पूर्ति पुराण करते हैं। शैली रोचक तथा आख्यानमयी हैं। भाषा की इस सरलता तथा शैली की रूचिरता के कारण ही पुराण लोकप्रिय हैं। वे वेदार्थ को सरलता से समझाने में भी मदद करते हैं स्वयं पुराण भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि पुराण का महत्व वेद से भी बढ़कर है, क्योंकि पुराणों में सारे वेदों का सार संगृहीत कर दिया गया है।[2]

---

[1] ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भा.1, पृ 606।

[2] "तत्र च वेदशब्दस्य सम्प्रति दुष्प्रचारत्वाद् दुरधिगमार्थत्वाच्च तदर्थनिर्णायकानां मुनीनामपि परस्पर विरोधाद् वेदरूपो वेदार्थनिर्णायकश्च इतिहासपुराणात्मकः शब्द एवं विचारणीयः"।
तत्वसन्दर्भ, पृ. 16, जीव गोस्वामी, कलकत्ता संस्करण।

वर्तमान पुराणों पर एक विहंगम दृष्टिपात करने से यह प्रतीत होता है कि इनके ऊपर महाभारत (गीता के साथ) तथा मनुस्मृति का गहरा असर है। धर्म की व्याख्या के सन्दर्भ में मूलरूप से इन्हीं दो ग्रन्थों का अनुसरण करते हैं। परम्परा से प्राप्त श्लोकों जिन्हे गाथा के नाम से अभिहित किया गया है, इन्हीं गाथाओं में अत्यन्त महत्वपूर्ण सामाजिक विषयों का प्रतिपादन है। ययाति द्वारा गाई गई एक गाथा में कहा गया है कि पृथ्वी पर जितना धन-धान्य आदि है, वह तो एक आदमी के लिए भी पर्याप्त नहीं है, अतः तृष्णा का त्याग समाज के लिए आवश्यक है। महाभारत में एक अन्य स्थल पर प्रतिपादित है कि मनुष्य का जितने से पेट भर जाय, उतना ही उसका अपना अंश है। उससे अधिक वस्तुओं का संग्रह करना एक प्रकार की चोरी है। धन सम्पत्ति के अतिरिक्त वाणी पर संयम करने का भी पुराण उपदेश देते हैं। मत्स्यपुराण में बताया गया है कि कटुवाणी के बाण मुख से निकलकर जिसको अपना लक्ष्य बनाते हैं, वह रात दिन तड़फड़ता है। दूसरे के मर्मस्थान को बींधने वाले ऐसे वाग्बाण पण्डितों को कभी नहीं चलाना चाहिए।

वेदों में कर्मकाण्ड का और उपनिषदों में ज्ञानकाण्ड का सविशेष वर्णन है। पुराणों में कर्म और ज्ञान के साथ भक्ति का भी समावेश कर एक अनोखी त्रिवेणी को बहाया गया है। इसमें स्नान करने पर भक्ति के साथ ज्ञान तथा कर्म की समरसता उत्पन्न कर अपने जीवन में

भी उसे उतारने से जीवन नितान्त पवित्र और सुखमय होगा इसमें रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं है।

पौराणिक धर्म निगमागम मूलक है। वैदिक तथा आगमिक तत्वों और क्रियाकलापों की लोकदृष्टि के अनुकूल परिवर्तित अवस्थाओं में नवीन विषयों का समावेश पुराणों में किया गया है। यह कार्य लोक-मर्यादा के निर्वाह के व्यापक दृष्टिकोण से हुआ है। पौराणिक धर्म में निगमागम धर्म का परस्पर समन्वय स्थापित करने का पूरा प्रयास किया गया है।

धर्मसूत्रों का प्रतिपादन गृहस्थ धर्म को ध्यान में रखकर किया गया था जिसके अन्तर्गत षोडशसंस्कारों के अतिरिक्त पाप-पुण्य, नीति, आचरण, प्रायश्चित्त, देवपूजा तथा अन्य कृषि सम्बन्धी उत्सवों का समावेश किया गया है। शुक्र तथा वृहस्पति ने नीति शास्त्रों का प्रणयन किया है। संवादों के माध्यम से अध्याय चार तथा पाँच में क्रमशः शुक्राचार्य तथा वृहस्पति के नीति सम्बन्धी विचारों का उल्लेख किया गया है। देवगुरू होने के नाते शुक्रचार्य से इनकी नीतियों का भेद भी बताया गया है। विभिन्न प्रकार के उत्सवों, पर्वों तथा होम आदि का विशद वर्णन विभिन्न स्थलों पर अत्यन्त ही मनोयोग पूर्वक किया गया है।

भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीनकाल से युग्मक दर्शनों का प्रचलन रहा है। दर्शन शब्द आज के फिलासफी शब्द से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त

है। वृहदारण्यक उपनिषद ने इसे "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः" कहकर दर्शन का अर्थ आत्म साक्षात्कार माना है। सांख्ययोग, न्यायवैशेषिक तथा पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा इसी साक्षात्कार को विभिन्न रूपों में प्रतिपादित करते हुए उसकी प्राप्ति के अनेकानेक मार्ग बतायें है। इन्हे हम आस्तिक दर्शनों की श्रेणी में रखते है। इसका कारण यह है कि ये सभी दार्शनिक पथ अपने निर्देश के लिए वैदिक वाङ्.मय का आश्रय लेते है। संसार के दुःख से निवृत्ति के लिए तथा आवागमन से मुक्त होने के लिए वेद वाह्य लोगों ने भी प्रयास किया है। इनमें अपने अनेक प्रस्थानों के साथ जैन तथा बौद्ध प्रस्थानों का उल्लेख किया जा सकता है। इन्होंने अपने प्रमाण के लिए वेद या वैदिक साहित्य का आश्रय नहीं लिया है। इनके प्रमाणभूत इनके मूल प्रतिपादक क्रमशः ऋषभदेव तथा गौतम बुद्ध के अनुभव ही प्रमाण है।

सांख्ययोग भारत की प्राचीनतम दार्शनिक विधा है। इसमें दो मूल तत्वों प्रकृति तथा पुरुष की अवधारणा मानी गयी है। इन्हीं से सृष्टि का आविर्भाव तथा तिरोभाव माना जाता है। इस तथ्य को हृदयंगम करने के लिए महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र का प्रणयन किया था। यह इस दर्शन का व्यावहारिक पक्ष है। अष्टांग योग द्वारा असंप्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त करना मानव का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। यही परमपुरुषार्थ या मोक्ष है। इस योग की परम्परा व्यावहारिक अनुभव सनत्कुमार को प्राप्त था। देवीपुराण के दशवें

अध्याय में इन्हीं सांख्ययोग की प्रक्रियायों का विशद विवेचन किया गया है।

न्याय तथा वैशेषिक पदार्थ निरुपण द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध करते है तथा उस तत्व का विवेचन करते है जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति हो सके। देवीपुराण में इन दर्शनों का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं मिलता। एक स्थल पर आन्विक्षिकी शब्द के द्वारा न्याय शास्त्र की ओर संकेत जान पड़ता है किन्तु 'आन्विक्षिकी त्रयी वार्ता' में आन्विक्षिकी केवल तर्क विद्या या हेतु शास्त्र प्रतीत होता है जिसकी निन्दा मनु ने किया है।

पूर्वमीमांसा महर्षि जैमिनि प्रणीत मीमांसा सूत्र के आधर पर प्रतिपादित विवेचन है। इसमें वैदिक धर्म अर्थात् याग और इष्टियों का निरूपण किया गया है। याग से प्रसन्न होकर देवता इस लोक में अभ्युदय देते हैं तथा इसके द्वारा प्राप्त एवं संचित अपूर्व द्वारा मनुष्य को अतिशय सुख सम्पन्न स्वर्ग लोक की प्राप्ति होती है। देवीपुराण में अनेक प्रकार के यागों तथा उनके प्रयोगों का विवरण किया गया है।

उत्तरमीमांसा महर्षि वादरायण प्रणीत ब्रह्मसूत्र के आधार पर स्थित है। इसका मूल स्रोत वेद के अन्तिम भाग उपनिषद् है जिसे ज्ञानकाण्ड अथवा वेदान्त कहा जाता है। इसमें जीव ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन है। गुरू द्वारा उपदिष्ट 'तत्वमसि' का अभ्यास करते हुए साधक को 'अहं ब्रह्मास्मि' का ज्ञान हो जाता है। अखिल द्वैत प्रपंच

विनष्ट होकर एक मात्र अद्वैत ब्रह्मसत्ता में प्रतिष्ठित हो जाते है वहाँ नाम रूपादि का कोई स्थान नहीं रहता। देवीपुराण में विभिन्न देवताओं एवं देवियों की स्तुति के द्वारा पाप रहित होकर अनन्त फल की प्राप्ति करता है। इससे अभ्युदय तथा परम सुख की प्राप्ति होती है।

अवैदिक दर्शनों का किसी भी वैदिक दर्शन ने समादर नहीं किया है और न तो उनकी पद्धति का अवलम्बन ही किया है बल्कि इसके विपरीत पौराणिक तथा तांत्रिक साधना का बौद्ध जैन साधकों पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा है। जैन तथा बौद्ध धर्मों द्वारा प्रतिपादित सत्य अहिंसा तथा तपस्या का महत्व देवीपुराण में भी स्वीकार किया गया है।

राजनैतिक व्यवस्था

भारतीय धर्मशास्त्र में राज्य के सात अंग माने गये हैं। स्वामी, अमात्य, मंत्री, दुर्ग, कोष, दण्ड तथा मित्र।[1] इनका विशद वर्णन कामन्दक, शुक्र तथा कौटिल्य ने अपने शास्त्रों में किया है। यद्यपि देवीपुराण में इनका विस्तृत विवरण नहीं है क्योंकि इस ग्रन्थ का सम्बन्ध अर्थशास्त्र से नहीं है किन्तु राजा के कर्तव्य का वर्णन करते हुए यह बताया गया है कि राजा ब्राह्म मुहूर्त में उठकर नित्य क्रिया सम्पादित कर आगम में निरुपित विधि के अनुसार आचमन करके घृत अथवा दप्रण में अपना मुख देखे। तत्पश्चात् सभामण्डप में आकर आय-व्यय

[1] याज्ञवल्क्यस्मृति-आचार अध्याय/353।

का निरीक्षण कर लोगों के वाद-विवादों का निस्तारण करे तथा प्रजा की रक्षा के लिए आठ प्रकार से दुर्ग का संचय कर कोष वृद्धि का उपाय करे। अठारह दोषों से रहित होकर मंत्री, मित्र तथा उदासीन (तटस्थ जन) के साथ विचार विमर्श कर राज्य कार्य सम्पादित करे।[1]

दुर्ग-निर्माण

परम्परा और विकास

दुर्ग - निर्माण की कहानी मानव के विकास की कहानी से जुड़ी हुई है। प्रागैतिहासिक काल में मानव गुफाओं और वृक्षों पर रहकर वन्य हिंसक पशुओं और जंगल के अन्य लोगों से अपना बचाव करता था। प्रकृति के प्रकोप से रक्षित रहने के भी ये स्थान ही साधन थे। सुरक्षा की इस भावना ने ही दुर्ग - निर्माण की धारणा को जन्म दिया। धीरे-धीरे विकासमान समस्त व्यवस्था में राजा के पद का प्रतिष्ठापन हुआ। उस समय से दुर्गों के निर्माण की परम्परा चल पड़ी। यही कारण है कि दुर्ग की गणना प्राचीन ग्रन्थों में राज्य के सप्तांगो में की गयी है।[2]

भारतीय स्थापत्य की परम्परा बड़ी प्राचीन है। मोहन-जोदड़ों एवं हड़प्पा में हुई खुदाई से स्थापत्य की प्राचीनता के प्रमाण उपलब्ध हुए

---

[1] देवीपुराण 2/72-76।

[2] A. मनुस्मृति 9/294। B. अर्थशास्त्र पृ. 535 (वाचस्पति गैरोला संस्करण)

थे।[1] बाद की खुदाई से और भी तथ्य प्रकाश में आये हैं। बनास, चम्बल और लूनी नदी क तल एवं तटों पर हुई खुदाई से यह तथ्य ज्ञात हुआ है कि मानव का अविर्भाव इन स्थानों पर प्रायः एक लाख वर्ष पूर्व हो गया था।

राजस्थान में सरस्वती नदी के क्षेत्र में कालीबंगा में हुई खुदाई से हड़प्पा पूर्व संस्कृति के अवशेष प्रकाश में आये है। यह कालीबंगा सभ्यता ईसा से 4700 वर्ष पूर्व की है तथा हड़प्पा एवं मोहन - जोदड़ो, सभ्यता से पूर्व की मानी जाती है। कालीबंगा में सर्वप्रथम इस प्रकार के अवशेष मिले हैं जिन्हे सैनिक स्थापत्य की संज्ञा दी जा सकती है। यहाँ दो बड़े टीलेनुमा आकार के गढ़ मिले है जो हड़प्पा में प्राप्त इस प्रकार के अवशेषों से समानता रखते है।[2]

पूर्वी टीला जो 36 फीट ऊँचा है, प्रायः आवास के काम में लिया जाता था, जबकि पश्चिमाभिमुख टीला जो 26 फीट ऊँचा है प्राचीर का काम करता था तथा सुरक्षा का एक अंग था। आगे विनिर्मित होने वाले दुर्गों के ये प्रारूप थे। इनका क्रमशः संतुलित रूप से विकास होता गया।

[1] एंशियेण्ट इण्डिया न. 3, पृ. 58।
[2] विगनिंग आफ सिविलाइजेशन इन राजस्थान द्वारा एच. डी. संकालिया।

पूर्व वैदिक एवं वैदिक युग

राज्य के विभिन्न आवश्यक साधनों में दुर्ग - निर्माण भी सुरक्षा के लिए अत्यावश्यक साधन माना गया है। भारत में दुर्गों का निर्माण प्राचीन काल से होता रहा है। मोहन जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में किसी दुर्ग के अवशेष न मिलने पर विद्वानों ने यह धारणा बनायी थी कि सिन्धु सभ्यता का यह लोकतंत्रीय रूप बुर्जुआ अर्थ-अवस्था का काल था जो सामन्ती अर्थ-व्यवस्था के आगे का स्तर है। पर शीघ्र ही यह धारणा भ्रांत सिद्ध हुई, जब दुर्ग के अवशेष बाद की खुदाई में प्राप्त हो गये। एक सुरक्षात्मक दीवार जिसकी आधार पर चौड़ाई 40 फीट और ऊँचाई 35 फीट थी तथा जो मिट्टी की बनी थी, 10 से 20 फीट ऊँची मिट्टी की प्राचीर पर खड़ी हुई थी। इस चक्राकार घूमती प्राचीर में स्थान-स्थान पर बुर्जें बनी हुई थी। दो दरवाजे एक पश्चिम की ओर तथा दूसरा उत्तर की ओर बने हुए थे। उक्त निर्माण कार्य एक पूर्व निर्माण पद्धति का निखरा और विकसित स्वरूप था। अतः यह निर्विवाद रूप से मान लिया गया कि वैदिक काल में दुर्ग-निर्माण किया जाता था। ऋग्वेद में दुर्ग या पुर के अनेकों उदाहरण मिलते है।[1] दुर्ग से पुर के अर्थ ग्रहण भी उस काल में किया जाता था।[2] साथ-साथ दृढ़ रक्षा-स्थल के बोधक के रूप में दुर्ग शब्द ग्रहीत होता था।

---

[1] वैदिक एज, आर. सी. मजुमदार, परिशिष्ट, परिच्छेद-9।

[2] ऋग्वेद, 1.130, 7.166, 2.189, 8.35, 6 आदि।

उस समय के दुर्ग चौड़े (पृथु) और विस्तृत (उर्वी) होते थे तथा उनके अन्दर विस्तृत क्षेत्र आता था। ये दुर्ग सूर्य ताप से पकी हुई मिट्टी की ईटों या पत्थर (अश्मामयी) के बने होते थे। इन दुर्गों विशाल क्षेत्र को घेर लिया जाता था जैसा कि 'शतभुज' या सौ दिवारों वाले नाम से ज्ञात होता है। इन दुर्गों की संज्ञा गोमती होती थी जिसका अर्थ धन, धान्य और भोज्य-सामग्री से परिपूर्ण होता था।[1]

ऋग्वैदिक युग अनेकों दुर्गों का उल्लेख बार-बार आता है। इन्द्र तथा विष्णु ने शम्बर की 11 पुरियों को ध्वस्त किया था।[2] पुर से यहाँ दुर्ग का ही तात्पर्य है। दूसरे मंत्र में कहा गया है कि राज शत्रुओं के दुर्ग नष्ट करते हैं, साथ ही शत्रुओं का विनाश भी करते हैं।[3] जातकों में भी दुर्ग तथा पुर का उल्लेख मिलता है।[4]

इन सुरक्षित दुर्गों की प्राचीर पत्थर या वृक्षों की बनी होती थी। दुर्गों को घेरने की क्रिया परिणति लकड़ी की प्राचीर अग्नि लगाकर जलाने में होती थी।[5] 'पुरचरिष्णु' शब्द से किसी ऐसे यंत्र का बोध होता है, जिसका उपयोग किलों के घेरे के समय किया जाता था।[6]

---

[1] एन्शियेण्ट इण्डियन पोलिटिकल थाट, भास्कर आनन्द, पृ. 32।

[2] इन्द्रा विष्णुः दहिता शम्बरस्य नवपुरो नवतिश्चलार्थ, ऋग्वेद, मण्डल 7, सूक्त 11।

[3] विदुर्ग विद्विषः पुरो दहन्ति राजान, ऋग्वेद म. 1, सूक्त 41।

[4] जातक 1, पृ. 316, 3, पृ. 2, 6, पृ. 30 आदि।

[5] ऋग्वेद 7, 5, 3।

[6] वैदिक एज, आर. सी. मजूमदार, पृ. 24।

अब यह निर्विवाद रूप से माना जाने लगा है कि दुर्ग निर्माण का विचार आर्यों ने दासों से प्राप्त किया था जो इस प्रकार के स्थानों में रहते थे। संहिता और ब्राह्मण ग्रंथों में दुर्ग तथा उनके घेरने का वर्णन आता है। शतपथ में उल्लेख है कि असुर इस लोक में लोहे का, आकश में चाँदी का तथा अन्तरिक्ष में स्वर्ण के दुर्ग का निर्माण करते हैं। देवगण इन दुर्गों को घेरते हैं इसी से उनको 'उपासद' नाम से अभिहित किया गया है। इन दुर्गों को लकड़ी के रक्षा-स्थल और गहरी खइयों में सुरक्षित बनाया जाता था। इन्द्र का नाम पुरंदर प्रसिद्ध है जिसका अर्थ दुर्गों को कम्पाने वाला होता है।[1]

दुर्गों के पूर्व रूप

प्रो. जीमर का विचार है कि यह प्राचीर भाग कंटकाकीर्ण दुर्गों के पूर्व रूप वृक्षों, लताओं के समूह मात्र थे। पुर जिसका कि अर्थ दुर्ग होता था, ग्राम की सीमा भाग में ही निर्मित किया जाता था। इनमें से शाहदीपुर जैसे दुर्ग वर्षाकालीन बाढ़ आदि से रक्षा करने हेतु बनाये जाते थे।

प्रो. पीशेल और गेल्डनोर की मान्यता है कि इन दुर्गों के लकड़ी का परकोटा और खाइयाँ होती थी। प्रो. मेकडोलन और कीथ की धारणा है कि ये दुर्ग अस्थाई आवास स्थल मध्यकालीन दुर्गों की तरह

[1] सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री, के. एम. पन्नीकार, पृ. 15।

नहीं होते थे। आक्रमण से सुरक्षा हेतु प्रश्रय लेने के स्थल के रूप में थोड़े समय के लिए इनका उपयोग किया जाता था। इनकी पकाई हुई कड़ी मिट्टी की प्राचीरे और गहरी खाइयाँ सुरक्षा हेतु बनी होती थी। ये मत अन्य विचारों को भी प्रायः ग्राह्य है। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, दुर्ग निर्माण के सिद्धान्तों में आवश्यक सुधार होते गये। निरन्तर आक्रमणों का सामना करने के कारण रक्षा व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। विचार-विमर्श और अनुभव के आधार पर दुर्ग-निर्माण के विविध पहलुओं के सिद्धान्त का विवेचन किया गया तथा दुर्ग के प्राकारों, उनकी विशेषता और कमियाँ आदि को बताने वाले सिद्धान्त बनाये गये। दुर्ग निर्माण में किन-किन स्थानों पर किस प्रकार का निर्माण होना चाहिए, किस तरह की रक्षा-व्यवस्था होनी चाहिए, दुर्ग के लिए कौन सा आदर्श हो आदि बातों पर विस्तृत विवेचन तत्कालीन ग्रन्थों में किया गया तथा तदनुकूल दुर्गों का निर्माण किया जाने लगा।

मनु का वर्गीकरण

मनु-स्मृतिकार मनु (ई० पू० 3100) ने सर्वप्रथम दुर्गों का वर्गीकरण किया। इस समय दुर्ग-निर्माण की धारणा में बड़ी उन्नति हुई। मनु ने दुर्ग रचना सम्बन्धी नियमों का निरूपण बड़े विस्तार से किया है। मनु द्वारा निश्चित ये दुर्ग निर्माण के विशेष विवरण सिद्ध

करते हैं कि उस समय दुर्ग की रचना और निर्माण की ओर शासकों का ध्यान गम्भीरता पूर्वक जाने लगा था।

मनु ने धन और मही दुर्ग, जल दुर्ग, नृ-दुर्ग और गिरि दुर्ग के नाम से दुर्गों का विभेद किया है[1] और हर प्रकार के दुर्गों के निर्माण के प्रकार बतायें हैं। धन्व दुर्ग मरूवेष्टित होना चाहिए, मही दुर्ग पाषाण और काष्ठ से बना होना चाहिए। चारों ओर सुदृढ़ बारह हाथ चौड़ी प्राचीर जिस पर घूमा जा सके तथा सावरण गवाक्ष बनाये जाने चाहिए। जल-दुर्ग अगाध जल से घिरा होना चाहिए। वार्क्ष-दुर्ग चारो ओर से लम्बा चौड़ा हो तथा घोर कंटकाकीर्ण लतादिकों से आवृत रहे, नृ-दुर्ग चारों ओर से हाथी घोड़े पदातियों से सुरक्षित रहे तथा गिरि दुर्ग पर्वत पृष्ठ पर बना हुआ अत्यन्त दुरारोह हो, संकड़ा प्रवेश द्वार हो तथा वृक्षों से घिरा हो।[2]

मनु ने इनमें गिरिदुर्ग को सर्वश्रेष्ठ बताया है। दुर्गों को आत्मरक्षा का सर्वश्रेष्ठ साधन मानकर उनका निर्माण किया जाता था। राजाओं के लिए दुर्ग बनाना अनिवार्य माना गया था।[3] एक धनुर्धर किले की प्राचीर का सहारा लेकर सैकड़ों योद्धाओं से लड़ सकता है

---

[1] A. मनुस्मृति 7/70 B. मानसार 10/90-91।

[2] मनुस्मृति, पृ. 241-270।

[3] तत्रैव-71-72।

तथा सौ, दस हजार से अतः दुर्ग अवश्य बनाया जाना चाहिए। ऐसा मनु स्मृतिकार का निर्देश है।[1]

इन दुर्गों में सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्र होने चाहिए। भोज्य सामग्री, अटूट जल के भण्डारों तथा ब्राह्मण शिल्पिक हों तथा विविध प्रकार के यंत्र प्राचीर भाग लगे हों। किले के मध्य भाग राजा का आवास बनाया जावे। यह आवास गुप्त और सब वस्तुओं में अनुकूल रहना चाहिए तथा जल एवं वृक्षों से घिरा हो।[2]

इस विस्तृत निर्देशों से सिद्ध होता है कि दुर्ग निर्माण के सिद्धान्तों में बड़ी उन्नति हो चुकी थी। क्रियात्मक रूप से प्राप्त अनुभवों के आधार पर किलों के निर्माण के प्रकार सुरक्षा व्यवस्था में समय-समय पर आवश्यक सुधार किये गये। इसके साथ-साथ अस्त्र-शस्त्रों में भी आवश्यक परिवर्तन कर उन्हें समयानुकूल बनाया गया।

रामायणकाल के दुर्ग

रामायणकाल (2350-1950 ई0 पू0) में किलों के निर्माण के सिद्धान्तों में बहुत उन्नति हो चुकी थी। रामायण में चार प्रकार के किलों का वर्णन आता है।[3] नादेय दुर्ग समुद्र या नदी से घिरा होता था

[1] तत्रैव-73-74।

[2] तत्रैव-75-76।

[3] नादेयं पार्वतं वान्यं कृत्रिमं च चतुर्विधम्, युद्धकाण्ड 3, 20, 21।

जैसे लंका। दूसरा प्रकार उन दुर्गों का था जो पहाड़ी चट्टानों से घिरे हों तथा चट्टान को खोद कर जिनका प्रवेश द्वार बनाया गया हो। ऐसे दुर्गों में किष्किन्धा का दुर्ग आता है। तीसरे प्रकार के दुर्ग भयंकर जंगलों से घिरे होते थे तथा चौथी प्रकार के दुर्गों की रक्षा-व्यवस्था मानव निर्मित होती थी। अयोध्या ऐसे दुर्गों की श्रेणी में आता है। रामायणकाल में लंका को सर्वोत्तम दुर्ग माना जाता था। यह त्रिकूट नामक उन्नत पर्वत पर बसा हुआ चारों ओर समुद्र से परिविष्ठित था। इशुपलाका यंत्र तथा शताघ्नियाँ इसकी प्राचीरों पर लगी हुई इसकी रक्षा करती थीं। इस प्रकार रक्षा की दृष्टि से यह आदर्श दुर्ग माना जाता था।[1] उस काल में दुर्ग बनाना पुण्य कार्य माना जाता था।[2]

लंका में चारों प्रकार के दुर्ग पाये जाते थे। खाईयों के जल मकरों से पूर्ण रहते थे तथा इस जल के स्तर को घटाने या बढ़ाने हेतु यंत्र लगे रहते थे। किले के चार द्वार थे जिनकी रक्षा सुभटों की एक बड़ी सेना करती थी। लंका के इन उन्नत द्वारों में उत्तरी दरवाजा अपनी ऊँचाई कैलाश पर्वत की समता करता था। इस दुर्ग का निर्माण स्वयं विश्वकर्मा ने किया था। लंका के अविजय दुर्ग को देखकर हनुमान ने एक बार विस्मयाभिभूत होकर सोचने लगे थे कि क्या इस महान दुर्ग को तोड़ने में रामचन्द्र सफल हो सकेंगे।

[1] सुन्दरकाण्ड, 2, 52, 27।

[2] सर्व पुण्यमिदं नृपः स रूयतै यः कारयेत् पर्वते। दुर्ग सर्वजनाय शर्मजनं विश्राम मेके परम्।। रामायण मं अध्याय 4/1।

कृष्ण के समय (1950-1400 ई0 पू0) अनेकों अपराजय दुर्गों का निर्माण हो चुका था। मगध, चेदी, पंचाल सभी प्रदेशों के अपने दुर्गम दुर्ग बने थे। इन दुर्गों की रक्षा-व्यवस्था सब प्रकार से पूर्ण थी। जरासन्ध के लगातार हमलों से व्यथित होकर कृष्ण ने अपनी राजधानी द्वारिका में स्थानांतरित कर ली थी। द्वारिका समुद्र परिवष्ठित होने के कारण बड़ी सुरक्षित थी।[1] महाभारत में छः प्रकार के दुर्ग बतलाये गये हैं - धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, गिरिदुर्ग, मनुष्यदुर्ग, मृद्दुर्ग तथा वनदुर्ग।[2] अग्निपुराण[3] तथा विष्णुधर्मसूत्र[4] में भी यही सूची प्राप्त होती है।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, दुर्ग निर्माण के सिद्धान्तों में आवश्यक सुधार होते रहे। चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में पाटलीपुत्र नगर की सुरक्षा व्यवस्था बड़ी आदर्श थी। मेगस्थनीज ने पाटलीपुत्र का बड़ा रोचक वर्णन किया है।[5] इस नगर की रचना चाणक्य द्वारा निर्देशित सिद्धान्तों के आधार पर हुई थी। गंगा और शोण नदियों के संगम पर अवस्थित इस नगर को चाणक्य ने 'नदी-संगम' की संज्ञा प्रदान की है। नगर आयताकार बसा हुआ था जिसकी लम्बाई 9 मील और चौड़ाई 1270 मील थी। एक 200 फीट चौड़ी और 60 फीट गहरी खाई इसके

---

[1] महाभारत, वनपर्व, 15-10-20।

[2] धन्वदुर्ग महीदुर्ग गिरिदुर्ग तथैवच। मनुष्यदुर्गं मृद्दुर्गं च तानि षट्।।
महाभारत शान्तिपर्व - 12/87/5।

[3] अग्निपुराण 222/4-5।

[4] विष्णुधर्मसूत्र - 3, 6।

[5] मेगस्थनीज 25, 10, 5, 702।

चारो ओर घूमी हुई थी जो शोण के जल से परिपूर्ण रहती थी। लकड़ी की मोटी और विशाल प्राचीर से नगर सुरक्षित था। इस प्राचीर में 64 दरवाजे और 570 बुर्जे थी।[1]

चाणक्य द्वारा वर्गीकरण

चाणक्य की विचारधारा के अनुसार राजधानी पहाड़ी शिखर पर अवस्थित होनी चाहिए या नदी तट पर स्थित होनी चाहिए। हर 6 फीट के अन्तर पर तीन मोटी गहरी खाइयाँ जिनकी चौड़ाई क्रमशः 14, 12 और 10 दण्ड या 84, 71 और 60 फीट होनी चाहिए। गहराई चौड़ाई की आधी होनी आवश्यक है। इन खाइयों को नदी से सम्बन्धित की जानी चाहिए। खाई को दुष्तीर्ण बनाने के लिए मकरादि हिंसक जानवर उसमें छोड़ देने चाहिए।[2]

चाणक्य ने दुर्ग के हर भाग के निर्माण के बारे में विस्तृत आदेश दिये हैं। इस विस्तृत विवरण को यहाँ देना संभव नहीं है। मुख्य स्थानों में प्रकार अट्टालिका, प्रतोली, इन्द्रकेश, छत्रपथ, देवपथ, गोपुर आदि हैं जिनके निर्माण के प्रकारों पर प्रकाश डाला गया है।[3]

तरह-तरह के अस्त्र-शस्त्र में कुठारी, काण्ड कल्पना आदि के अतिरिक्त शतघ्नी का वर्णन प्रमुख रूप से किया गया है। शतघ्नी का

---

[1] चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम, आर. के मुखर्जी, पृ. 102।

[2] अर्थशास्त्र, अध्याय 3।

[3] तत्रैव, अध्याय 7।

अर्थ तीखे दाँतों वाले अस्त्र विशेष था।[1] कुछ लेखकों के अनुसार शतघ्नी का अर्थ तोप और भूसुण्डी का अर्थ बन्दूक से है पर यह भ्रांति है।

इतिहासकारों के अनुसार यद्यपि 14वीं शती के प्रारम्भ में तोपों, बन्दूकों का प्रयोग भारत में होता था पर विस्तृत स्तर पर इनका प्रयोग मुगलों के जमाने में ही हुआ था। पाटलीपुत्र उस समय का आदर्श दुर्ग था अतः सम्भव है अन्य दुर्ग भी इसी पद्धति से बने होंगे।

पाटलीपुत्र का प्रसंग पतंजलि के महाभाष्य में आता है। बाद में विशाखदत के मुद्राराक्षस में भी इस प्रसंग की चर्चा है। मुद्राराक्षस में यंत्र-तौरण का वर्णन किया गया है जिसकी एक शलाका को घुमाकर दुर्ग के द्वार को ऊँचा या नीचा किया जा सकता था। आगे चलकर संभवतः भारी दरवाजों की आवश्यकता होने पर इस पद्धति का प्रचलन बंद हो गया हो।

कौटिल्य ने दुर्गों का सात भागों में वर्गीकरण किया है। 1-नदी तट पर, 2-नदी संगम पर, 3-झील पर, 4-टापू पर, 5-मरूस्थल में, 6-जंगल में, 7-पहाड़ के शिखर पर। यह विभाजन दुर्ग की स्थिति-स्थान के आधार पर किया गया है।

---

[1] दात्रिका दूतयः कुण्डा भूषुण्डयो दृषदस्त थ। व्याघ्री शतघ्नी रोषण्यो जलयंत्रणि मुद्गराः।।
देवीपुराण 72/84।

इन दुर्गों में कौटिल्य ने गिरीदुर्ग को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है जिसे घेरना अत्यन्त कठिन (दुरूपरोधि) होता था। इस दुर्ग की रक्षक सेना सरलता से आक्रमणकारियों पर शिला खण्ड लुढ़काकर रोक सकती थी।[1]

सिकन्दर के इतिहासकारों ने कई दुर्गम दुर्गों का वर्णन किया है जिन्होनें सिकन्दर का बड़ा कड़ा मुकाबला किया था।[2] इन दुर्गों में भस्सग सांगल मालवा आदि बड़े प्रमुख गिरी दुर्ग थे। इन पहाड़ी दुर्गों की ऊँचाई और दृढ़ता देख सिकन्दर एक बार साहस खो बैठा था। कुछ सविशेष प्रकार से बने हुए दुर्ग भी उस समय थे। इन दुर्गों की सीढ़ियाँ चक्करदार होती थी जिनके मुँह पर एक बड़ा लोहे का तवा लगाया जाता था। शत्रु के दुर्ग में प्रविष्ट हो जाने पर दोनों मार्ग नीचे ऊपर ये बन्द कर दिये जाते थे और तवे पर अग्नि जला देते थे। अग्नि के तीव्र ताप से आक्रमणकारी अन्दर ही अन्दर झुलस जाते थे।

आठ प्रकार के दुर्ग

आगे चलकर चाणक्य के काल से प्रायः आठवीं शती तक दुर्ग निर्माण की पद्धति, प्रकार आदि में नवीनता आई। 'नरपति जयचर्या' में दुर्गों का आठ प्रकार से वर्गीकरण किया गया है जो निम्न प्रकार से है।

---

[1] अर्थशास्त्र-अध्याय 7।

[2] A. मौर्य साम्राज्य का सांस्कृतिक इतिहास, भगवतीशरण, पृ. 299।
B. Classical Accounts of India, R.C. Majumadar, P.15.

1. धुल कोट 2. जल कोट 3. नगर कोट 4. गिरिगन्हर 5. गिरि कोट 6. डमरू कोट 7. विषम भूमिकोट 8. विषमाख्य।[1]

देवीपुराण में दुर्ग रचना का विशद वर्णन किया गया है। यह वर्णन इतना पूर्ण है कि भवनों की स्थिति के संबंध में दिशा-निर्देश भी दिये गये है।[2] उदाहरणार्थ निर्देश है कि घुड़सालों और हसतशाला पूर्वाभिमुखी हो तथा बावडिये पश्चिम की ओर मुख करती हुई बनाई जावें। किले में मुर्गे, बन्दर आदि भी आवश्यक बताये गये हैं। पशु-चिकित्सा को एक बड़ी आवश्यकता मानी गयी है। दुर्ग में मंदिर, प्रथम द्वार पर गणेश की मूर्ति किले को अनिवार्य आवश्यकताएँ है। बलिदान की प्रथा का समर्थन किया गया है।[3]

भवन निर्माण, नगर निर्माण एवं सेतु निर्माण के समय दुर्ग देवी का पूजा विधान वर्णित है। वस्तुतः दुर्गा यह नाम भी दुर्ग से सम्बन्ध रखाता है। अतएवं इसमें गिरिदुर्गा, वनदुर्गा आदि आदि नामों का भी उल्लेख मिलता है। प्रकरणानुसार वास्तुशास्त्र विषय का निरूपण किया गया है। मन्दिर निर्माण, मूर्ति निर्माण का भी विवेचन किया गया है।[4]

---

[1] A. नरपति जयचर्या, 175-176
B. अर्थशास्त्र- (अनु.) छठा अधिकरण, प्रकरण 96, अध्याय 1।

[2] देवीपुराण 72/9-12।

[3] तत्रैव 73/124-130।

[4] देवीपुराण-अध्याय 50, 90 तथा 118।

देवीपुराण में मूल रूप से औदक, पार्वत्य, धान्वन और वनज नामक चार प्रकार के दुर्ग का उल्लेख मिलता है। पुनः प्रत्येक दुर्ग को क्रमशः अन्तर्द्वीप और स्थल, प्रान्तर और गुहा, निरूदक तथा ऐरिण और खाञ्जन तथा स्तम्ब नामक दो-दो वर्गों में विभक्त किया गया हे।[1] इस प्रकार देवीपुराण में कुल मिलाकर आठ प्रकार के दुर्गों का उल्लेख मिलता है। अधोदुर्ग तथा कृत्रिम दुर्ग का भी उल्लेख देवीपुराण में मिलता है।[2]

देवीपुराण में पार्वत दुर्ग को दो भागों में विभक्त किया गया है-

1. गुहा दुर्ग - यह पर्वत श्रेणियों से घिरी हुई उपत्यका (पर्वतीय घाटी) में स्थित होता है। इसमें आवागमन के लिए अत्यधिक दुर्गम मार्ग निर्मित किये जाते हैं।[3]

2. प्रान्तर दुर्ग - यह पर्वत की चोटी पर स्थित होता है तथा पहाड़ी के ऊपरी भाग को समतल करके बनाया जाता है। इसे अत्यन्त पवित्र तथा प्रशस्त दुर्ग माना गया है।[4] अग्निपुराण में पार्वत दुर्ग को

[1] दुर्ग चतुविघं ज्ञेयमापत्स्वाश्रयकारणम्। औदकं पावूर्वतञ्चैव धान्वनं वनजं तथा।।
चात्वारो मूलदुर्गे तु द्विभेदाः परिकीर्तिताः। अन्तर्द्वीपं स्थलञ्चैव गुहाप्रान्तरमेव च।।
प्रोक्तं निरूदकं स्तम्बमिरिणाख्यं तथैव च। खाञ्जनं चैव विज्ञेयं स्तम्बगहनमष्टमम्।।
देवीपुराण 72/52-54।

[2] देवीपुराण-73/1,130।

[3] देवीपुराण-72/57।

[4] देवीपुराण-72/58।

सर्वोत्तम दुर्ग माना गया है ।[1]समरांगणसूत्र धार में भी इसी कथन का अनुमोदन किया गया है ।[2]

देवीपुराण में औदक दुर्ग के दो भेद प्रतिपादित है -

1. अन्तर्द्वीप - जिसके दोनों ओर जल भरा हो या नदी बहती हो उसे अन्तर्द्वीप कहते है ।[3]

2. स्थल दुर्ग - यह दुर्ग ऐसी ऊँची क कठोर भूमि पर स्थित होता है, जिसके चारो ओर गहरा और शान्तजल भरा हो । दूसरे शब्दों में इसे तडाग के स्थित दुर्ग माना जा सकता है ।[4] मानसार में भी प्रायः न्यूनाधिक रूप से इसी कथन का अनुमोदन किया गया है ।[5]

वनदुर्ग को मयमत में जलरहित सघन वृक्षों से युक्त कहा गया है ।[6] शुक्रनीति में बहुत बड़े काँटेदार वृक्षों के समूहों चारों ओर घिरा हुआ बतलाय गया है ।[7] देवीपुराण में इसक दो भेद चित्रित हैं - खाञ्जन दुर्ग तथा स्तम्ब दुर्ग ।

---

[1] "सर्वोत्तम शैलदुर्गनभेद्यं चान्य भेदनम्" अग्निपुराण-222/5 ।

[2] "सर्वेषामेव दुर्गाणां पार्वतीयं प्रशस्यते" । समरांगणसूत्रधार-45/40 ।

[3] आपो द्विधा गता यत्र तदनतर्द्वीपमुच्यते । विज्ञेयं तु नदी दुर्ग मित्युवा चोश्ना स्वयम् ।। देवीपुराण-72/55 ।

[4] स्थूल मुन्नतदेशः स्यादगाध सलिला वृतम् । जलदुर्गं द्वितीय स्यात् तडागं सरसश्च यत् ।। देवीपुराण-72/56 ।

[5] मानसार 10/48 ।

[6] अजलं तरुवनगहनं वनदुर्गम्, मयमत 10/37 ।

[7] शुक्रनीति - 4, 6, 3 ।

'खाञ्जन' दुर्ग काँटेदार घनी झाड़ियों से घिरे स्थान पर स्थित होता है। यहाँ वनस्पति और जल का अभाव होता है। इसके विपरीत लम्बे पेड़ों से ढका हुआ और जल से दूर स्थित दुर्ग 'स्तम्ब' कहलाता है।[1]

धन्व दुर्ग को मरुदुर्ग भी कहते है। देवीपुराण में इसके दो भेद निरुपित है -

1. निरुदक - इस दुर्ग में जल पेड़-पौधे या अन्य किसी प्रकार की हरी वनस्पति का अभाव होता है।[2]

2. ऐरिण दुर्ग - यह ऐसी भूमि पर स्थित होता है, जहाँ लवणों की अधिकता और उपयुक्त जल के अभाव में बंजर हो गयी है।[3] मयमत में इसे वनस्पति और जलविहिन बताया गया है।[4]

अवन्ती के शुंगों और गुप्त राजाओं के बीच का समय बड़ा उथल-पुथल का रहा। उत्तरी भारत शंको द्वारा रौंधा जा रहा था। गुप्त शासकों ने अस्थायी रूप से इस आँधी को रोका। भारतवर्ष के इतिहास में गुप्त साम्राज्य स्वर्ण युग के नाम से प्रसिद्ध है। इस काल में विविध

---

[1] खञ्जनाख्यं पुनर्ज्ञेयं सजलधारकद्रमम्। स्तोकवृक्ष समायुक्तं स्तम्बाख्यं गहनं विदुः।।
देवीपुराण-72/61-62।

[2] बहिर्निः सलिलं दुर्गं तृणवृक्ष विवर्जितम्। ज्ञेयं निरुदकं स्तम्बं सदा दुर्ग विधायकैः।।
देवीपुराण-72/59।

[3] एतदेकञ्च विज्ञेयमिरिणं सोषरं बुधैः। स्वल्पक्षार जलोपेतं द्वितीयं सोषरं स्मृतम्।।
देवीपुराण-72/60।

[4] "निर्वनोदमिरिणं स्याद्"।
मयमत-10/38।

कलाओं में बड़ी उन्नती हुई तथा अन्य कलाओं के साथ स्थापत्य, सैनिक और नागरिक दोनों में बड़ा विकास हुआ। निरन्तर हमलों के कारण यह बहुत संभव प्रतीत है कि देश में सुरक्षापूर्ण दुर्गों का विस्तृत स्तर पर निर्माण किया गया होगा। इन दुर्गों के कारण हूणों और बर्बरों को कुछ समय तक रोकना संभव हुआ।

कन्नौज की उन्नति मौखरियों के काल में हुई जो इस समय उत्तरी भारत की बड़ी शक्ति थी। गौड़ और पाटलीपुत्र की ओर से होने वाले आक्रमणों से सुरक्षा पाने के लिए कन्नौज की रक्षा व्यवस्था को अतीव दृढ़ बनाया गया था। थानेश्वर भी उन दिनो बड़ा प्रसिद्ध सुरक्षित स्थान माना जाता था। हर्ष ने मालवा और अवन्ती को पददलित किया और बलभी के शासक को अपना आधिपत्य मानने को विवश किया। इन सभी स्थानों के दुर्गों का पतन कड़े संघर्ष के बाद हुआ था।

आठवीं शती के प्रारम्भ में सिन्ध के रास्ते अरब की ओर से आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। इन स्थानों में स्थापित राजपूत राज्यों ने आक्रमणकारियों का कड़ा असफल प्रतिरोध किया। पश्चिमी भारत के प्रतिहार बड़ी शक्ति थी। अर्बुदाचल में परमार, नेवाड़ में गुहिल, शाकम्भरी में चौहान और अलवर में परिहार उन दिनों बड़ी शक्ति थे।

इन सभी राजवंशों के पास अनेक विशाल दृढ़ दुर्ग थे जिनका संरक्षण इन्हें उस उथल-पुथल के युग में प्राप्त होता था। इसी समय के

आस-पास चित्तौड़, जालौर, मांडल, रणथम्भोर आदि महान दुर्ग बने और दुर्ग की निर्माण कला अपनी चरम सीमा तक जा पहुँची। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि भारत में दुर्गों के अस्तित्व के प्रमाण अति प्राचीन काल से ही मिलने लगते है। एक ओर जहाँ सभ्यता के आदिम ग्रन्थ ऋग्वेद में इनका उल्लेख है, वहीं संस्कृति के ध्वंशावशेष से भी प्रमाण प्रकाश में आये। मध्यकाल में दुर्गों का महत्व अत्यधिक बढ़ा और हवाई आक्रमण के आरम्भ से पहले लगभग अठारहवीं शताब्दी तक भारतीय युद्धों के इतिहास में इसकी प्रमुख भूमिका रही।

प्राचीन ग्रन्थों में दुर्ग-वास्तु के निम्न प्रमुख अंगों का विवरण मिलता - परिखा, वप्र, प्राकार, अट्टालक, प्रतोली, इन्द्रकोष एवं देवपथ तथा गोपुर। देवीपुराण में प्रायः इन अंगों की चर्चा की गयी है।[1] दुर्ग वास्तु में प्रथम स्थान परिखा को दिया गया है। जिस भूमि पर परिखा का निर्माण किया जाता था। उसको चिन्हित कर दिया जाता था इस भू भाग को परिखेया भूमि कहते थे। परिखा की जो मिट्टी होती थी उसी के द्वारा वप्र का निर्माण किया जाता था।[2] समरांगणसूत्रधार में वप्र के निर्माण का इसी तरह उल्लेख है।[3] प्राकार को वप्र के ऊपर बनाया

[1] देशकाल वशाद्वापि कल्पनीयौ व्ययाव्ययौ। प्रकार परिखादीनां कल्पयेद् वा पृथक-2।।
द्रव्याणां निचयार्थञ्च सग्रमान महर्द्धिकान्। परिखाखननं नित्यं नित्यं व प्रविवर्द्धनम्।।
देवीपुराण 72/70-71।

[2] अर्थशास्त्र (गैरोला संस्करण), पृ. 104।

[3] समरांगणसूत्रधार पृ. 40।

जाता था। प्राकार की सुरक्षा के लिए कुण्डा, भुषुण्ड तथा शतघ्नी का उल्लेख देवीपुराण में मिलता है।[1] कौटिल्य ने भी इस कथन का समर्थन किया है।[2] प्राकार के अनन्तर दुर्ग वास्तु में अट्टालक बुर्ज का उल्लेख मिलता है। अट्टालक दुर्ग के चारों ओर बनाये जाते थे। अट्टालकों की संख्या कई बताई गयी है। कौटिल्य ने दो अट्टालकों के मध्य में प्रतोली निर्माण करने का उल्लेख किया है।[3] देवीपुराण तथा चन्देलों के अजयगढ़ अभिलेख में इस शब्द का उल्लेख मिलता है।[4] अट्टालक एवं प्रतोली के मध्य इन्द्रकोष नामक स्थान बनाया जाता था।[5]

दुर्गवास्तु का गोपुर महत्वपूर्ण अंग था। अर्थशास्त्र में दुर्ग द्वार को गोपुर कहा गया है।[6] देवीपुराण में वशिष्ठ मुनि के प्रश्न के साथ गोपुर का वर्णन आरम्भ होता है। बृहस्पति के उत्तर में गोपुर का विस्तार से वर्णन करते हैं।[7]

दुर्गों पर विजय प्राप्त करने के लिए कौटिल्य ने उपजाप (बहकाना) अपसप्र (गुप्तचरों द्वारा शत्रुनाश) वामन (विष प्रयोग)

---

[1] देवीपुराण 72/84।
[2] अर्थशास्त्र (गैरोला) पृ. 109।
[3] तत्रैव, पृ. 106।
[4] A. एपिग्राफिया इंडिका, भाग 27, पृ. 99-107।
B. देवीपुराण 72/140।
[5] अर्थशास्त्र (गैरोला) पृ. 106।
[6] तत्रैव।
[7] देवीपुराण- 72/112-123।

पर्युपासन (घेरा डालना) और अवमद्र (विध्वंस) नामक पाँच विधियाँ बतायी गयी है ।[1]

शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाने पर अथवा दुर्ग को घेर लेने पर कौटिल्य ने उसके सुरक्षा के अनेक उपाय बतलाये है ।[2] गुप्तचरों का प्रयोग करके शत्रु के दुर्ग में प्रवेश करना सुगम बताया 'गया है ।[3] सोमदेव की सम्मति में दुर्गपति को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, जिससे राजमुद्रा रहित किसी भी व्यक्ति के गमनागमन पर निषेध हो । साथ ही यदि कोई प्रवेश करे तो उसका विधिवत शोधन हो ।[4]

दुर्गों के महत्व को स्वीकार करते हुए कौटिल्य ने कहा है कि राजा को जनपद की सीमाओं पर सुरक्षा की दृष्टि से प्राकृतिक साधनों का उपयोग करते हुए दुर्ग की व्यवस्था अवश्य करनी चाहिए ।[5] स्कन्दपुराण में एक किले की तुलना एक हजार हाथियों तथा एक लाख सुन्दर घोड़ों की शक्ति से की गयी है ।[6] शुक्रनीति में कहा गया है कि अस्त्र धारण किये हुए सैनिक अकेला ही दुर्ग में लड़े तो बाहर के सौ

---

[1] उपजापोऽपसर्पो वा वामनं पर्युपासनम् । अवमद्रश्च पंचैते दुर्ग लम्भस्य हेतवः ।

[2] प्राचीन भारतीय दुर्ग-स्थापत्य, डॉ. अमर सिंह, विश्व प्रकाशन, लखनऊ, 1995, पृ. 40-41 ।

[3] अर्थशास्त्र, अधि. 13, अ. 3, प्र. 173 ।

[4] नीतिवाक्यमृतम्, समुदेश्य 20, वार्ता 7 ।

[5] अर्थशास्त्र, अधि 2, अ. 3, प्र. 19 ।

[6] स्कन्दपुराण, काशीखण्ड (4), उत्तरार्द्ध, अध्याय 76/20 ।

सैनिकों से लड़ सकता है और यदि सौ सैनिक हो तो दस हजार सैनिकों से लड़ सकतें है। इससे दुर्ग का आश्रय लेना उचित होता है।[1]

कामन्दकीय नीतिसार में राजा के लिए दुर्ग परम उपयोगी बतलाया गया है। उसकी मान्यता है कि दुर्गहीन राजा पवन से प्रेरित मेघों के समान (शत्रुओं के आक्रमण) से छिन्न-भिन्न हो जाता है।[2] दुर्गों के महत्व को स्वीकार करते हुए मनु ने पुर (राजधानी या दुर्ग) को राष्ट्र के पूर्व रखा है।[3] सामदेव सूरि के मतानुसार दुर्गहीन देश शत्रु द्वारा अवश्य ही जीत लिया जाता है।[4]

उपर्युक्त प्रायः सभी राजनीतिशास्त्र के विचारकों ने दुर्ग के महत्व को स्वीकार करते हुए उन्हे राष्ट्र, राजा, प्रजा, कोश, सेना की सुरक्षा के लिए उपयोगी बतलाया है। क्योंकि दुर्ग में सुरक्षित निर्बल राजा को भी शत्रु की शक्ति के आगे आसानी से नहीं झुकाया जा सकता। भारतीय समाज में सुरक्षा की दृष्टि से दुर्गों का योगदान अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है। आदिकालिन मानव हिंसक पशुओं, लुटेरों आदि से ग्रामों की रक्षा के लिए मिट्टी की दीवार अथवा लकड़ी की बाड़ो से घेर देते थे। कालान्तर नगर सभ्यता और राजनीतिक सत्ता के विकास के साथ-2 उन्होनें अपने नगरों और राजधानियों को भी परिखा, प्रकार आदि से

---

[1] शुक्रनीति 4/प्र.6/श्लोक 10-11।

[2] कामन्दकीपनीतिसार सर्ग 4/58।

[3] मनुस्मृति - 7/73।

[4] नीतिवाक्यामृतम् समुद्देश्य 20, वार्ता 4।

सन्निवेष्ठित करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक महत्वपूर्ण स्थल की सुरक्षा के लिए दुर्ग की अनिवार्य उपयोगिता स्वीकार कर ली गयी थी।

षष्ठ अध्याय

उपसंहार

भारतीय वाड्.मय में पौराणिक साहित्य विपुल रूप में ऐसे स्रोत प्रदान करता है जिससे भारतीय समाज के ऐतिहासिक और सांस्कृति कालक्रमीय स्तरों को आविष्कृत एवं सुनिश्चित करने में सहायता मिलती है। इसीलिए शासक वंशों के इतिहास और अभिलेखिय स्रोत के साथ तुलना करते हुए इतिहास की पुनरंचना के लिए पौराणिक साहित्य के स्रोत का गम्भीर अध्ययन विद्वानों ने किया है। पार्जिटर से लेकर आर. सी. आजरा और एस. एन. राय तक विद्वानों ने पुराणों एवं अन्य उप-पुराणों की काल क्रमानुसारी और तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में गम्भीर प्रयास किये है। डा. हाजरा और डा. राय ने पुराणों के भाषा के स्तरों की भी परीक्षा की है। मांगोलिक क्षेत्रों की पहचान, धार्मिक और औपासनिक सम्प्रदायों के विवरण कलाओं के स्वरूप और विकास तथा सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है। पुराणों से बहुमूल्य ऐतिहासिक तथ्यों के अतिक्रमण की दिशा में भी कार्य किया गया है। पुराणों के बीच एवं एक ही पुराण के भीतर असंगति या विराध की उपस्थिति एवं उसके समाधान की दिशा में भी कार्य हुआ है अब इस दिशा में और आगे बढ़ने तथा उपपुराणों में एक-एक पुराण को लेकर और गहरी खोज करने की आवश्यकता है।

पुराण एवं उपपुराण के मध्य देवीपुराण का अध्ययन भारत क धार्मिक आन्दोलन के इतिहास की पुर्नरचना की दृष्टि से अत्यधिक

महत्वपूर्ण है। भारतीय धार्मिक आन्दोलन के कालक्रमानुसारी इतिहास की पुनरंचना में शाक्त मत की गहरी परीक्षा और उसमें भी देवीपुराण की स्थिति का अन्वेषण विशेष रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि भारतीय धार्मिक आन्दोलन में शाक्त दर्शन एवं उपासना का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ महत्व विशेष रूप से हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। वैदिक धर्म को वेदेतर परम्परा से मिली चुनौती भारतीय धर्म के इतिहास का एक प्रमुख बिन्दु है जहाँ इतिहास में मोड़ आता है। बौद्ध एवं जैन धर्मों का उदय इसी मोड़ के सूजक हैं। एक दूसरा बिन्दु तब सामने आता है जब वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा का तथा पौराणिक धर्म के उदय का काल आता है। एक अन्य मोड़ तब दिखाई पड़ता है जब वैदिक पौराणिक धर्म से आगमिक तांत्रिक धर्म परम्परा का ही नहीं वैदिक एवं बौद्ध धर्म परम्परा का भी परस्पर गहरा सम्बन्ध विकसित होता है पूर्व मध्यकालीन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य इस पड़ाव का दिक्दर्शन कर सकते हैं। आगमिक तांत्रिक परम्परा का केन्द्रीय सिद्धान्त शक्ति की उसकी विशिष्ट अवधारणा है इसलिए शाक्त मत क परिप्रक्ष्य में धार्मिक आन्दोलनों के इतिहास, ऐतिहासिक और सामाजिक पक्षा का अन्वेषण और सांस्कृतिक प्रतिफलन का आकलन आवश्यक हो जाता है। शाक्त मत की परीक्षा में भी देवीपुराण पर केन्द्रित अध्ययन की भी आवश्यकता है इस दृष्टि से यह विनम्र प्रयास किया जा रहा है।

देवीपुराण एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसके विवेचन से यह सिद्ध होता है कि इसका मूल स्थान बंगाल या उड़ीसा रहा होगा जो योगियों,

सिद्धों तथा तांत्रिको का विकास स्थल था। पुराण अपने पांच विषयों में अतिरिक्त भी सामान्य जनता के लिए आकर्षण का केन्द्र रहे और यही कारण है कि जैनियों तथा बौद्धो में भी अपने मत के प्रचार के लिए पुराणों की रचनाएँ थी। वह पुराणों के अतिरिक्त उपपुराणों की संख्या कम नहीं है औरआगम तथा तंत्र सम्प्रदाय में भी पुराणों की रचनाएँ की गयी जैसे देवी पुराण, विन्ध्य पुराण, कालिका पुराण तथा महाभागवत पुराण आदि।

पुराणों का मूल स्रोत वेद तथा उसके कर्मकाण्ड है। वहीं हम उषा के रूप में शक्ति की भी व्यवस्था सोच सकते है। कहीं-कहीं तो नाम आदि भी शक्ति के रूप में चित्रित है। अतः शाक्त-सम्प्रदाय या शक्ति पूजा जैसा कि स्पष्ट किया गया है, नवीन नहीं है। शक्तिपूजा में पर्व, उत्सव, मण्डप-निर्माण, राजाश्रय, संरक्षण आदि ऐसे अवसर हैं जिनके द्वारा हम संस्कृति तथा सामाजिक व्यवस्था के विषय में सामग्री प्राप्त कर सकते हैं। देवीपुराण में भी इन सभी विद्याओं तथा कृतियों का उल्लेख है जिनके विषय में शोध प्रबन्ध में विस्तृत चर्चा की गयी है।

शाक्त मत के साथ ही अन्य मतों का विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है जो एक प्रचलित परम्परा को ठीक से समझने के लिए आवश्यक है। साधना की सभी प्रक्रियाओं का कैसे प्रारम्भ होता है और जिस प्रकार उनका विकास होता है उसका सम्पर्क विवेचन शोध-प्रबन्ध में

किया गया है। प्रारम्भ में जिन प्रक्रियाओं का समावेश नहीं था, वह काल-क्रम से माना गया है और फलतः उसने ऐतिहासिक विकास का रूप ले लिया। देवीपुराण में इन्ही परम्पराओं को आगे बढ़ाते हुए कुछ उत्सवों तथा निर्माणों का उल्लेख है जिसका विवेचन किया गया है।

अवतारों का वर्णन इन्द्रध्वज निर्माण विधि, भाग्य, महिमा, नीति का वर्णन, महानवमी-पूजा-विधान, देवी होम-विधान, कुण्ड-निर्माण-विधि, प्रतिमा-निर्माण, स्थयामा महोत्सव, ध्वज-निर्माण, पूर्णिमा-अमावस्या विचार, ग्रहण-विचार, शूद्रों तथा स्त्रियों द्वारा देवी की पूजा का विधान, पुराण पूजन विधि तथा वाचन फल आदि का विस्तृत विवरण इस पुराण थी। महत्ता के सूचक है क्योंकि इनमें वर्णित सभी ववरिण आज की समाज मेंप्रचलित है और उनका जीवन्त प्रमाण भारतीय समाज में देखा जा सकता है। अमावस्या तथा पूर्णिमा विचार इस तथा के द्योतक है कि वैदिक काल आदर्श-पूरा विकास योग किसी न किसी रूप में आज भी जीवित है।

इस प्रकार यह पुराण अनेक ऐतिहासिक तथा सामाजिक मान्यताओं का प्रतिपादन करता है जो किसी समाज की भांति धर्मिक आस्था तथा विकास क्रम का पूरा परिचय देने में समर्थ है। प्रस्तुत शोध में वहीं विषयों का विस्तृत तथा प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. अर्ली हिस्ट्री आफ द वैष्णव सेक्ट, डॉ0 के हेमचन्द्र राय चौधरी, कलकत्ता 1920।

2. अग्निपुराण- अनुवादक तारिणीश झा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग-1986।

3. इन्ट्रोडक्शन आफ पाञ्चरात्र, डॉ0 एफ. ओ. श्रेडर, आड्यार लाइब्रेरी ऐण्ड रिसर्च सेन्टर, द्वितीय संस्करण-1973।

4. इन्ट्रोडक्शन आफ तन्त्र-शास्त्र-सर जॉन वुडरफ, गनेश ऐण्ड कं0, मद्रास-17, 1980।

5. ऋग्वेद-योगेश्वर गुरु-गंगेश्वर चैरिटेबल ट्रस्ट, तुलसी निवास, डी-रोड, चर्च गेट बम्बई-20, विक्रमाब्द-2048।

6. कश्मीर शैविज्म-जे. सी. चटर्जी, कश्मीर सिरीज।

7. चतुवर्ग चिन्तामणिः हेमाद्रि विरचित, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी-द्वितीय संस्करण 1985।

8. जयाख्यसंहिता, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरिज, बड़ौदा-1931।

9. तान्त्राज स्टडीज आन देयर रिलीजन ऐण्ड लिटरेचर, चिन्ताहरण चक्रवर्ती, पुन्थी पुस्तक, कलकत्ता, द्वि0 सं0 1972।

10. धर्मसिन्धु, श्री वसिष्ठ दत्त मिश्र, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1968।

11. पादमसंहिता- श्रीमती सीता पद्मनाभन, डॉ0 आर. एन. सम्पत, भाग 1, 1974।

12. पाद्मसंहिता- श्रीमती सीता पद्मनाभन, डॉ0 बी. बरदाचारी भाग 2, पाञ्चरात्र परिशोधन परिषद्, मद्रास-5, 1982।

13. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य- भामती सहित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

14. बोधिचर्यावतार- शान्ति देव बौद्ध आकर ग्रन्थमाला, काशी अनु0- डॉ0 राम निवास तिवारी, तारा प्रेस, वाराणसी, 1992।

15. भागवत् पुराण- पं0 दौलताराम गौड़, ठाकुर प्रसाद एण्ड सन्स, बुक्सेलर, राजादरवाजा, वाराणसी।

16. भारतीय दर्शन का इतिहास- डॉ0 एस. एन. दास गुप्ता।

17. भागवत सम्प्रदाय- पं0 बलदेव उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

18. भारतीय दर्शन- पं0 बलदेव उपाध्याय- शारदा मन्दिर, रवीन्द्रपुरी, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, 1971।

19. मनुस्मृति- डॉ0 जे. एच. दवे, भारतीय विद्या भवन बाम्बे, 1972।

20. महाभारत- डॉ0 जीवन्याय तीर्थ, सनातन शास्त्र प्रकाशन, दिल्ली, 1983।

21. मार्कण्डेय पुराण- पं0 गौरीनाथ शास्त्री, इन्स्टी. फार पुराणिक एण्ड वैदिक स्टडीज ऐण्ड रिसर्च, नैमिषारण्य, सीतापुर, 1985।

22. याज्ञवल्क्य स्मृति- डॉ0 उमेश चन्द्र पाण्डेय, काशी संस्कृत सीरिज, वाराणसी, सं0 1950।

23. रघुवंश- कालिदास, कालिदास ग्रन्थावली, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

24. वाल्मीकि रामायण- गीताप्रेस, गोरखपुर।

25. विष्णु पुराण- गीताप्रेस, गोरखपुर।

26. वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म- डॉ0 आर. जी. भण्डारकर, दिल्ली, 1965।

27. वाक्यपदीय- भर्तृहरि- के. एम. सुब्रमण्यम्, अय्यर, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1983।

28. शतपथ ब्राह्मण- डॉ0 बी. बी. चौबे, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली-7, 1989।

29. सिद्धांत कौमुदी- भट्टोजि दीक्षित, मोतीलाल, बनारसीदास, दिल्ली, 1971।

30. सांख्यकारिका तत्त्वकौमुदी- डॉ0 रमाशंकर त्रिपाठी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

31. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र- डा0 पी. वी. काणे, हिन्दी अनुवाद, उत्तर प्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

32. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर, विन्टरनित्ज, कलकत्ता।

33. हिस्टोरिकल एण्ड कल्चरल स्टडीज इन दी पुराणज, प्रो0 एस. एन. राय पुराण पब्लिकेशन, इलाहाबाद, प्र.स. 1978।

34. हिन्दू धर्म कोष, डॉ0 राजबली पाण्डेय, हिन्दी संस्थान, प्रयाग, 1978।

35. श्रीमद् भगवद् गीता- हिन्दू विश्वविद्यालय- डॉ0 बी. एस. अग्रवाल, 1962।

36. स्टडीज इन द उपपुराणाज, डॉ0 आर. सी. हाजरा।

शक्तिवाद से सम्बन्धित ग्रन्थ -

37. मंत्र और मातृकाओं का रहस्य, वाराणसी, 1966, शिवशंकर अवस्थी।

38. भारतीय वाड्.मय में सीता का स्वरूप, इलाहाबाद-1974, कृष्णदत्त अवस्थी।

39. देवी माहात्म्य, ग्लोरी फिकेशन आव दि गाडेस, वाराणसी, 1963, वी. एस. अग्रवाल।

40. मदर-राइट इन इण्डिया, हैदराबाद-1941, ओ. आर. इरनफेल्स।

41. भारतीय वाङ्.मय में श्री राधा, पटना-1963, बलदेव उपाध्याय।

42. हिम्स् टु दि गोडेस, लन्दन, 1913, ए. एवलान।

43. तान्त्रिक वाङ्.मय में शाक्त दृष्टि, पटना 1978, गोपीनाथ कविराज।

44. शक्तिकल्ट इन ऐन्श्येण्ट इण्डिया, वाराणसी-1974, पुष्पेन्द्र कुमार।

45. श्री राधा का क्रमिक विकास, वाराणसी-1956, शशिभूषण दास गुप्त।

46. शक्ति और डिवाइन पावर, कलकत्ता-1934, एस. के. दास गुप्त।

47. दी मदर गोडेस, पूना, 1941, एस. के. दीक्षित।

48. दी ग्रेट मदर, लन्दन, 1955, ईरिच न्यूमान।

49. दी शाक्ताज, कलकत्ता, 1933, ए अर्नेस्ट पैन।

50. दि मदर्स, तीन भाग में, लन्दन, 1952 एवं लघु संस्करण 1959, राबर्ट ब्रिफाल्ट।

51. दि इण्डियन मदर गोडेस, दिल्ली-1977।

52. हिस्ट्री आव दी शाक्त रिलीजन, दिल्ली-1974।

53. प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा - गोविन्दचन्द्र राय, वाराणसी 1964।

54. स्टडीज इन देवी भागवत, बम्बई, पी. जी. लेले, 1973, बाम्बे पापुलर प्रकाशन- बम्बई।

55. शक्ति एण्ड एण्ड शाक्त, मद्रास, 1929, सर जान उड्रफ।

56. शक्ति तत्व दर्शन, नागदा - 1977, आर. पी. शर्मा।

57. आइकोनोग्राफी आव दी शक्ति, वाराणसी-1978, बलराम श्रीवास्तव।

58. मदरगोडेस-इन इण्डियन आर्ट, आक्रियोलाजी एण्ड लिटरेचर दिल्ली-1978- एम. सी. पी. श्रीवास्तव।

59. शक्तिवर्शिप एण्ड दी तारा कल्ट, कलकत्ता-1967, डी. सी. सरकार।

60. दी शाक्त पीठाज दिल्ली-1973, डी. सी. सरकार।

61. दि कल्ट आफ दी मदर गोडेस, लन्दन, 1959, इ. ओ. जैम्स।

62. ऐतिहासिक सन्दर्भ में शाक्त तन्त्र, एम. सी. जोशी, दिल्ली।

63. शाक्तप्रमोदः श्री राजदेवा नन्द सिंह, खेमराज श्री कृष्णदास, श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई-4, सन् 1984।

64. देवी रहस्यम्, रामचन्द्र काक तथा हरभट्ट शास्त्री, भूटाला पब्लिकेशन, जवाहर नगर, दिल्ली, 1985 संस्करण।

65. कालिकापुराण, श्री विश्वनारायण, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1972।

66. महाभागवतपुराण, डॉ. पुष्पेन्द्र कुमार, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, नयू चन्द्रवाल्स, दिल्ली-7, F.E. 1983।

67. बृहद्धर्मपुराण, म.म. हर प्रसाद शास्त्री, चौखम्भा अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी द्वितीय संस्करण-1974।

68. शक्तिसंगम तंत्र, विनयतोष भट्टाचार्य, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज बड़ौदा, चार भाग में ।

69. वरिवस्या रहस्य, भास्करराय माखिन, सम्पादक सुब्रहाण्यशास्त्री, ए. के सीताराम शास्त्री, आडयार 1934 ।

70. ललिता सहस्रनाम, भास्करायप्रणीत, सं. डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान प्र.स. 1989 ।

71. परशुराम कल्पसूत्रम्, ए. महादेव शास्त्री, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज बड़ौदा, द्वि.सं. 1950 ।

72. डाक्ट्रीन आफ शक्ति इन इण्डियन लिटिरेचर, पी. सी. वागची, प्रकाशित जी चक्रवर्ती, 31 Tollygunge Road Calcutta-1940.

73. देवीपुराणम्, सम्पादक, डॉ0 पुष्पेन्द्र कुमार शर्मा, श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली ।

74. देवीभागवत पं0 दौलतराम गौड़, ठाकुर प्रसाद एण्ड बुक्सेलर, राजादरवाजा, वाराणसी ।

पत्र एवं पत्रिकाएँ:

न्यू इण्डियन एण्टीक्वेरी

जर्नल आफ गंगानाथ झां - इलाहाबाद

समाज धर्म एवं दर्शन - इलाहाबाद

कल्याण शक्ति विशेषांक गीताप्रेस, गोरखपुर

'पुराण पत्रिका' आल इण्डिया काशीराज न्यास, रामनगर, वाराणसी

55. शक्ति एण्ड एण्ड शाक्त, मद्रास, 1929, सर जान उड्रफ ।

56. शक्ति तत्व दर्शन, नागदा - 1977, आर. पी. शर्मा ।

57. आइकोनोग्राफी आव दी शक्ति, वाराणसी-1978, बलराम श्रीवास्तव ।

58. मदरगोडेस-इन इण्डियन आर्ट, आक्रियोलाजी एण्ड लिटरेचर दिल्ली-1978- एम. सी. पी. श्रीवास्तव ।

59. शक्तिवर्शिप एण्ड दी तारा कल्ट, कलकत्ता-1967, डी. सी. सरकार ।

60. दी शाक्त पीठाज दिल्ली-1973, डी. सी. सरकार ।

61. दि कल्ट आफ दी मदर गोडेस, लन्दन, 1959, इ. ओ. जैम्स ।

62. ऐतिहासिक सन्दर्भ में शाक्त तन्त्र, एम. सी. जोशी, दिल्ली ।

63. शाक्तप्रमोदः श्री राजदेवा नन्द सिंह, खेमराज श्री कृष्णदास, श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई-4, सन् 1984 ।

64. देवी रहस्यम्, रामचन्द्र काक तथा हरभट्ट शास्त्री, भूटाला पब्लिकेशन, जवाहर नगर, दिल्ली, 1985 संस्करण ।

65. कालिकापुराण, श्री विश्वनारायण, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1972 ।

66. महाभागवतपुराण, डॉ. पुष्पेन्द्र कुमार, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, नयू चन्द्रवाल्स, दिल्ली-7, F.E. 1983 ।

67. बृहद्धर्मपुराण, म.म. हर प्रसाद शास्त्री, चौखम्भा अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी द्वितीय संस्करण-1974 ।

The University Library
ALLAHABAD
Accession No. 563665
Call No. 3774-10
4205
Presented by